॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

४८

श्री ऑर्थर एण्टनी मैक्डोनल द्वारा प्रणीत

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रथम भाग

वैदिक युग

अनुवादक

श्री चारुचन्द्र शास्त्री, एम्. ए.

चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

MUNSHI RAM MANOHAR LAL
Oriental & Foreign Book-Sellers,
P. B. 1165, Nai Sarak, DELHI-6

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०१९

मूल्य : ७-५०

Phone : 3076

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

48

A HISTORY OF SANSKRIT LITERATURE

BY

A. A. Macdonell

Translated into Hindi

BY

Śrī Chāruchandra Śāstri, M. A.

PART ONE

VEDIC PERIOD

THE

CHOWKHAMBA VIDYA BHAWAN

VARANASI-1

प्राक्कथन

संस्कृत साहित्य एक महान् वटवृक्ष है, वेद उसका मूल है, ब्राह्मण और आरण्यक उसके तने हैं; रामायण, महाभारत और पुराण उसका परिपुष्ट मध्यभाग है जिसके ऊपर विविध दर्शन, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्व-विद्या, वास्तुशास्त्र आदि भौतिक ज्ञान-विज्ञान को पल्लवित करने वाली बहुमुखी शाखाएं हैं। इसी कारण, संस्कृत साहित्य का अनुसन्धान हर युग और हर देश के विद्वानों के लिये मानव-जीवन के सकल लक्ष्य की सर्वाङ्गीण सिद्धि के लिये सर्वदा सफल प्रयास सिद्ध हुआ है। संस्कृत साहित्य विश्व का सर्व प्राचीन साहित्य है; और ऋग्वेद विश्व-साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। 'जो वेद में है वही सर्वत्र है और जो वेद में नहीं, वह कहीं भी नहीं'—यह सदुक्ति सर्वथा चरितार्थ है। इस साहित्य का कलेवर इतना पुरातन होते हुए भी आजतक दृढ एवं बद्धमूल है। अनेक सदियों के बीत जाने पर भी इसका उत्तरोत्तर प्रसार अव्याहत गति से होता रहा है, और इसकी शाखा-प्रशाखाएँ इतनी विस्तृत हो चुकी हैं कि प्रत्येक अपने अपने पीवर अङ्गों एवं उपाङ्गों के कारण स्वतन्त्र सत्ता बनाये हुए है। कालक्रमानुसार परिवर्धमान संस्कृत साहित्य का आयाम इतना विस्तृत हो चुका है कि इसकी प्रत्येक शाखा के उद्गम एवं प्रसार की पूर्वापरता का निर्णय करना आज अनुसन्धान का एक प्रमुख, परन्तु कठोर, विषय बन गया है। कठोरता का मुख्य कारण यह है कि आमुष्मिक चरम सुख की अवाप्ति के प्रधान लक्ष्य को रखनेवाले भारतीय मनीषियों ने ऐहिक प्रतिष्ठा को सदा गौण समझ, विविध साहित्यिक रचनाओं के निर्माण से प्रसूत कीर्त्ति को नगण्य मानते हुए अपने और अपनी रचना के देश-काल के सम्बन्ध में सदा मौन का अवलम्बन किया है। परिणाम यह हुआ कि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के देश-काल तथा परस्पर पूर्वापरता के सम्बन्ध में निर्णय तत्प्रतिपादित विचारों के विकासक्रम तथा भाषा के प्रतियुग सहज परिवर्तनशील स्वरूप के आधार

पर विहित अनेक ऊहापोह द्वारा साधित अनुमितिमात्र हैं; और वे प्रतिदिन उपलभ्यमान नये नये पुरातत्त्वों के आलोक में स्वरूपगत परिवर्त्तन के सर्वथा सहिष्णु हैं।

इस दिशा में प्रथम प्रयास संस्कृत साहित्य की ओर अभिनिवेश से अनुप्राणित पाश्चात्य विद्वानों ने प्रस्तुत किया, और उनके अविश्रान्त अनुसन्धानों के फलस्वरूप न केवल विविध भाषा एवं विभाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का ही उपक्रम हुआ, अपि तु कहीं दूर दूर तक प्रसृत संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं का मूल से सम्बन्ध स्थापित कर प्रत्येक प्ररोह के अनुक्रम का निर्धारण करते हुए परस्पर श्रृङ्खलित करने वाले साहित्यिक इतिहास का भी प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः, ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य का अध्ययन पाश्चात्य मनीषियों की ही देन है जिन्होंने न केवल ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों के ही तिथिक्रम को सिद्ध करने की चेष्टा की है अपि तु तत्कालीन समाज की सभ्यता एवं संस्कृति के स्वरूप एवं विकास के विभिन्न सोपान को भी स्थिर करने का सफल प्रयत्न किया है। पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृत साहित्य-सम्बन्धी अनुसन्धानों के बल समग्र मानव जाति की सभ्यता एवं संस्कृति के ऐतिह्य की रूपरेखा अङ्कित की जा सकी, और भारतीय सभ्यता की प्राचीनता एवं अनुपम गरिमा भी विश्व के समक्ष स्पष्ट रूप से प्रकट हुई। ईसवी १८वीं शताब्दी में पाश्चात्य पण्डितों का संस्कृत साहित्य की ओर आकर्षण हुआ; और तब से लगातार पश्चिम के विद्वान् संस्कृत वाङ्मय की विविध शाखाओं का अध्ययन करते रहे, और समय समय पर वहाँ के विद्वत्समाज के हित संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद तथा वैज्ञानिक संस्करण एवं आलोचनात्मक निबन्ध भी प्रकाशित करते रहे। इन मनीषियों ने दुरवगाह संस्कृत साहित्य का मन्थन कर वेद, व्याकरण, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र जैसे मौलिक विषयों पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला; तथा संस्कृत साहित्य में सुगम प्रवेश के हेतु व्याकरण, शब्द-कोश तथा भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। साथ ही साथ उन्होंने सुदीर्घ-काल से प्रचलित इस साहित्य की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ क्रमबद्ध इतिहास को उपस्थित करने की उत्साहपूर्वक चेष्टा की। इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय और उसमें प्रतिबिम्बित भारतीय प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहासकारों में आचार्य मैक्स म्यूलर, श्रेडर, श्लेगल, वेबर ने महनीय मौलिक प्रयास किया;

परन्तु इन मनीषियों का यह भव्य प्रयास अपनी अपनी अभिरुचि के अनुसार प्रायशः एकाङ्गी रहा और समग्र साहित्य की परिपूर्ण रूपरेखा किसी एक प्रबन्ध में प्रस्तुत करने की कमी बहुत समय तक बनी रही। इसी कमी का अनुभव करते हुए आचार्य आर्थर एण्टनी मैक्डोनल ने एक सुगम सुबोध संस्कृत साहित्य के इतिहास का प्रणयन किया। आचार्य मैक्डोनल एक महान् अध्यवसायी कर्मठ विद्वान् हुए जिन्होंने अपनी प्रतिभा का सदुपयोग संस्कृत व्याकरण, वैदिक पदानुक्रमणी तथा शब्दकोश के निर्माण से लगा कर संस्कृत साहित्य के इतिहास की रचना तक बड़ी सावधानी से किया। उनके इन उदार प्रयासों के कारण आज का संस्कृत अध्येता उनका सदा कृतज्ञ एवं अधमर्ण है। यद्यपि आचार्य मैक्डोनल के पूर्वाचार्यों ने भी संस्कृत वाङ्मय के इतिहास पर अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं, तथापि मैक्डोनल कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' कहीं अधिक व्यापक एवं प्रामाणिक होते हुए अन्त्यन्त सुबोध है। इसी कारण मैक्डोनल की इस कृति की उपादेयता अधिक सिद्ध हुई, और आज भारत का कोई विश्वविद्यालय ऐसा नहीं जहाँ इसने पाठ्य-क्रम में स्थान न पाया हो, और न आज का कोई संस्कृत स्नातक ऐसा है जिसने मैक्डोनल के संस्कृत साहित्य के इतिहास का अध्ययन न किया हो। इस ग्रन्थ की इतनी उपादेयता एवं पाठक-प्रियता होते हुए भी आज तक, दुर्भाग्यवश, यह अनमोल ग्रन्थ केवल अङ्ग्रेज़ी भाषा से अभिज्ञ छात्रों की परिमित सीमा तक ही अध्येताओं को लाभान्वित कर सका। आज हमारे देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है; और हिन्दी के ही माध्यम से सर्वत्र शिक्षा का उपक्रम प्रस्तुत है। ऐसी अवस्था में अंग्रेज़ी भाषा द्वारा प्रणीत प्रकृत ग्रन्थ का उपयोग सकल छात्रवृन्द सहज कर सकें इसी हेतु इसका हिन्दी अनुवाद नितान्त अपेक्षित है। इसी अपेक्षा की पूर्त्ति के उद्देश्य से हिन्दी रूपान्तर कर आचार्य मैक्डोनल के इस अनर्घ ग्रन्थ को सर्वसाधारण के उपयोग के योग्य बनाने की चेष्टा की गई है। तत्रापि, अनुवाद करते समय प्रारम्भिक अध्येताओं की अपेक्षाओं का विशेष ध्यान रखा गया है। प्रस्तुत रूपान्तर सर्वत्र प्रतिपद अनुवाद नहीं है, परन्तु आचार्य मैक्डोनल के वक्तव्य को यथाबल् पाठक के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयास है। यत्र-तत्र मूल लेखक ने प्रतिपाद्य विषय के निदर्शन के लिये वैदिक संहिता एवं उपनिषदों के अनेक

उद्धरण अङ्ग्रेज़ी में पद्यबद्ध अनूदित कर स्थान स्थान पर दिये हैं। मूल ग्रन्थ को पढ़ने वाले छात्र उद्धृत अंशों के मूल पाठ से परिचित नहीं हो पाते, और अङ्ग्रेज़ी पद्य सहज कण्ठस्थ भी नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में छात्र उन मूल उद्धरणों को अपेक्षित स्थानों पर उल्लिखित करने में असमर्थ ही रहते हैं। इस कठिनाई को दूर करने के उद्देश्य से मूल ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत, अङ्ग्रेज़ी में अनूदित अंशों के स्थान पर मूल मन्त्रों का पाठ ही दे कर छात्रों के बोध के लिए टिप्पणी में उन मन्त्रों का अर्थ हिन्दी में दिया गया है। हिन्दी में मन्त्रों का वही अर्थ किया गया है जो आचार्य मैक्डोनल को अभिप्रेत है यद्यपि हमारे प्राचीन भाष्यकार सायण द्वारा किये हुए अर्थ से वह बहुधा विभिन्न है। रूपान्तरकार को मूलग्रन्थ का विधेय होकर ही रहना होता है, और अनूदिता ने अवधानपूर्वक इस उत्तरदायिता के वहन करने का पूर्ण प्रयत्न किया है; साथ ही साथ अपेक्षित स्थलों पर आचार्य सायण द्वारा विहित अर्थ का उल्लेख भी तुलनात्मक अध्ययन में सौकर्य-सम्पादन की दृष्टि से किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में मूल ग्रन्थकार के द्वारा सङ्कलित सन्दर्भग्रन्थ की सूची का भी विषयानुसार अनुच्छेदों में विभाग कर हिन्दी रूपान्तर परिशिष्ट में दे दिया है। पाश्चात्य विद्वानों और तत्प्रणीत ग्रन्थों के नाम को देवनागरी लिपि में रूपान्तरित करने में मूल भाषा में प्रचलित वर्णोच्चारण की प्रक्रिया का यथासम्भव समादर किया है। इसके अतिरिक्त अध्येता को संस्कृत साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली मुख्य मुख्य घटनाओं के तिथि-क्रम से सहज परिचय कराने तथा विभिन्न तिथियों को स्मरण रखने में सहायता देने के लिये मुख्य तिथि-क्रम को भी परिशिष्ट के अन्तर्गत किया है। इससे पूर्व, निदर्शन के रूप में उद्धृत वेद तथा अन्य ग्रन्थों के उद्धरणों की सूची भी साथ दी है। इन उपकरणों से अध्येता को अपने लक्ष्य को सिद्ध करने में, आशा है, अवश्य सहायता प्राप्त होगी।

आचार्य मैक्डोनल ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में संस्कृत वाङ्मय को प्रमुखरूप से दो युगों में विभाजित किया है — एक, *वैदिक युग*, जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् तथा सूत्रों के निर्माण सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवेचन पहिले नो अध्याय में किया गया है; और

दूसरा, *संस्कृत युग*, जिसमें संस्कृत के लौकिक साहित्य के इतिहास की चर्चा शेष सात अध्यायों में की गई है। ये दोनों भाग दो भिन्न भिन्न युगों की विचार धारा के ऐतिह्य से सम्बन्ध रखते हैं; और क्रमिक परम्परा के रूप में परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से अवस्थित हैं। वैदिक युग के इतिहास का अध्ययन प्रायशः स्नातकोत्तर परीक्षा के पाठ्यक्रम में निर्धारित है, तथा उपस्नातकों के लिये लौकिक संस्कृत साहित्य के इतिहास से ही परिचय पर्याप्त समझा जाता है। इस तरह आज अध्येताओं के दो कक्ष बन गये हैं; और एक वर्ग के अध्येता के लिये एक ही युग के साहित्य के इतिहास की सामान्यतः अपेक्षा प्रतीत होती है। उसे अपेक्षित वस्तु अपेक्षाकृत स्वल्पमूल्य में प्राप्त हो इसी उद्देश्य से वैदिक-युग एवं संस्कृत-युग नामक दो पृथक् भागों में आचार्य मैक्डोनल के संस्कृत साहित्य के इतिहास को विभाजित कर अध्येताओं के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

आशा है, मैक्डोनल कृत संस्कृत साहित्य के इतिहास के प्रथम भाग, *वैदिक युग* का यह सर्वोपकरण से सनाथ हिन्दी रूपान्तर अध्येताओं के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

श्री रामनवमी
वि० सं० २०१८

चारुचन्द्र शास्त्री।



आचार्य आर्थर एण्टनी मैक्डौनल

[जन्म-तिथि— ११ मई १८५४ ई.]

संस्कृत विभागाध्यक्ष, एवं बोडेन प्रोफ़ेसर,

ऑक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय।

भूमिका

[मूल लेखक द्वारा प्रस्तुत]

निस्सन्देह, यह एक अजीब सी बात है कि समूचे संस्कृत साहित्य के इतिहास पर आज तक अंग्रेज़ी में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में वास्तविक गुण हैं; इतना ही नहीं — वह हमारे भारतीय राज्य की जनता के जीवन एवं विचारों पर प्रभूत प्रकाश डालता है — इस दृष्टि से भी वह साहित्य ब्रिटिश राष्ट्र के लिए सविशेष अभिरुचि का विषय है। उक्त विषय से पर्याप्त परिचय न होने के कारण, यहाँ के अनेक तरुण, जो प्रतिवर्ष भारत के भावी प्रशासक बनने के लिए समुद्र तरण करते हैं, वहाँ के उस साहित्य के विषय में क्रमबद्ध परिचय से वञ्चित ही रहते हैं जिसमें आधुनिक भारतीय सभ्यता का अपने मूल स्रोतों से पारम्परिक सम्बन्ध अन्तर्निहित है और जिसके ज्ञान के विना भारतीय सभ्यता भली-भाँति समझी नहीं जा सकती। इसी कारण, मैं ने श्री गॉस के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करते हुए "विश्व-साहित्य-माला" के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रन्थ को तैय्यार करने का विचार किया। कारण, यह वह सुअवसर था जिसके द्वारा बीस वर्ष से भी अधिक अविच्छिन्न अध्ययन-अध्यापन के फलस्वरूप प्रतिदिन एधमान मेरी अभिरुचि के विषय पर मैं कुछ परिचयात्मक सामग्री जनता के समक्ष उपस्थित कर सकता था।

आचार्य मैक्स म्यूलर का 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' केवल वैदिक युग ही की चर्चा तक सीमित है, और वह भी बहुत समय से पुनः प्रकाशित न हो पाया है। वस्तुतः उक्त ग्रन्थ की प्रकाशन तिथि से आज इन चालीस वर्षों में वैदिक वाङ्मय के विषय में बहुमूल्य गवेषणाएँ हो चुकी हैं। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज़ पाठक को सामान्यतः संस्कृत साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में आज से

लगभग अर्धशताब्दी पूर्व आचार्य वेबर द्वारा बर्लिन में दिए हुए **'भारतीय साहित्य पर पाठशालीय प्रवचन'** के अनुवादमात्र पर निर्भर रहना पड़ता है'। इस ग्रन्थ में अनेक एवं बहुत लम्बे-लम्बे टिप्पण दिये हुये हैं, जो मूल ग्रन्थ के प्रकाशन की तिथि से अगले २५ वर्ष की अवधि में किये अनुसन्धान के परिणाम हैं। वस्तुतः ये टिप्पण ई० सन् १८५२ में प्रकाशित मूल (अपरिवर्त्तित) ग्रन्थ में दी हुई कई उक्तियों को कहीं परिवर्त्तित, तो कहीं अपास्त करते हैं — परिणाम यह होता है कि पाठक एक अजीब सी भूल-भुलैय्या में चक्कर काटने लगता है। वेबर द्वारा प्रणीत उक्त ग्रन्थ के पूर्वोक्त अनुवाद के साथ सटिप्पण संस्करण के प्रकाशन की तिथि ई० सन् १८७८ है, और तब से संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं के विषय में बहुत कुछ नवीन आलोक प्राप्त हो चुका है। अत एव ये टिप्पण साधारण अध्येता की आवश्यकताओं के अनुरूप किसी तरह नहीं हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य पाठक की आवश्यकताओं को पूर्त्त करने वाला एतद्विषयक एक ही ग्रन्थ है — सर मोनियर विलियम्स कृत **'भारतीय ज्ञान'**। यद्यपि इस ग्रन्थ में साहित्यिक कतिपय निदर्शनों के अनुवाद के अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय की मुख्य-मुख्य शाखाओं का कुछ परिचयात्मक विवरण अवश्य है, तथापि, दर असल वह भी 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' कहा नहीं जा सकता। ऐसी दशा में संस्कृत साहित्य के इतिहास पर एक ग्रन्थ की आवश्यकता इस देश में दो दृष्टि से प्रतीत होती है: एक, यहाँ के पाठक को आज तक भारतीय साहित्य पर किये हुए अनुसन्धानों के परिणामों का सही-सही स्फुट विवरण प्रस्तुत करने वाला एक निर्देशक चाहिये; और दूसरी यह कि संस्कारसम्पन्न अंग्रेज़ अध्येता को एक ऐसे ग्रन्थ की चाह है जो सुबोध एवं रोचक रूप में भारतीय साहित्य का ऐसा विवरण दे जिस ओर हमारी, भारत के साथ हमारे निकट सम्बन्ध के कारण, सविशेष अभिरुचि होना साहजिक है।

प्रस्तुत ग्रन्थमाला की परिधि में प्रकाशित ग्रन्थों के सीमित आयाम के कारण इस ग्रन्थ में विधि, विज्ञान एवं कला जैसे विशिष्ट

साहित्य का सम्पूर्ण विवरण देना सम्भव न हो सका। संस्कृत वाङ्मय का यह विभाग साधारण पाठक के लिये भी अत्यन्त उपादेय सामग्री से सुसम्पन्न है; तत्रापि, आशा है, परिशिष्ट में दिया हुआ संक्षिप्त विवरण भी अध्येता को तत्तद्विषय पर प्रामाणिक ग्रन्थों से अधिकांश परिचय करा देने के लिये पर्याप्त सिद्ध होगा।

प्रकृत ग्रन्थ के अन्त में सन्दर्भ-ग्रन्थों का उल्लेख किया है। यह सूची संक्षिप्त होते हुए भी पाठक की अपेक्षित जानकारी के लिये पर्याप्त है — यथा, सम्भावित तिथियों के लिये प्रमाण, जिनका मूल ग्रन्थ में यत्र-तत्र सङ्केतमात्र संक्षेप में दिया गया है।

संस्कृत साहित्य के इतिहास पर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना करते समय मैंने संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित प्राचीन भारतीय जीवन एवं विचारधारा की ओर विशेष ध्यान दिया है जो, सम्भवतः, युरोपीय साहित्य के इतिहास लिखने में इतना आवश्यक प्रतीत न होता। इसका कारण कुछ तो यह है कि संस्कृत साहित्य पाश्चात्य सभ्यता से अत्यन्त विविक्त सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता है अत एव इतर साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक तत्-प्रतिबिम्बित जीवन एवं विचारधारा के सुस्पष्ट विवरण की आवश्यकता रखता है। इसके अतिरिक्त एक और कारण यह भी है कि भारतीय संस्कृति की एक सविशेष रूप से अनुस्यूत परम्परा चली आ रही है जिसके आधार पर वर्त्तमान भारत की धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताएँ अतीत की सनातन सरणि की प्रतीक हैं।

आचार्य मैक्स म्यूलर तथा वेबर के उपर्युक्त प्रबन्धों के अतिरिक्त मैंने एल्. फन्. श्रेडर के अत्युत्तम प्रबन्ध, '**इण्डियेन्स लिटराटुर उण्ट कुल्टुर**' का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है। साथ ही साथ, परिशिष्ट [क] में दी हुई सन्दर्भ सूची में उल्लिखित समस्त ग्रन्थों से मैंने किसी न किसी रूप में लाभ अवश्य लिया है। शेष, जो भी कुछ मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में लिखा है, संस्कृत साहित्य के मेरे व्यक्तिगत अध्ययन पर आधारित है।

उदाहरण के रूप में दिये हुए समस्त उद्धरणों का मूलग्रन्थों से चयन मैंने बड़ी सावधानी से किया है। ऋग्वेद की ऋचाओं के अनुवाद में मैंने यत्र-तत्र एक दो पङ्क्ति अथवा शब्द-समूह का उपादान ग्रिफ़िथ महाशय के अनुवाद से किया है। प्रायशः, मेरा अनुवाद, अंग्रेज़ी छन्दों की मर्यादा से आबद्ध रहते हुए, मूल मन्त्रों से, जितना हो सकता है, निकट किया गया है।..................पद्यानुवाद करते समय मैंने अन्त्यानुप्रास से दूर रहने की बुद्धिपूर्वक चेष्टा की है ताकि मूल संस्कृत की छान्दस रचना-पद्धति के सम्बन्ध में कहीं भ्रान्ति उत्पन्न न हो।

... ...

... ...

प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण में मैं कॉर्पस क्रिस्ती कॉलेज के अध्यापक, मेरे मित्र, श्री एफ़. सी. एस. शिलर का आभारी हूं जिन्होंने दर्शन पर लिखे हुए अध्याय का अन्तिम प्राग्रूप देखते समय कतिपय सुझाव देकर मुझे अनुगृहीत किया है। इसी तरह मैं मेरे छात्र, बोडेन संस्कृत स्कॉलर तथा बेलियल के क्लासिकल स्कॉलर, श्री ए. बी. कीथ का भी अधमर्ण हूं जिसने प्रकाशन के समय समस्त प्राग्रूपों का बड़ी सावधानी से अवलोकन कर मुझे मुद्रण में अनेक प्रमादों से बचाया, और साथ ही साथ, विषय-पर्यालोचन के सम्बन्ध में भी अनेक अनर्घ परामर्शों द्वारा उपकृत किया है।

१०७, बनबरी मार्ग,

ऑक्सफ़र्ड,

दिसम्बर १, सन् १८९९ ई०।

ए. ए. मैक्डोनल।

ए. ए. मैक्डोनल

संस्कृत साहित्य का इतिहास

प्रथम भाग

वैदिक युग

विषयक्रम

॥ श्रीः ॥

संस्कृत साहित्य का इतिहास

वैदिक युग

॥ श्रीः ॥

संस्कृत साहित्य का इतिहास

अध्याय १

आमुख

साहित्यिक पुनर्जीवन के युग से आज तक संस्कृति के इतिहास में ऐसी कोई और विश्वव्यापी महत्त्व की घटना नहीं हुई जैसी १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संस्कृत साहित्य की खोज। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् ग्रीक जनता भारतीयों की विद्वत्ता से कुछ-कुछ परिचित हुई। मध्ययुग में अरबवासियों ने पश्चिम को भारतीय विज्ञान से परिचित कराया। १६वीं शताब्दी से लगाकर यूरप के कुछ पादरी न केवल भारत की प्राचीन भाषा के अस्तित्व से परिचित ही हो गये थे, अपितु उनका उस भाषा में सामान्य प्रवेश भी हो चला था। ईसवी सन् १६५१ में अब्राहम रोगर ने डच भाषा में संस्कृत कवि भर्तृहरि का अनुवाद भी प्रस्तुत किया था। तथापि आज से कोई १२० वर्ष पूर्व तक यूरप में संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार प्रामाणिक ज्ञान न था, परन्तु कहानियों द्वारा भारतवासियों के बुद्धि-वैभव की अस्पष्ट कल्पनाएँ मात्र थीं। वाल्टेयर ने इज़ूरवेदम् की ज्ञान की प्रशंसा करते हुए जो उत्साह अपने निबन्ध[1] में दिखाया वह वास्तव में अपरिपक्व था। यह 'इज़ूरवेदम्'

---

१. Essay sur les Moeurs et l' Esprit des Nations.

ग्रन्थ इस देश में भारत से प्राप्त हुआ था, जिसकी सूचना विगत शताब्दी के मध्य में उन्हें मिली थी। वास्तव में यह ग्रन्थ सत्रहवीं शताब्दी के किसी जेज़ुइट पादरी की कृत्रिम रचना थी। इस नकली ग्रन्थ के आधार पर प्रचलित मिथ्याग्रह वास्तविक संस्कृत साहित्य की प्राप्ति के पश्चात् भी वर्तमान शताब्दी तक फैला हुआ है। यों हम देखते हैं कि ड्यूगल्ड स्टीवर्ट नामक दार्शनिक ने एक निबन्ध प्रकाशित किया जिसमें यह प्रमाणित करने का प्रयास है कि न केवल संस्कृत साहित्य ही परन्तु संस्कृत भाषा भी अवास्तविक है। यह वहाँ के धूर्त ब्राह्मणों द्वारा सिकन्दर के विजय के पश्चात् ग्रीक आदर्शों को लेकर रचित प्रतिरूपमात्र है। सच मानिये कि इस दृष्टिकोण का विस्तार-पूर्वक समर्थन डब्लिन के एक आचार्य ने सन् १८३८ ई० में भी प्रकाशित किया है।

संस्कृत के अध्ययन के लिये हमें भारतीय प्रान्तों के शासन की व्यावहारिक आवश्यकताओं ने आदि प्रेरणा दी। उन दिनों वारेन् हेस्टिंग्ज़ भारत के प्रधान राज्यपाल थे; और उन्होंने यथासम्भव हिन्दुओं पर उन्हीं के धर्मशास्त्र एवं रूढ़ियों के अनुसार प्रशासन करने की महत्ता समझ, कतिपय ब्राह्मणों को भारत के प्रमुख धर्मशास्त्रों के आधार पर एक निबन्ध रचने का आदेश दिया। संस्कृत भाषा में रचित उक्त निबन्ध का फ़ारसी अनुवाद के माध्यम से अँग्रेज़ी रूपान्तर सन् १७७६ ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में न केवल संस्कृत लिपि के कुछ आदर्श ही उपस्थित किये गये हैं, अपितु प्राचीन भारतीय भाषा एवं साहित्य के सम्बन्ध में भी प्रामाणिक वर्णन है। उसके पश्चात् संस्कृत ग्रन्थों से यूरप को साक्षात् परिचय कराने का सफल प्रयत्न चार्ल्स विल्किन्स द्वारा किया गया। वारेन् हेस्टिंग्ज़ की प्रेरणा से उन्होंने बनारस में रहकर संस्कृत भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर ई० सन् १७८५ में भगवद्गीता का, और दो वर्ष पश्चात् हितोपदेश का अनुवाद प्रकाशित किया।

सर विलियम जोन्स (ई० सन् १७४६–९४) पश्चिम में संस्कृत अध्ययन के प्रसार करनेवाले मुख्य नेता थे। यही एक बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न संस्कृत के विद्वान् हुए जिन्होंने भारतवर्ष में ११ वर्ष के अपने निवास-काल में भारतीय पुरातन विद्याओं के अध्ययन में अभिरुचि को संस्कृत-साहित्य के अध्यवसाय द्वारा जाग्रत किया, जिसका मूर्त्तरूप सन् १७८४ में स्थापित एशियाटिक सोसाइटी की बङ्गाल शाखा है। उन्होंने बहुत ही शीघ्र संस्कृत भाषा का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और ई० सन् १७९८ में संस्कृत के

अनुपम नाटक शकुन्तला का अनुवाद प्रकाशित किया, जिसका बड़े चाव के साथ अभिनन्दन हर्डर तथा गेटे जैसे मार्मिक विद्वानों ने किया। इसके पश्चात् जोन्स ने संस्कृत धर्मशास्त्रों में प्रमुख मनुस्मृति का अनुवाद किया। सर विलियम जोन्स ही प्रथम विदेशी विद्वान् थे जिन्हें किसी संस्कृत ग्रन्थ को स्वयं सम्पादन कर प्रकाशित करने का आदि श्रेय प्राप्त हुआ था। यह ऋतुसंहार नामक खण्ड-काव्य था जो सन् १७९२ ई० में प्रकाशित हुआ।

इसके पश्चात् हम हेनरी टॉमस् कोलब्रुक (ई० सन् १७६३–१८३७) का उल्लेख करते हैं। कोलब्रुक एक अद्भुत परिश्रम करनेवाले विद्वान् हुए जिनमें अत्यन्त विशद बुद्धि एवं सन्तुलित समीक्षा की क्षमता का दुर्लभ समन्वय था। वही एक पण्डित हैं जिन्होंने सबसे पहले संस्कृत भाषा एवं साहित्य को वैज्ञानिक ढङ्ग से हाथ में लिया और लगभग संस्कृत विद्या की हर शाखा से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों के अनुवाद और उनपर निबन्ध प्रस्तुत किये। परवर्ती विद्वानों के द्वारा संस्कृत विद्या के प्रसार की वास्तविक नींव ही उन्होंने डाली थी।

इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जिन दिनों कोलब्रुक भारत में अपने साहित्यिक अध्यवसाय का उपक्रम कर रहे थे, युद्ध की लीलाओं ने समग्र यूरप में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी प्रचलित की थी। एलेक्ज़ेन्डर हमिल्टन (ई० सन् १७६५–१८२४) एक अँग्रेजी विद्वान् हुए जिन्होंने भारत में रहकर संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। लौटते समय ई० सन् १८०२ में वे जब फ्रान्स से गुजर रहे थे उन्हीं दिनों युद्ध का उपक्रम हुआ ही था और नेपोलियन के आदेशानुसार फ्रान्स में वर्तमान अँग्रेज़ अवरुद्ध हुए। इसी कारण हमिल्टन भी पेरिस में बन्दी हुए। इस प्रकार अनिच्छापूर्वक पेरिस में रहने की अवधि में उन्होंने कतिपय फ्रान्सीसी विद्वानों को संस्कृत भाषा सिखाई, जिनमें जर्मन साहित्यकार महाकवि फ्रेडरिक श्लेगल प्रमुख थे। इस अध्ययन के फलस्वरूप श्लेगल ने ई० सन् १८०८ में 'भारतीयों की भाषा एवं विज्ञान' पर अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ ने तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धति का श्रीगणेश कर भाषाविज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इस ग्रन्थ के द्वारा तुलनात्मक भाषाविज्ञान की आधारशिला का न्यास हुआ, जिसके आधार पर फ्रान्ज़ बॉप ने ग्रीक, लैटिन, फ़ारसी, और जर्मन भाषाओं के साथ तुलना करते हुए संस्कृत व्याकरण की शब्दरूपपद्धति पर ई० सन् १८१६ में अपना ग्रन्थ रचा। इसके सिवा श्लेगल के ग्रन्थ ने जर्मनी में संस्कृत अध्ययन को इतना प्रोत्साहित किया कि उस दिन से विद्या की इस शाखा की ओर

जो भव्य प्रगति हुई है उसका मुख्य कारण श्लेगल के साथियों का परिश्रम ही माना जा सकता है।

संस्कृत अध्ययन के इन प्रारम्भिक दिनों में यूरपवासी भारत की प्राचीन भाषा के उस विभाग से ही परिचित हुए थे जो भारतीय पण्डितों में विशेष प्रचलित होकर सामान्यतः लौकिक साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। परिणाम यह हुआ कि केवल लौकिक संस्कृत में रचित साहित्य की ओर ही विद्वानों का ध्यान इस शताब्दी के मध्य भाग तक लगा रहा। यह सत्य है कि कोलब्रुक ने ई० सन् १८०५ में ही संस्कृत साहित्य के प्राचीन युग का महत्त्वपूर्ण परिचय अपने 'वेदों पर' नामक निबन्ध में दे दिया था। लगभग २५ वर्ष के बाद एफ़० रोज़ेन नामक जर्मन विद्वान् ने ईस्ट इण्डिया हाउस में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों के बहुमूल्य सञ्चय द्वारा यूरपवासियों को प्राचीन भारतीय साहित्य से अभिज्ञ कराने की योजना सोची, और उनके असामयिक निधन के कुछ दिनों बाद ही ई० सन् १८३८ में उनके द्वारा सम्पादित ऋग्वेद के प्रथमाष्टक का संस्करण प्रकाशित हो गया था। परन्तु वस्तुतः वैदिक विज्ञान के संस्थापक रूडॉफ़ रॉथ (ई० सन् १८२१–९५) ने सन् १८४६ में जब अपनी पुस्तिका 'वैदिक साहित्य एवं इतिहास' प्रकाशित की तब ही पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के अध्यवसाय को वैदिक साहित्य की दिशा में स्थायी प्रेरणा प्राप्त हुई। तब से बड़े उत्साह के साथ वैदिक साहित्य के अध्ययन का यूरप में प्रक्रम हुआ। साथ ही साथ उत्तरकालिक युग की रचनाओं की ओर भी इतना उत्साह जागरित हुआ कि पिछले ५० वर्षों में लगभग सभी महत्त्व के ग्रन्थों का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हो चुका है।

किए हुए काम के समूह को देखते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि विद्या के इतर क्षेत्रों में काम करने वालों की अपेक्षा इस साहित्य में लगे हुए लोगों की संख्या कम है जब कि वैदिक साहित्य का आयाम प्राचीन साहित्य के आजकल उपलब्ध समस्त ग्रन्थों के बराबर है। तथापि एक ही शताब्दी की अवधि में समस्त संस्कृत साहित्य खोज डाला गया जिसका परिमाण ग्रीस और रोम के मिलाकर समग्र साहित्य के बराबर है। इसका अधिकतर भाग सम्पादित हो चुका है और महत्त्व के अधिकतर ग्रन्थ सुयोग्य विद्वानों के द्वारा अनूदित भी हो चुके हैं। इन विद्वानों के उपयोगार्थ एक संस्कृत महाकोष भी उपस्थित है जिससे अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक ढंग से सङ्कलित कोष इन दोनों प्राचीन भाषाओं में नहीं है। संस्कृत साहित्य के हर विभाग में इतने अवान्तर अन्वेषण हो चुके हैं कि अब इन सब अनुसन्धानों के परिणाम को सङ्कलित कर एक व्यापक

ग्रन्थ का निर्माण अत्यन्त आवश्यक हो गया है। भारतीय आर्यपुरातत्त्व की समस्त शाखाओं को अन्तर्गत करते हुए एक विश्वकोष की रचना बृहत् परिमाण में आयोजित है। वह क्रमशः भागों में स्ट्रेट्सबर्ग से प्रकाशित हो रहा है। इस योजना में विविध राष्ट्र के लगभग ३० विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त है। उसके यशस्वी सम्पादक वीयेना के निवासी आचार्य ब्यूहलर की एप्रिल सन् १८९८ में दुःखद मृत्यु के कारण संस्कृत विद्वत्समाज को महती क्षति पहुँची है। उनके द्वारा प्रस्तुत यह कार्य इस समय भारतीय विद्या के एक और प्रकाण्ड पण्डित गेटिन्गिननिवासी आचार्य किल्हॉर्न द्वारा पूर्ण किया जा रहा है।

यद्यपि संस्कृत साहित्य का इतना अंश प्रकाशित हो चुका है तथापि यूरप एवं भारतवर्ष के ग्रन्थालयों में संगृहीत संस्कृत के असंख्य हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियाँ देखने से पता चलता है कि अभी भी अनेक छोटे ग्रन्थ प्रकाशन की राह देख रहे हैं जो किसी भी सम्पादक के परिश्रम को यथोचित पुरस्कृत करने के लिये समर्थ हैं।

संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन और अधिक ध्यान देने योग्य है। कारण, यह मानव जाति की वह प्राचीन सम्पत्ति (रिक्थ) है जिसमें हमारे भारतीय साम्राज्य के अधिकांश प्रजाजन हिन्दुओं की भाषाएं, धार्मिक एवं बौद्धिक जीवन तथा विचार अथवा यों कहिये समग्र सभ्यता का मूल ही निहित है। विश्व के समस्त प्राचीन साहित्यों में भारत का वाङ्मय आभ्यन्तर मूल्य एवं सौन्दर्य की दृष्टि से निःसन्देह केवल ग्रीक साहित्य से ही द्वितीय कहा जा सकता है। तथापि मानव जाति के विकास के अध्ययन का मूल स्रोत होने के कारण भारतीय वाङ्मय ग्रीक साहित्य की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट है। भारतीय साहित्य का प्रारम्भिक युग भी ग्रीक साहित्य की किसी भी रचना से निश्चय बहुत पुराना है। अत एव विश्व के किसी और साहित्यिक ग्रन्थ की अपेक्षा यह मानव जाति की प्रारम्भिक धारणा एवं धार्मिक विचारों के विकास का स्पष्ट चित्र उपस्थित करता है। निष्कर्ष यह हुआ—जिस तरह संस्कृत की उपलब्धि ने तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव रक्खी उसी तरह वैदिक साहित्य के परिचय ने तुलनात्मक प्राचीन कथाविज्ञान का एडलबर्ट कुहन तथा मेक्समूलर के द्वारा शिलान्यास करवाया।

यद्यपि अनेक शाखाओं में संस्कृत साहित्य ने उत्कृष्टता प्राप्त की है तथापि धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में इसका उत्कर्ष अत्यधिक है। भारोपीय परिवार में भारतीयों का ही ऐसा एक वर्ग है जिसने एक महान् राष्ट्रिय धर्म—ब्राह्मणधर्म,

एवं एक महान् विश्वधर्म—बौद्धधर्म को जन्म दिया। शेष जातियों ने इस क्षेत्र में किसी प्रकार मौलिकता न प्रदर्शित करते हुए अनादिकाल से परकीय धर्म का अनुसरण किया है। भारतीयों का बौद्धिक जीवन, वास्तव में किसी भी अन्य जाति की अपेक्षा, धार्मिक विचारों से अधिक प्रभावित रहा है। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने विविध दर्शन की भिन्न-भिन्न प्रणालिकाएँ परस्पर स्वतन्त्र रूप से प्रसारित कीं जो उनके दार्शनिक बुद्धि-वैभव की योग्यता का प्रमाण देती हैं। इन दो विषयों में प्रगति को देख, हमारी सविशेष अभिरुचि उनके सिद्धान्तों के कारण उतनी नहीं है जितनी इस बात से कि धर्म एवं दर्शन के विकास की हर सीढ़ी हम संस्कृत साहित्य में विद्यमान पाते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य का महत्त्व पूर्णतः उसकी मौलिकता के कारण है। प्रकृतिवश भारतवर्ष उत्तर की ओर महापर्वत के कारण आर्यों के अतिक्रमण के पश्चात् सदा ही शेष जगत् से पृथक् रहा। इसी कारण आर्य सभ्यता का एक विशेष रूप यहाँ तुरन्त फैल गया। तब से आज तक वही सभ्यता प्रवर्तमान है। उधर जब ग्रीक लोगों ने ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के अन्तिम भाग में वायव्य की ओर आक्रमण किया तब तक भारतीयों ने पूर्ण रूप से अपनी राष्ट्रिय सभ्यता वैदेशिक प्रभावों से अस्पृष्ट रख सुस्थिर कर ली थी। तत्पश्चात् लगातार बाह्य आक्रमण होने पर भी, क्रमशः पारसी, ग्रीक, सीथियन एवं मुसलमानों के बाद भी भारत में आयी हुई इस आर्य जाति के जीवन एवं साहित्य की राष्ट्रिय प्रगति सर्वथा अबाध और ब्रिटिश साम्राज्यकाल तक बाह्य प्रभावों से सदा अपरिवर्तित ही रही। भारोपीय परिवार की कोई और शाखा ऐसी नहीं जिसे इस प्रकार स्वतन्त्र विकास का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। चीन को छोड़कर और कोई भारत जैसा देश नहीं जो अपनी भाषा एवं साहित्य का, अपनी धार्मिक धारणा एवं विधियों का, अपनी सामाजिक एवं पारिवारिक रूढ़ियों का ३००० वर्ष से अधिक पूर्व समय से अव्याहत गति से विकास बतला सकता हो।

कतिपय उदाहरण भारतीय सभ्यता की अविच्छिन्न धारा को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त होंगे। आज भी संस्कृत उसी तरह सैकड़ों ब्राह्मणों द्वारा बोली जाती है जिस तरह ई० सन् से कई शताब्दियों पहले इसका प्रयोग होता था। साहित्य-रचना में भी संस्कृत का प्रयोग बन्द नहीं हुआ है, आज भी अनेक ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ इसी प्राचीन भाषा में प्रकाशित होती हैं। हस्त-लिखित संस्कृत ग्रन्थों की पाण्डुलिपि तैयार करने की प्रथा आज भी भारत के

सैकड़ों ग्रन्थागारों में प्रस्तुत है जो भी इस शताब्दी में मुद्रण की व्यवस्था पर्याप्त है। ठीक उसी तरह आज भी वेद कण्ठस्थ किये जाते हैं जैसे सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व होते थे ; और आज भी यही दशा है कि वेद की हर हस्तलिखित प्रति अथवा मुद्रित ग्रन्थ नष्ट हो जाने पर भी भारत के वैदिक समग्र संहिता को मुख-पाठ कह सकते हैं। अनादिकाल से प्रचलित सविता को सम्बोधित एक वैदिक मन्त्र (सावित्री) है जिसे आज भी प्रत्येक हिन्दू द्विज सन्ध्योपासना में जपता है। ३००० वर्ष से भी अधिक पूर्व काल से आराधित भगवान् विष्णु के आज भी असंख्य भक्त विद्यमान हैं। अतिप्राचीन काल की पद्धति के अनुसार आज भी यज्ञ-यागादि के अवसर पर अरणिमन्थन कर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। सामाजिक रूढ़ि के लिए एक ही उदाहरण देना पर्याप्त है — आज भी विवाहपद्धति उसी तरह प्रचलित है जैसी वह ईसा पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही है।

भारतीय साहित्य के दो युग

प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास स्वभावतः दो प्रधान युगों में विभाजित है—(१) वैदिक युग—जिसका प्रारम्भ सम्भवतः ईसा पूर्व १५०० वर्ष से लगाकर लगभग ईसा पूर्व २०० तक कहा जा सकता है। वैदिक युग के पूर्वार्द्ध में साहित्य का रूप रचनात्मक एवं काव्यमय रहा। उस समय संस्कृत का केन्द्र सिन्धु और उसकी सहचरी नदियों के मध्य वर्तमान पञ्चनद देश था। उत्तरार्द्ध में साहित्य का विषय ईश्वरवाद तथा अध्यात्मसम्बन्धी हो गया और वह अधिकांश गद्यरूप में रचित है। उस समय बौद्धिक जीवन का केन्द्र वहाँ से उठकर गङ्गा की तलहटी में बन गया था। इस तरह वैदिक युग में ही आर्य सभ्यता समग्र हिन्दुस्तान ख़ास में छा गयी थी। देश का यह वह भाग था जो सिन्धु नदी के उद्गम से लगाकर गङ्गा तक फैला हुआ, उत्तर में हिमालय से और दक्षिण में विन्ध्याद्रि से घिरा हुआ है। वैदिक साहित्य के अन्तिम अङ्कुरों के साथ साथ द्वितीय युग का प्रारम्भ हुआ जिसकी समाप्ति ई० सन् १००० के पश्चात् मुसलमानों के आक्रमण के साथ-साथ हुई। सच पूछो तो यही युग संस्कृतयुग कहा जा सकता है। एक दृष्टि से तो यह युग वर्तमान काल तक प्रचलित ही है। क्योंकि, संस्कृत भाषा में साहित्यिक रचनाओं—विशेषकर टीकाओं—का निर्माण इन दिनों भी अव्याहत रूप से चल रहा है। इस द्वितीय युग में ब्राह्मण धर्म दक्षिण प्रान्त

में भी प्रवेश पाकर सर्वत्र व्याप्त हो गया था। इन दोनों युगों की सङ्कलित रूप से गणना की जाय तो पता चलता है कि भारतीय साहित्य ने लगभग हर शाखा में उल्लेखनीय सिद्धि प्राप्त की है। वैदिक युग, ग्रीस के प्रारम्भिक युग से विपरीत, केवल धार्मिक साहित्य का ही उत्पादन करता रहा, परन्तु साथ ही साथ उसमें लय-ताल-बद्ध गीतिकाव्यों का भी गुणगौरव उत्कृष्ट कोटि का पाया जाता है। आगे चलकर इसी युग में गद्य शैली के प्रादुर्भाव की ओर साहित्य ने कुछ प्रगति की।

संस्कृत युग में सामान्यतः लौकिक विषयों पर रचना अधिक हुई, और साहित्य के अनेक प्रभेदों ने बड़ी महत्ता प्राप्त की है। लौकिक साहित्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतकाव्य, नाटक, कथा एवं आख्यायिकाएँ अनेक हैं। हर जगह हमें काव्य का निखरा रूप दीख पड़ता है मगर कहीं-कहीं शैली की दुरूहता तथा प्रतिदिन वर्धमान कृत्रिमता के चिह्न सहज सौन्दर्य को क्षति पहुँचाते हैं। सामान्यतः इस युग में बहुत कम रचनाएँ ऐसी हुई हैं जो अनुपात एवं स्वारस्य की भावना से प्रभावित हों। भारतीय सौन्दर्य-उपासना में उन चीज़ों की ओर ध्यान कम गया है। इसके विपरीत, हर दिशा में अत्युक्ति एवं उदात्त वर्णना की ओर प्रवृत्ति अधिकतर पाई जाती है। कर्मकाण्ड के विषयों में इतनी छोटी-छोटी विधियों का विकास हुआ है जो अविश्वसनीय हैं। उसी प्रकार तपश्चर्या के असाधारण कठोर स्वरूप, ललित कलाओं में भी नीरस पौराणिक चित्रण, वर्णन करने में कल्पनातीत संख्याओं का बहुधा उल्लेख, पुराणों की अपरिमेय ग्रन्थराशि, गद्य शैली में अद्वितीय, संक्षिप्त रूप के सूत्रों का निर्माण, परवर्ती काव्यों में अधिकांश प्रयुक्त दीर्घसमास भारतीय मस्तिष्क के कतिपय दोषों के एकदम स्पष्ट निदर्शन हैं।

विज्ञान-साहित्य की विविध शाखाओं में ध्वनिशास्त्र, व्याकरण, गणित, ज्यौतिष, आयुर्वेद और धर्मशास्त्र में भारतीयों ने महत्त्व की प्रगति की है। पूर्वोक्त विषयों में से कई विषयों में भारतीयों की प्रगति निःसन्देह ग्रीक जनता के द्वारा प्राप्त विज्ञान से कोसों आगे है।

भारतीय साहित्य का सबसे दुर्बल अंश इतिहास है। वास्तव में इतिहास ऐसी कोई चीज़ भारत में नहीं है। ऐतिहासिक बुद्धि का अत्यन्ताभाव इतना अधिक है कि समग्र संस्कृत साहित्य इस दोष के अँधेरे से व्याप्त है। परिणाम यह है कि भारतीय साहित्य में किसी भी वस्तु की ठीक-ठीक तिथि निकालना असम्भव है। यह इस सीमा तक सत्य है कि भारतीय कवि-

चक्रवर्ती कालिदास का जन्म-काल भी १००० वर्ष की दौड़ में विवादास्पद था और आज भी एक या दो सदियों की सीमा में सन्दिग्ध ही है। अत एव संस्कृत ग्रन्थकारों की तिथियाँ अत्यधिक मात्रा में केवल अनुमान का विषय हैं जो भाषा अथवा शैली के विकास, किसी सन्दर्भ अथवा उद्धरण, या अन्य पारस्परिक साक्ष्य के आधार पर आधारित है। उनके जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में तो हमें कुछ भी पता नहीं चलता। कहीं-कहीं एक या दो साधारण सी बातें मालूम हो जाती हैं। इस स्थिति के दो कारण समझ में आते हैं—सबसे पहले तो यह कि प्राचीन भारत ने अपना इतिवृत्त कहीं लिखित रूप से अंकित नहीं किया, कारण उन्होंने कभी इतिहास में उल्लिखित करने योग्य कोई काम ही नहीं किया। प्राचीन भारतीयों को कभी जीवन में इस प्रकार का संघर्ष न करना पड़ा जैसा फ़ारस में ग्रीक लोगों को तथा प्यूनिक युद्धों में रोमवासियों को करना पड़ा था। संघर्ष के विना जातियों का एकराष्ट्र में सङ्गठन तथा राजनैतिक गौरव का विकास असम्भव है। अतीत के पराक्रमों का ब्यौरा रखना जिसका सहज काम था ऐसे ब्राह्मणवर्ग ने तो बहुत पहले से ही इस सिद्धान्त को अपना लिया था कि समस्त कर्म और सांसारिक अस्तित्व की भावना एक महादोष है। इसी धारणा के कारण उन्हें अपने प्राचीन इतिहास को क्रमबद्ध सम्हाले रखने की प्रवृत्ति कभी न हुई।

ऐसी दशा में भारतीय साहित्य के इतिहास में लगभग ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक किसी की कोई निश्चित तिथि नहीं दीखती। वैदिक युग का रचना-क्रम बिल्कुल आनुमानिक है, इसका आधार केवल अन्तःसाक्ष्य ही है। वैदिक युग में भाषा और शैली में विभेद के कारण, तथा धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिभेद के कारण साहित्यिक रचना के तीन स्तर दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक स्तर के विकास के लिये यथोचित समय की अवधि प्रकल्पित करना आवश्यक है। तथापि हम इतनी ही आशा रख सकते हैं कि हमारा अनुमान कतिपय शताब्दियों के अन्तर से सही बैठ जाय। द्वितीय वैदिक स्तर की निम्न परिधि ईसा पूर्व ५०० से पश्चात् नहीं स्थिर की जा सकती, कारण उस युग में प्रचलित अन्तिम सिद्धान्तों का पूर्वाभास हमें बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है और बुद्ध के महानिर्वाण की तिथि अनेक महापरिषदों के तिथि के आधार पर ईसा पूर्व ४८० मानी गयी है जो सर्वथा सम्भावित कही जा सकती है। वैदिक युग के प्रारम्भ के सम्बन्ध में संस्कृत पण्डितों की निश्चित प्रवृत्ति अतिप्राचीन बतलाने की है। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व वैदिक रचना का प्रारम्भिक काल

आम तौर पर बताया जाता है। यदि इसे सही माना जाय तो यह १५ सौ वर्ष का दीर्घ समय भाषा एवं विचार के विकास के लिए क्योंकर हुआ, इसका लेखा देना आवश्यक हो जाता है। यह अवधि ग्रीस में होमर युग और एटिक युग के मध्य की अवधि से कुछ अधिक नहीं है। आज से ४० वर्ष पूर्व आचार्य मेक्समूलर ने वैदिक युग के प्रारम्भ की तिथि ईसा से १२ शताब्दी पूर्व निर्धारित की है। यह बहुत कुछ सही लगती है। तीन शताब्दियों का समय, ईसा पूर्व १२०० से १००० तक, सम्भवतः वैदिक संहिताओं में प्राचीनतम और सबसे अन्तिम रचना के मध्य वर्तमान भेद के अस्तित्व के लिये पर्याप्त है।

इस सम्बन्ध में कुछ बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है — अवेस्ता भाषा का प्राचीनतम रूप वैदिक भाषा से इतना निकट है कि ध्वनिनियम के समन्वय करने से ही अवेस्ता के पद ज्यों के त्यों अक्षरशः वैदिक रूप में परिणत किए जा सकते हैं; और वह रूप न केवल आकार में ही, अपितु भाव में भी बिल्कुल सही बैठता है। साथ ही साथ यह भी ध्यान देना होगा कि यदि हम वैदिक वाङ्मय से परिचित होने के समय अवेस्ता को भी भलीभाँति जानते तो यही कहना पड़ता कि अवेस्ता निश्चय ही वैदिक भाषा से एकरूप है। अत एव हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि भारतीय शाखा का इरानी शाखा से पृथग्भाव वैदिक वाङ्मय के प्रारम्भ से कुछ ही पहले हुआ होगा और इसी कारण यह भी कहा जा सकता है कि भारत के उत्तर पश्चिम भाग में वह भारतीय शाखा ईसा पूर्व १५०० के आस पास शायद ही पहुँच पाई होगी। वैदिक युग की प्राचीनता के सम्बन्ध में जितनी भी पुरानी धारणाएं हैं उन सबसे कहीं आगे बढ़ा हुआ बॉन्-निवासी आचार्य याकोबी का नूतन सिद्धान्त है जो वैदिक युग को कम से कम ईसा से ४००० वर्ष पूर्व मानता है। यह सिद्धान्त ऋतुपरिवर्तन से सम्बन्ध रखने वाले ज्योतिर्गणित पर आधारित है। आचार्य याकोबी का मत है कि ऋग्वेद में वर्णित ऋतुक्रम का समय गणित के आधार पर आज से कई हज़ार वर्ष पूर्व का ठहरता है। यह सारी कल्पना ऋग्वेद में प्रयुक्त एक शब्द के अर्थ पर अवलम्बित है; और उस शब्द का वह अर्थ सन्दिग्ध और बहुत कुछ असम्भव सा होने के कारण याकोबी की मान्यता असिद्ध ठहरती है। इस समय तो हमें यह कहकर ही सन्तोष कर लेना होगा कि वैदिक साहित्य हर हालत ग्रीस के साहित्य से अत्यधिक प्राचीनतर है।

वेदोत्तर-युग

अन्तःसाक्ष्य के परिणाम के अतिरिक्त हमें साधारण काल-क्रम के निर्धारण में कुछ महत्त्व के सन्दर्भ विदेशियों के यात्रा-संस्मरणों में उपलब्ध होते हैं। इस दिशा में सबसे पहली तिथि भारत पर सिकन्दर के आक्रमण की थी, जो ईसा पूर्व ३२६ में हुआ था। इसके पश्चात् भारत में अनेक ग्रीकवासियों का आगमन हुआ जिनमें मुख्यतः गणनीय मेगस्थनीज़ का था। ईसा पूर्व ३०० के लगभग वह यहाँ आकर कुछ वर्ष पाटलिपुत्र के दरबार में रहा और उसने अपने संस्मरणों में भारतीय समाज का तात्कालिक चित्र आंशिक होने पर भी बड़े महत्त्व के ढंग से अङ्कित किया। कई शताब्दी पश्चात् बुद्ध धर्म के अनुयायी तीन चीनी यात्री भारत आये। वे थे—फ़ाहियान (३९९ ई०), ह्वेनसांग (६३०–६४५ ई०) और इत्सिंग (६७१–६९५ ई०)। उनकी यात्रा के संस्मरण सुरक्षित रहे और अब उनका अंग्रेजी में अनुवाद भी हो गया है। ये संस्मरण उन दिनों भारत की सामाजिक स्थिति, धार्मिक विचार और बौद्ध पुरातत्त्व पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इन्हीं संस्मरणों से भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में कुछ साधारण और कुछ विशेष बातें भी एकत्र की जा सकती हैं। विशेषकर ह्वेनसांग संस्कृत महाकवियों के विषय में उपयोगी बातें बताते हैं। ह्वेनसांग से पहले हम किसी संस्कृत कवि के विषय में कौन कब हुआ यह कह न सकते थे सिवा तीन ज्योतिर्विदों के, जो अपनी ठीक-ठीक जन्मतिथि पाँचवीं और छठी शताब्दी के मध्य स्वयं लिखते हैं। इन पूर्ववर्ती दो चीनी लेखकों के द्वारा दी हुई सूचना के आधार पर ही भारत में इन दिनों पुरातत्त्वसम्बन्धी बड़ी से बड़ी जो खोज हो सकी वह है बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु, जिसे हम दिसम्बर १८९६ में पहचान सके हैं। हमारे इस युग की समाप्ति होते-होते मुसलमानी आक्रमणों के समय देश की क्या स्थिति थी इसका पता अरबी लेखक अलबेरुनी से लगता है जिसने सन् १०३० ई० में 'हिन्दुस्तान' नामक पुस्तक लिखी।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि ईसा की ५वीं शताब्दी तक संस्कृत युग में भी साहित्यिक रचनाओं का तिथिनिर्णय प्रायः सापेक्ष ही था। रचनाओं के पौर्वापर्य निर्णय करने का मापदण्ड शैली अथवा विचार का विकास, किसी पूर्वतन ग्रन्थकार का नामोल्लेख, ग्रीक अथवा अन्य विख्यात राजवंश के साथ राजनैतिक सम्बन्ध, अथवा ज्योतिर्गणितसम्बन्धी घटनाएँ हुआ करती थीं।

आधुनिक अन्वेषण, अधिक केन्द्रित होने के कारण, काल-क्रमसम्बन्धी निश्चित निर्णय की ओर अधिकाधिक प्रगति में सहायक हुए हैं; और आशा है अनेकानेक दिग्गज विद्वानों के अथक परिश्रम और योग्यता के द्वारा प्राप्त मुद्रा, ताम्रपत्र और शिला-लेख, तथा स्तम्भों पर उत्कीर्ण लेख पर किये हुए काम का प्रमाण निश्चय ही प्राचीन भारत के राजनैतिक इतिहास-सम्बन्धी तथ्यों पर स्पष्ट प्रकाश डाल सकेंगे। इन विद्वानों के परिश्रमों का फल है कॉर्पस इन्स्क्रिप्शियोनम् इण्डिकारम्, एपिग्राफ़िया इण्डिका आदि भारतीय पुरातत्त्व के अध्ययन में प्रस्तुत पत्रिकाएँ, जो समय-समय पर प्रकाशित हो रही हैं। पिछले २० वर्षों में लिपि-स्वरूप के अध्ययन की प्रगति ने भारतीय साहित्यिक और धार्मिक इतिहास पर साक्षात् महत्त्व की अनेक सूचनाएं दी हैं ; कुछ कवियों की तिथि का भी निर्णय किया है, साथ ही साथ समग्र वाङ्मय की धार्मिक सरणि पर भी सामान्यतः प्रकाश डाला है। छन्दोबद्ध कई बड़े-बड़े उत्कीर्ण लेख पढ़े गये हैं जो इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि हमारी प्रथम शताब्दी से लेकर संस्कृत तथा विभिन्न प्राकृतों में काव्यरचनाएँ हो रही हैं। इस सम्बन्ध में पहले कोई साक्षात् प्रमाण उपलब्ध न था।

भारतीय लिपि का विकास

संस्कृत साहित्य में प्राचीन उत्कीर्ण लेखों का महत्त्व दो दृष्टिकोण से है —

१ भारतीय लिपि के प्राचीन इतिहास को बताते हुए, और

२ उस समय भाषा की स्थिति को प्रकट करते हुए।

सबसे प्राचीन उत्कीर्ण लेख तो बौद्ध सम्राट् अशोक द्वारा लिखाये हुए ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्यकाल के स्तम्भलेख और शिलालेख हैं। महाराज अशोक ईसा पूर्व २५९–२२२ वर्ष तक उत्तर भारत पर शासन करते रहे। उन्हीं के राज्यकाल में तीसरी बौद्ध महासभा का आयोजन हुआ जिसमें सम्भवतः बौद्ध धर्म के विनयसम्बन्धी ग्रन्थ रचे गये। उस युग की राजनैतिक, धार्मिक और भाषासम्बन्धी अमूल्य सूचना देनेवाले इन उत्कीर्ण लेखों का महत्त्व अत्यधिक है। ये लेख चारों ओर भारत में बिखरे हुए हैं। सौराष्ट्र में गिरनार से लगाकर उत्कल में धौली तक, काबुल नदी के उत्तर में स्थित कपूर गिरि से खालसी तक ये उत्कीर्ण लेख प्रतिलिखित हैं, पढ़े जाते हैं और अनूदित हैं। उनमें से एक, अशोक द्वारा स्थापित स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख है जो बुद्ध की जन्म-भूमि का स्मारक है। वह हाल ही सन् १८९६ ई० में मिला है।

अशोक के ये शिलालेख भारतीय लिपि के सर्वप्राचीन संग्रह हैं। भारत में लिपि के प्रारम्भ की तिथि के सम्बन्ध में बहुत सन्देह और विवाद कई दिनों तक चलता रहा, परन्तु इसका निराकरण हाल ही आचार्य ब्यूहलर के द्वारा शिला-लेख-सम्बन्धी अनुसन्धानों से हुआ है। उसी महापण्डित ने यह भी बताया कि प्राचीन भारत में दो प्रकार की लिपि प्रचलित थी :—

एक खरोष्ठी, जिसका प्रयोग गान्धार देश (पूर्वी अफ़गानिस्तान और उत्तर पंजाब) में ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से ई० २०० तक होता रहा। यह लिपि ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी में प्रयुक्त सिमेटिक लिपि के आरमाईक आदर्श से बनी हुई थी। यह लिपि अपने मूल आदर्श की भाँति दाहिनी ओर से बायीं ओर लिखी जाती थी। दूसरी प्राचीन भारतीय लिपि ब्राह्मी है। ब्यूहलर के अनुसार यही भारत की सच्ची राष्ट्र-लिपि है। इसका कारण है कि भारतीय वर्णमाला ब्राह्मी से ही निकली है, यद्यपि कुछ वर्णों के रूप आज जो प्रचलित रूप हैं उनसे कहीं भिन्न थे। यह लिपि सदा बायीं ओर से दायीं ओर लिखी जाती रही। परन्तु इसका प्रकार मूलतः ऐसा न था। यह बात ईसा पूर्व चौथी शताब्दी की एक मुद्रा से लक्षित होती है। इस मुद्रा पर लिखित सामग्री दायीं ओर से बायीं ओर अंकित है। डॉ० ब्यूहलर का कथन है कि यह लिपि प्राचीनतम उत्तरी सिमेटिक अथवा फ़िनीशियन आदर्श पर आधारित है, जो मोवाबा के पाषाणों पर तथा असीरिया के बटखरों पर अंकित मिलता है। इसका काल ईसा पूर्व ८९० वर्ष माना जा सकता है। ब्यूहलर का तर्क है कि यह लिपि ईसा पूर्व ८०० के लगभग मेसोपोटामिया के मार्ग से आनेवाले व्यापारियों के द्वारा प्रचलित हुई।

प्राचीन भारतीय साहित्य के लिपिसम्बन्धी सन्दर्भ सचमुच बहुत ही कम पाये जाते हैं। लिपि का उल्लेख किसी भी दशा में ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी से पूर्वतन नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यह तिथि अशोक के उत्कीर्ण लेखों से अधिक प्राचीन नहीं है। परन्तु इस विषय में मौनरूप अभाव को प्रमाण मानना विचारसह नहीं; कारण, जो भी दीर्घकाल से लिपि का प्रयोग बड़े परिमाण में आजकल किया जा रहा है, तथापि भारतीयों की अध्ययन-अध्यापन की पद्धति अभी भी मौखिक ही है। वेद, शास्त्र तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थ आज भी गुरुमुख से ग्रहण किए जाते हैं, न कि हस्तलिखित ग्रन्थों से; और सर्वत्र स्मृति से उद्धृत ज्ञान ही महत्व का माना जाता है। लेख तथा लिखित ग्रन्थों का क्वचित् ही उल्लेख मिलता है।

आधुनिक कवि भी यह कामना नहीं करते कि उनकी रचनाएँ पढ़ी जाँय परन्तु यही आशा करते हैं कि उनकी कृतियाँ सुनी जाँय। अनादि काल से प्रचलित यह पद्धति प्रमाणित करती है कि भारतीय काव्य तथा विज्ञान की रचना का प्रारम्भ उस युग में हुआ होगा जब लिपिज्ञान न था और ऋग्वेद आदि के विषय में प्रचलित मौखिक परम्परा तब ही चली होगी जब लिपि का प्रचार न था। अत एव यह कहा जा सकता है कि लिपिसम्बन्धी उल्लेख से कहीं पूर्व, लिपि का प्रचार अवश्य हुआ होगा। अशोक के उत्कीर्णलेखों की शिला-लिखित साक्ष्य हर सूरत इस बात को स्पष्ट बताती है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में लिपि कोई नवीन आविष्कार न था। कारण, एक ही वर्ण के अलग-अलग अनेक रूप उस समय के पाये जाते हैं—यहाँ तक कि किसी वर्ण के तो नौ या दस रूप मिलते हैं। साथ ही साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि सिमेटिक २२ वर्णों से ४६ वर्णों की पूरी ब्राह्मी वर्णमाला के विकास में बहुत अधिक समय अवश्य लगा होगा। आचार्य ब्यूहलर के सुदृढ़ तर्क के अनुसार यह पूर्ण वर्णमाला अवश्य ही ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा ध्वनि-नियमों के वैज्ञानिक आधार पर रचित हो चुकी थी। यह वही वर्णमाला है जिसे महावैयाकरण पाणिनि ने ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व स्वीकृत की, और जो तब से आज तक अपरिवर्तित रही। यह वर्णमाला न केवल संस्कृत भाषा की समस्त ध्वनियों को अन्तर्गत करती है, वरन् इसका रचनाक्रम भी बहुत ही वैज्ञानिक है। पहले क्रमशः ह्रस्व एवं दीर्घ मूल स्वर, तत्पश्चात् संयुक्त स्वर और अन्त में उच्चारणस्थान के आधार पर वर्णों में नियमतः संकलित व्यञ्जनों का समुदाय है। उदाहरणार्थ—दन्त से उच्चार्यमाण पूरा तवर्ग और ओष्ठ से उच्चार्यमाण पवर्ग एक साथ मिलता है। इसके विपरीत यूरपवासी हम लोग ढाई हज़ार वर्ष बीतने पर भी आज के वैज्ञानिक युग में ऐसी वर्णमाला का प्रयोग करते हैं जो न केवल हमारी भाषा की सब ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करने में सर्वथा अपर्याप्त ही है परन्तु उसमें स्वर एवं व्यञ्जन अनियमित रूप से आज भी ठीक उसी तरह संकलित हैं जिस तरह २००० वर्ष पूर्व सिमेटिक जाति के द्वारा प्राथमिक वर्णसंकलन के आधार पर प्रणीत ग्रीक वर्णमाला में पाये जाते हैं।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के शिला-लेखों में ब्राह्मी लिपि के भी दाक्षिणात्य और औत्तरीय दो भेद पाये जाते हैं। ब्राह्मी लिपि का औदीच्य स्वरूप उत्तर भारत में प्रचलित अक्षरसमूह से बना हुआ है जिसका प्रचुर प्रभाव भारत

में प्रयुक्त आर्य विभाषाओं पर क्रमशः पड़ा। उनमें से सर्वाधिक महत्त्व की लिपि नागरी अर्थात् देवनागरी है, जिसमें संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थ प्रायः लिखे जाते हैं और सर्वत्र संस्कृत, मराठी और हिन्दी के ग्रन्थ मुद्रित होते हैं। इस लिपि की विशेषता यह है कि इसके प्रत्येक वर्ण के सिर पर एक सीधी रेखा होती है। सबसे पुराना उत्कीर्ण लेख जो प्रारम्भ से अन्त तक नागरी लिपिबद्ध है आठवीं शताब्दी का मिला है, और नागरी अक्षरों में लिखी हुई सर्वप्राचीन पाण्डुलिपि ११वीं शताब्दी की मिली है। ब्राह्मी लिपि के दाक्षिणात्य रूप से पाँच प्रकार की लिपियाँ निकलती हैं जिनका प्रयोग विंध्यगिरि से दक्षिण भाग में प्रचलित है। इन्हीं में वे वर्ण भी सम्मिलित हैं जो कर्नाटी और तैलंगी भाषाओं में प्रचलित हैं।

लेखन-सामग्री आशुनश्वर होने के कारण हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की १४वीं शताब्दी से पूर्वतन पाण्डुलिपि बहुत कम मिलती हैं। भारत में ग्रन्थ-लेखन के लिए भूर्जपत्र और ताड़पत्र का प्रयोग किया जाता था। भूर्जपत्र का प्रयोग उत्तर पश्चिम प्रान्त में प्रचलित हुआ जहाँ हिमालय की अधित्यकाएँ सर्वत्र भूर्जवृक्षों से व्याप्त हैं। धीरे-धीरे इसका प्रसार पूर्वी और पश्चिमी भारत में तथा मध्यप्रदेश में भी हुआ। भूर्जपत्र पर लिखित ग्रन्थों में सबसे पुराना ५वीं शताब्दी का मिला है और सन् १८९७ में प्राप्त एक पाली ग्रन्थ खरोष्ठी में लिखा हुआ उससे भी पुराना है। क्विन्टस् कर्टियस् का कथन है कि सिकन्दर के समय में भारतीय जनता ग्रन्थलेखन के लिए भूर्जपत्रों का प्रयोग करती थी। संस्कृत प्राचीन ग्रन्थकार[1] तथा अल्बेरूनी प्रमाणित करते हैं कि भूर्जपत्र का प्रयोग मध्यकालीन भारत में पत्रव्यवहार का साधन बना हुआ था। ताड़पत्र पर लिखा हुआ संस्कृत ग्रन्थ हमें ई० छठी शताब्दी तक का मिला है। यह जापान में सुरक्षित है और इसकी आलेख्य प्रतिलिपि बोडलियन ग्रन्थागार में विद्यमान है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार ताड़पत्र का प्रयोग ७वीं शताब्दी में सारे भारत में पाया जाता था। परन्तु ताड़पत्र कई शताब्दी पूर्व लेख के काम में लिया जाता था—यह बात उत्कीर्ण ताम्रपत्र से भी सिद्ध होती है—कारण, वह ताम्रशासन कम से कम ई० पहली शताब्दी

१. देखो कालिदास —

'न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥' (कु० सं० १-७)

इतना पुराना ज़रूर कहा जा सकता है और वह स्वरूप में ताड़पत्र की भाँति है।

मुसलमानों के आक्रमण ने कागज़ का प्रयोग प्रवृत्त किया और तब से वह बराबर ग्रन्थलेखन के काम में लाया जा रहा है। कागज़ पर लिखा हुआ सबसे प्राचीन ग्रन्थ गुजरात में मिला है जो सम्भवतः १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ का लिखा प्रतीत होता है। उत्तर भारत में लेख के लिए स्याही का प्रयोग प्रचलित होने से, कागज़ उपलब्ध होते ही ताड़पत्र का उपयोग समाप्त हो गया; परन्तु दक्षिणी भारत में अक्षरों को उत्कीर्ण करने के लिए शलाका का प्रयोग सदा से प्रचलित होने के कारण ताड़पत्र का ग्रन्थलेखन तथा पत्रव्यवहार में उपयोग आज भी किया जाता है।

हस्तलिखित ग्रन्थ, चाहे भूर्ज-पत्र पर हो या ताड़पत्र पर, सम्पुटित कर मध्य में एक रन्ध्र के द्वारा सूत्र में बाँधा जाता है। कहीं-कहीं ग्रन्थ के दोनों सिरों पर छिद्र कर सूत्र से बाँधने की प्रणाली भी देखने में आती है। यही कारण है कि 'गाँठ' के अर्थ में प्रयुक्त 'ग्रन्थ' शब्द पुस्तक का वाचक बन गया।

चमड़े अथवा झिल्ली का प्रयोग भारतवर्ष में एतदर्थ कभी न हुआ—कारण ये पदार्थ अपवित्र माने जाते थे। उत्कीर्ण लेखों के लिए ताम्र-पत्रों का प्रयोग प्राचीन समय से ही अधिकतर हुआ करता था। उनका आकार ताड़-पत्र या भूर्जपत्र जैसा बनाया जाता था।

स्याही के लिए अतिप्राचीन संज्ञा मसि है। भारत में इसका प्रयोग ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में प्रचलित था—यह एक बौद्ध स्तूप पर उत्कीर्ण लेख से प्रमाणित होता है। सम्भवतः ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से कहीं स्याही का प्रयोग प्रचलित हुआ होगा—ऐसा नेयरकोस और क्विन्टस् कर्टियस् की उक्ति से प्रतीत होता है।

सभी पुराने ग्रन्थ ताड़पत्र, भूर्जपत्र अथवा कागज़ पर स्याही और सरकण्डे की कलम से लिखे हुए मिलते हैं। लेखनी को कलम कहते हैं। यह संज्ञा ग्रीक भाषा के 'कलमास' से बनी है। परन्तु दक्षिण भारत में सदा लोहशलाका से ताड़पत्र को कुतर कर लिखने की प्रणाली रही है। इन उत्कीर्ण अक्षरों पर बाद में लेखक काजल अथवा कोयले का चूर्ण घिस दिया करते हैं।

हर तरह के हस्तलिखित ग्रन्थ अकसर लकड़ी की दो पटरियों के बीच रखकर रंगीन अथवा गोटे किनारी से सुशोभित वस्त्र में सिली हुई कपड़े की या रेशमी पट्टी से बाँधकर रखे जाते हैं। सदा से आज तक मन्दिरों, मठों, विद्यालयों और राजदरबारों के ग्रन्थालयों तथा निजी पुस्तकालयों में भी इसी प्रकार अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के धारेश्वर महाराज भोज का ग्रन्थागार सुविख्यात था। सन् ६२० ई० में वर्तमान बाणभट्ट के पास एक पाण्डुलिपिवाचक सदा रहा करता था—इससे सिद्ध होता है कि व्यक्तिगत ग्रन्थालय भी बहुत पुराने समय में हुआ करते थे। आज भी समग्र देश में ब्राह्मणों के घर-घर संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों का अनमोल सङ्ग्रह विद्यमान है।

संस्कृत साहित्य के दो युग

भारत की यह प्राचीन भाषा अपने साहित्य की भाँति वैदिक और संस्कृत ऐसे दो मुख्य भागों में विभक्त है — वैदिक भाषा में और संस्कृत भाषा में उतना ही अन्तर है जितना होमर की भाषा और साहित्यिक ग्रीक में, अथवा शैलिक सूक्तों की लैटिन भाषा में और व्हारों की लैटिन भाषा में अन्तर है। भारत के सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य को प्रस्तुत करने वाली वैदिक भाषा में अनेक स्तर पाये जाते हैं। एक स्तर से दूसरे स्तर पर दिनोंदिन वह क्रमशः आगे बढ़ती हुई अर्वाचीन होती रही, और अन्ततः वह साहित्यिक संस्कृत के रूप में विलीन हो गई। अपने प्राथमिक स्वरूप में भी वैदिक भाषा जनभाषा नहीं कही जा सकती। वास्तव में वह एक परिष्कृत आर्ष भाषा रही है जो आनुवंशिक परम्परा से ब्राह्मणवर्ग को प्राप्त थी। अपने इस स्वरूप के अनेक लक्षण स्वयं वैदिक भाषा ही प्रकट करती है। उनमें से एक लक्षण यह है कि वैदिक साहित्य में विभिन्न युगों की भाषा के भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। यह बात होमर की भाषा में नहीं पाई जाती। पुरोहितों की बोल-चाल की भाषा और सूक्तों की भाषा में यही अन्तर है कि उनकी बोली में काव्यमय विन्यास तथा आर्ष प्रयोग नहीं होते थे। सच पूछो तो प्रारम्भिक वैदिक युग में भी एक जातिभाषा प्रचलित थी — जैसा न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः समस्त साहित्यिक भाषाओं में सर्वत्र होता रहा है। परन्तु यह बात भारत में अन्य किसी देश की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

जब वैदिक भाषा भी सहज बोल-चाल की भाषा न होकर वर्गविशेष की पण्डिताउ भाषा थी तो फिर परवर्ती साहित्यिक भाषा के सम्बन्ध में यह

बात कितनी सत्य हो सकती है! लौकिक संस्कृत वैदिक भाषा से भिन्न अवश्य है, तथापि यह तारतम्य अन्य जीवित भाषाओं की भाँति सहज विकास के नियमानुसार नहीं है।

लौकिक संस्कृत का ध्वन्यात्मक रूप आज भी लगभग ठीक वैसा ही है जैसा प्रारम्भिक वैदिक भाषा का था। शब्द-रूपों में भी यह भाषा बहुत कुछ स्थिर रही — शायद ही किसी नये प्रत्यय या रूप का आविर्भाव हुआ हो। तथापि व्याकरण की दृष्टि से परवर्त्ती भाषा और प्राचीन भाषा में महान् अन्तर हो गया है। इस परिवर्तन का मूल नये रूपों की उत्पत्ति नहीं, परन्तु प्राचीन रूपों का लोप है। इनमें से मुख्य परिवर्तन लेट् लकार का, तथा दस-बारह तरह के तुमुन्नन्त रूपों का लुप्त होना है। रूप-सिद्धि में भी परिवर्तन अधिकांश पर्यायवाची वैकल्पिक रूपों का अभावमात्र है। हो सकता है कि सूक्तों की भाषा की अपेक्षा कुछ कम जटिल परन्तु अधिक अर्वाचीन वैदिक युग की बोलचाल की भाषा ने परवर्त्ती साहित्य की भाषा को सरल रूप धारण करने की दिशा में अग्रसर किया हो। तत्रापि भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन के मुख्य कारण वैयाकरणों के द्वारा प्रवर्तित नियम ही हैं जिनका शासन और देशों की अपेक्षा भारत में कहीं अधिक प्रबल इस कारण रहा कि भारत में व्याकरणशास्त्र का विकास बहुत पहले से कहीं अधिक मात्रा में चल पड़ा था। इस प्रभाव का एक निदर्शन वाक्यगत सन्धि-नियमों का विस्तार है।

सबसे अधिक परिवर्तन तो भाषा के शब्दकोष में हुआ है जैसा प्रायः सब ही साहित्यिक भाषाओं में पाया जाता है। इसका कारण है कि इस दिशा में परिवर्तन को रोकने की क्षमता वैयाकरणों में नहीं होती। परिणाम यह हुआ कि विविध प्रत्ययों के नियमानुसार प्रयोग से असंख्य शब्दों के निर्माण के साथ-साथ शब्दकोष समृद्ध होता गया। साथ ही साथ अनेक शब्द ऐसे भी हैं जो पुराने होते हुए भी नये से लगते हैं, क्योंकि उनका प्रयोग वैदिक साहित्य में संयोगवश कहीं भी न हो सका। सचमुच नये शब्द तो वे हैं जो भाषा के निम्नस्तर से निरन्तर उद्गृहीत होते रहे हैं। प्रचलित शब्दों में तो उनके सम्पर्क से केवल अर्थ-भेद ही हो पाया है।

बोल-चाल की संस्कृत

भारत की प्राचीन भाषा के उतरते हुये युग में महावैयाकरण पाणिनि ने ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त तक भाषा का स्वरूप बिलकुल जकड़ दिया,

और तब से यह भाषा 'संस्कृत' अर्थात् परिमार्जित या परिवर्धित कहलाने लगी। भाषाविशेष के अर्थ में 'संस्कृत' पद का प्रयोग किसी प्राचीनतर वैयाकरण ने कहीं नहीं किया। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' पद का सर्वप्रथम प्रयोग आदिकाव्य रामायण में मिलता है। 'संस्कृत' यह संज्ञा जनभाषा प्राकृत से विभिन्न है। इसी भेद को सामने रख छठी शताब्दी में प्रणीत काव्यादर्श नामक ग्रन्थ में भाषा-भेद पर विवेचन उपलब्ध होता है। ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के महावैयाकरण यास्क से लगाकर पिछले विद्वानों ने इस साहित्यिक बोली को 'भाषा' कहा है जो वैदिक वाणी से विभिन्न समझी जाती थी। प्राचीन वैयाकरणों के ये उद्गार प्रकट करते हैं कि 'भाषा' शब्द से बोलचाल की व्यावहारिकी भाषा ही अभिप्रेत थी। उनमें से पतञ्जलि ने 'लोके (लोक व्यवहार में)' ऐसा कहकर 'संस्कृत' उस भाषा का नाम बताया है जिसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जो व्यवहार में प्रचलित थे। स्वयं पाणिनि ने भी ऐसे कई नियम बनाये हैं जिनका बोल-चाल की भाषा के अतिरिक्त अन्यत्र कोई तात्पर्य नहीं। उदाहरणार्थ, स्वरों की मात्रा का वर्णन करते हुए पाणिनि प्लुत का भी उल्लेख करते हैं जो केवल दूर से बुलाने में, अभिवादन में तथा प्रश्नोत्तर में ही काम में आता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत में विविध विभाषाओं में प्रचलित अनेक प्रयोग पाये जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत केवल पठन-पाठन की अथवा साहित्यिक या पण्डितों की ही भाषा न थी। यास्क और पाणिनि पौरस्त्य एवं औदीच्य प्रयोगों की विशेषताएँ भी बतलाते हैं। कात्यायन तो प्रान्तीय प्रयोगभेद भी बतलाते हैं और पतञ्जलि ने ख़ास-ख़ास जनपदों में प्रयुक्त शब्दों का भी उल्लेख किया है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में हिमालय और विन्ध्य के मध्यवर्ती समस्त आर्यावर्त में संस्कृत बोल-चाल की भाषा रही हो। प्रश्न यह है — आख़िर संस्कृत बोलता कौन था? निश्चय ब्राह्मण तो बोलते ही थे, परन्तु ब्राह्मणेतर जनता में भी संस्कृत का प्रयोग प्रचलित था। पातञ्जल महाभाष्य में उल्लेख है कि एक बार किसी वैयाकरण से 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक क्षौरकार का वाद-विवाद चल पड़ा था। संस्कृत नाटकों में भी विभिन्न भाषाओं का प्रयोग इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। कारण, विभिन्न पात्रों के लिए पृथक्-पृथक् भाषाओं का विधान निश्चय ही किसी परम्परा पर आधारित होना चाहिये। वह परम्परा नाटकों की रचना से अवश्य ही बहुत पहले से चली आ रही होगी। संस्कृत नाटक यह भी प्रकट करते हैं कि संस्कृत

का प्रयोग न करनेवाले पात्र भी संस्कृत समझते अवश्य थे; कारण, प्राकृत-भाषियों के साथ संवाद में संस्कृत का प्रयोग निस्सङ्कोच किया जाता था। साथ ही साथ हमें पता है कि प्रेक्षागृहों में उपस्थित सामाजिक संस्कृत निस्सन्देह समझ लेते थे। यहाँ तक कि साहित्य में अनेक सन्दर्भ ऐसे मिलते हैं जो यह भी प्रमाणित करते हैं कि जनसाधारण के सामने रामायण-महाभारत के अंशों का पाठ बड़े मज़े से चलता था। 'लौकिक संस्कृत प्रारम्भ से ही एक साहित्यिक, अथवा यों कहिये, एक कृत्रिम, नियमबद्ध भाषा क्यों न रही हो वह लोकव्यवहार की भाषा न थी' — यह उक्ति सर्वथा प्रामादिक है। पूर्व में हम कह आये हैं संस्कृत आज भी भारतवर्ष में विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा बोली जाती है और दैनिक व्यवहार में लिखी भी जाती है। निष्कर्ष यही है कि पूर्ववत् आज भी संस्कृत की स्थिति यहूदियों में हिब्रू तथा मध्ययुग में लैटिन सी बनी हुई है।

उन दिनों जो भी कोई संस्कृतज्ञ था वह एक या एक से अधिक बोली का व्यवहार करता रहता था। ये जनभाषाएँ कौन सी थीं — यह प्रश्न अब हमें भारतीय देशभाषाओं के साथ संस्कृत के सम्बन्ध की ओर आकृष्ट करता है। आज के भारत के लिए इस प्राचीन भाषा का भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व तब स्पष्ट होगा जब यह बताया जाय कि कतिपय आदिवासी पहाड़ी जातियों की बोलियों को छोड़, शेष समस्त आधुनिक भाषाएँ — सिन्धु के उद्‌गम से गङ्गा के उद्‌गम के बीच तथा हिमालय से लगाकर विन्ध्याद्रि पर्यन्त, और बम्बई प्रान्त को लेकर दक्षिण पुर्तगाली उपनिवेश गोवा तक व्यवहार में आने वाली — संस्कृत के प्राचीन रूप से निकली हैं। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में स्थित अपने मूलस्थान से चल कर ये भाषाएँ धीरे-धीरे विभिन्न धाराओं में बहती हुई देश के सुदूर दक्षिण भारत को छोड़ सर्वत्र व्याप्त हो गईं। अत एव मानना होगा कि देशभाषाओं का प्रारम्भ बहुत प्राचीन काल से हुआ है। जिन दिनों वैदिक सूक्तों का निर्माण हो रहा था तब भी कोई जन-भाषा अवश्य रही होगी जिसका ध्वन्यात्मक स्वरूप साहित्यिक भाषा से अवश्य विभिन्न रहा होगा। कारण, वैदिक सूक्तों में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनमें उच्चारण-भेद रचयिताओं के द्वारा जन-भाषा से लिए हुए उद्धरणों के कारण हुआ है।

पाली-प्राकृत

हमें यह भी पता है कि ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में गौतम बुद्ध पण्डितेतर जनता को अपने धार्मिक प्रवचन जन-सामान्य की बोली में दिया

करते थे ताकि सब कोई उन्हें समझ सकें। इसी कारण ईसा पूर्व चौथी या पाँचवीं शताब्दी में लिखा हुआ सारा बौद्धसाहित्य जन-भाषा में उपलब्ध होता है। वह भाषा अवश्य ही मगध प्रान्त (आधुनिक बिहार) की भाषा थी जहाँ से बुद्धधर्म प्रसूत हुआ है। लैटिन की तुलना में इटालियन की भाँति इस प्रारम्भिक जन-भाषा में संयुक्त व्यञ्जनों का अभाव और पदान्त स्वर की ओर अभिरुचि विशेषकर पाई जाती है। उदाहरणार्थ, संस्कृत के 'सूत्र' और 'धर्म' शब्द क्रमशः 'सुत्त' और 'धम्म' बन गए और 'विद्युत्' का रूपान्तर 'विज्जु' हो गया है। जन-भाषा का वह एक विशिष्ट रूप जिसमें दक्षिणी बौद्ध धर्मग्रन्थों का निर्माण हुआ है पाली के नाम से ख्यात है। पाली का जन्म कहाँ हुआ पता नहीं, परन्तु अशोककालीन असंख्य शिलालेख तथा स्तम्भलेखों से यह निस्सन्देह प्रमाणित होता है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में पाली भाषा प्रचलित हो चुकी थी। इस भाषा ने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में लंका द्वीप में प्रवेश पाया और उसे वहाँ की वर्तमान भाषा, सिंहली की जननी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण अशोक के राज्यकाल में और उसके उपरान्त भी समस्त शासन-पत्र तथा राज-पत्र, जो उत्कीर्ण लेखों में सुरक्षित हैं, सैकड़ों वर्ष तक मध्ययुगीन भारतीय भाषा अर्थात् केवल प्राकृत में ही रचे गए। इन शताब्दियों में राजकीय विभागों में संस्कृत का प्रचार न था। परन्तु प्राकृत भाषा के उत्कीर्ण लेखों में जहाँ तहाँ संस्कृत पद्यों का सन्निवेश इतना अवश्य प्रमाणित करता है कि उस युग में भी संस्कृत व्यवहार में थी तथा साहित्यिक रचनाओं में उसका समादर था। सच तो यह है कि बौद्ध एवं जैन धर्मों की प्राचीनतर परम्परा ने संस्कृत की सर्वथा उपेक्षा कर सब कामों में जनभाषा को ही प्रोत्साहित किया। ऐसी स्थिति में भी कुछ समय के पश्चात् बुद्ध और जैन पण्डितों ने भी संस्कृत के ज्ञान को सम्पादन करने की चेष्टा की। फलतः एक और वाग्धारा प्रवाहित हुई जो रूप में प्राकृत होते हुए भी संस्कृत प्रत्ययों का स्वीकार तथा संस्कृत रूपों का अनुकरण कर प्राचीन भाषा के तुल्यरूप बन गई। अत एव इस कृत्रिम भाषा को संस्कृत और पाली के अन्तराल में स्थित एक भाषा विकास की अवस्था मानना निश्चय ही भ्रान्तिपूर्ण होगा। इस भाषाविशेष का प्रयोग बौद्ध काव्यों में विशेषकर हुआ है। इसे 'गाथा' कहते हैं और वह उत्तरी बौद्धग्रन्थों में, विशेषतः बुद्ध के जीवनचरित पर रचित 'ललितविस्तर' नामक ग्रन्थ में, पाई जाती है। जीवनगाथा में प्रयुक्त होने के कारण इस भाषा का पुरातन नाम 'गाथा'

बताया जाता है, परन्तु यह समीचीन नहीं है क्योंकि बौद्धों के अनेक ग्रन्थ भी इसी संकर भाषा में प्रणीत हैं।

उत्कीर्ण लेखों का अध्ययन सर्वथा प्रमाणित करता है कि संस्कृत ने धीरे-धीरे इन दोनों अब्राह्मण धर्मों द्वारा प्रचारित जनभाषा पर अतिक्रमण किया। मथुरास्थित ईसवी प्रथम शताब्दी के जैन शिलालेख में विशुद्ध प्राकृत का प्रयोग पाया जाता है, परन्तु तत्पश्चात् धीरे-धीरे संस्कृतांश का अधिकाधिक प्रयोग दृष्टिगोचर होता है; और अन्त में तो सरल संस्कृत ही लिखी जाने लगी। उसी प्रकार बौद्धलेखों में भी विशुद्ध प्राकृत के स्थान पर संकर भाषा प्रतिष्ठित हुई, परन्तु संस्कृत भाषा ने उसे भी क्रमशः अपदस्थ कर दिया। हम देखते हैं कि पश्चिम भारत में स्थित नासिक के उत्कीर्ण लेखों में ईसा की तीसरी शताब्दी तक संकर भाषा प्रयुक्त है जहाँ कि लौकिक संस्कृत का व्यवहार ईसा की दूसरी शताब्दी से चल पड़ा था। छठी शताब्दी से लगाकर जैनलेखों के अतिरिक्त सभी उत्कीर्ण-लेखों की भाषा संस्कृत ही रही है यद्यपि उसमें प्राकृत रूप बहुत प्रवेश पा गये हैं। बौद्ध साहित्य में भी संकर भाषा के स्थान पर संस्कृत ने अपना वर्चस्व जमाया। यही कारण है उत्तरी बौद्ध-ग्रन्थों में अधिकांश संस्कृत का ही प्रयोग मिलता है। तत्रापि यह भाषा ब्राह्मणों के धर्मग्रन्थों की तथा लौकिक साहित्य की संस्कृत भाषा से प्राकृतबहुल होने के कारण सर्वथा भिन्न है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ईसवी सातवीं शताब्दी के बौद्ध मौखिक शास्त्रार्थों में भी संस्कृत का प्रयोग किया करते थे। आख़िरकार जैनों को भी वैसा ही करना पड़ा, हालाँ कि उन्होंने प्राकृत का सर्वथा परित्याग नहीं किया। इस तरह कालक्रमानुसार सब भाषाओं पर प्रभुत्व जमाते हुए संस्कृत ही मुसलमानों के आक्रमण के युग में भारतवर्ष की एकमात्र लिखित भाषा थी। यों जिन दिनों संस्कृत अपनी पुरानी सत्ता को पुनः प्राप्त कर रही थी, प्राकृत भाषाएँ देश में दो तरह तो अपना चिरस्थायी प्रभाव जमा चुकी थीं। प्राकृत भाषाओं ने संस्कृत शब्दकोश में अनेक नवीन शब्द भर दिये थे, और वे प्राचीन युग में प्रचलित पदगत लयात्मक आघात के स्थान पर बलाघात की पद्धति को प्रचलित कर चुकीं थी, जोभी पाणिनि के पश्चात् कई दिनों तक स्वराघात का क्रम जीवित रहा।

अपभ्रंश

प्राकृत के प्राचीनतम युग में, अशोक के लेखों के पाली युग में, तथा बौद्ध एवं जैनों के आदिसाहित्य के युग में पश्चिमी और पूर्वी दो मुख्य विभाषाएँ प्रचलित हो चुकी थीं। हमारे संवत् के प्रारम्भ और ईसवी सन् १००० के बीच मध्ययुगीन प्राकृत, जिसका स्वरूप आज भी योगवाही है, चार मुख्य भाषाओं में रूपान्तरित हुई। पश्चिम की ओर हमें सिन्ध घाटी में अपभ्रंश (क्षीयमाण), और दोआब में शौरसेनी मिलती है जिसका केन्द्र मथुरा माना जाता है। शौरसेनी की सन्तति हैं गौर्जरी (गुजराती), आवन्ती (पश्चिमी राजस्थानी) और महाराष्ट्री (पूर्वी राजस्थानी)। वर्त्तमान समय में पूर्वी प्राकृत मागधी के रूप में दिखलाई पड़ती है। यह आधुनिक विहार अर्थात् मगध की प्रान्तीय भाषा है। साथ ही साथ अर्धमागधी का भी जन्म हुआ जिसका केन्द्र वाराणसी है। इन मध्ययुगीन प्राकृत भाषाओं का संस्कृत साहित्य से सम्बन्ध महत्व का रहा है; कारण, संस्कृत नाटकों में अशिष्ट वर्ग के मध्यमपात्र इन्हीं प्राकृत भाषाओं का प्रयोग करते रहे हैं। भारतवर्ष की आधुनिक आर्यभाषाएँ इन्हीं प्राकृत भाषाओं से निकली हैं — अपभ्रंश से सिन्धी, पश्चिमी पंजाबी और काश्मीरी भाषाएँ प्रसूत हुईं। शौरसेनी से पूर्वी पंजाबी, प्राचीन आवन्ती अर्थात् हिन्दी और गुजराती निकली हैं। मागधी के पूर्वोक्त दो रूपों से एक ओर मराठी का और दूसरी ओर बंगाल की विभिन्न बोलियों का प्रादुर्भाव हुआ। लगभग ईसवी सन् १००० से विकसित होनेवाली ये आधुनिक जनभाषाएँ अब प्रत्यय-प्रधान न रहीं, परन्तु अंग्रेज़ी की भाँति अयोगवाह बन गई हैं। जिस तरह प्रत्यय-प्रधान लैटिन भाषा से निकल कर यूरप की आधुनिक भाषाएँ स्वच्छन्द चल पड़ी हैं, उसी के समानान्तर प्राचीन संस्कृत से विलग हो भारत की आधुनिक देश-भाषाएँ विकसित हो रही हैं। उन्होंने अपने-अपने साहित्य की समृद्धि की, जिसका आधार पूर्णरूप से संस्कृत ही है। दक्षिण प्रान्त की आर्येतर भाषाएँ द्रविड़ वर्ग की हैं जिसमें तैलंग कर्णाटी, मळयाळी तथा तामिळ भाषाएँ हैं। यद्यपि ये भाषाएँ आर्यभाषाओं से स्वतन्त्र हैं तथापि इनमें संस्कृतभाषा से परिगृहीत शब्दों का प्राचुर्य है, और इनका साहित्य संस्कृत साहित्य के आदर्शों से सर्वथा प्रभावित है।

द्वितीय अध्याय

वैदिक युग

हमें भारतीय साहित्य-सौध के प्रवेशद्वार पर ही, आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व से प्रचलित गीतिकाव्यों की परम्परा उपलब्ध होती है। वह भारोपीय परिवार के किसी भी अन्य शाखा की साहित्यिक रचनाओं से प्राचीनतम होने पर भी, अपने भावगत सौन्दर्य एवं परिमार्जित स्वरूप, तथा भाषागत शब्दसौष्ठव एवं समुचित प्रयोग, और मनोहारि छन्दों के कारण सविशेष गौरव रखती है। इस दृष्टि से कोई एक हज़ार वर्ष तक रचित भारतीय साहित्य पर एकान्तरूप से धार्मिक छाप है। वैदिक युग की अन्तिम रचनाएँ साक्षात् धार्मिक स्वरूप की न होने पर भी धार्मिक लक्ष्य को ही रखने वाली हैं। इसी व्यापक अर्थ को लेकर 'वैदिक' शब्द का प्रयोग इस प्रकरण में किया जा रहा है। वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है और इसका मुख्य अर्थ 'ज्ञान' है, परन्तु यह पद समस्त धार्मिक ज्ञान का वाचक होकर तत्सम्बन्धी साहित्य को लक्षित करता है। सामान्य अर्थ के अतिरिक्त वेद शब्द 'धार्मिक ग्रन्थ' रूप संकीर्ण अर्थ को भी बोधित करता है।

वैदिक युग में स्पष्टतः प्रतीयमान तीन साहित्यिक स्तर दीख पड़ते हैं। पहिला स्तर चारों वैदिक संहिताओं का युग कहा जा सकता है जो तत्कालीन ऋषियों की रचनात्मक कवित्व-शक्ति की देन है। संहिताओं में सूक्तों एवं प्रार्थनाओं का समूह है जिनका विनियोग विशेषकर सोमवल्ली से रस निकालते समय तथा देवताओं को सोमरस या घृत अर्पण करने की विधि के साथ कल्पित है। चारों वेदों के मन्त्रसमुदाय को संहिता कहते हैं जिनमें कर्मकाण्ड के विभिन्न प्रयोगों के लिये उपयुक्त मन्त्रों या सूक्तों का सङ्कलन है। ये संहिताएँ विभिन्न समय की रचनाएँ हैं और प्रत्येक का महत्त्व भी विभिन्न है। इनमें सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ऋग्वेद है। वही समस्त वैदिक साहित्य की आधारशिला है। 'ऋक्' शब्द का तात्पर्य है 'स्तुतिपरक मन्त्र'। अत एव

ऋचाओं या मन्त्रों के समुदाय को ऋग्वेद कह सकते हैं। इसमें मुख्यतः गीति पद हैं जिनके द्वारा विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है। अन्य शब्दों में, ऋग्वेद 'सूक्त-संग्रह' अथवा 'स्तोत्र-संग्रह' कहा जा सकता है।

व्यावहारिक दृष्टि से सामवेद का कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। इसमें ७५ सूक्तों को छोड़कर सब ही ऋग्वेद से उद्धृत हैं। उनकी क्रमिक रचना भी सोमयाग में विनियोग के अनुक्रम से की गई है। ये मन्त्र विशेष प्रकार के स्वर-ताल में गाये जाते हैं। इसी कारण ये 'साम' कहलाते हैं। सामों के सङ्कलन का नाम ही सामवेद है। सामवेद और यजुर्वेद में एक तात्विक अन्तर है। यजुर्वेद में न केवल ऋग्वेद से उद्धृत मन्त्रों का समावेश ही है अपितु गद्य में रचित अंश भी अनेक हैं। यजुर्वेद और साम में यह साम्य है कि विभिन्न यज्ञों में प्रयुक्त मन्त्रों का क्रमबद्ध सङ्कलन यजुर्वेद में भी पाया जाता है। यज्ञिय मन्त्रों को 'यजुष्' कहते हैं, और याजुष मन्त्रों के सङ्कलन के कारण इस संहिता की संज्ञा 'यजुर्वेद' है। इस संहिता के हमें दो रूप दिखाई देते हैं — एक वह, जिसमें केवल यज्ञिय प्रयोग विधि दी हुई है और दूसरा वह, जिसमें जहाँ तहाँ प्रयोग विधि का विवेचन भी दिया है। प्रारम्भ से ये ही तीन संहिताएँ धर्म के मूल ग्रन्थ मानी जाती हैं और आगे चलकर वैदिक साहित्य में समष्टि रूप से इन्हें 'त्रयीविद्या' (त्रिविधविद्या) — यह संज्ञा दी गई है।

चौथी संहिता, अथर्ववेद को चिरन्तन संघर्ष के पश्चात् संहिताओं में स्थान प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद में वर्णित विषय के समकक्ष विषय को प्रतिपादन करने वाले अंश को, तथा उसकी भाषा को देखते हुए अथर्ववेद निश्चय ऋग्वेद की अपेक्षा बहुत ही परवर्ती जान पड़ता है। रचना की दृष्टि से यह बहुत कुछ ऋग्वेद जैसा है। इसमें भी छन्दोबद्ध सूक्त हैं जिसका अधिकतर भाग ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल से उद्धृत है। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से यह ऋग्वेद से बहुत भिन्न है। अथर्ववेद में प्रतिपादित विचार बहुत ही प्राथमिक कोटि के हैं। ऋग्वेद में प्रायशः उच्चकोटि के देवताओं की स्तुति है जिनकी कल्पना अपेक्षाकृत अधिक विद्वान् एवं सुसंस्कृत विप्रजाति के द्वारा की गई है, परन्तु अथर्ववेद बहुशः आसुरी जगत् के जीवों को सन्तुष्ट करने वाले मन्त्र-तन्त्रों से परिपूर्ण है। साथ ही साथ इसमें भूत-प्रेत आदि निम्नकोटि की शक्ति को जादू-टोने से वश में करने के वे प्रयोग बताये गये हैं जो अधिकांश हीन जाति की साधारण जनता को सन्तोष देने वाले हो सकते हैं। तथापि कहना होगा कि ये दोनों

वेद एक दूसरे के पूरक हैं, और इस दृष्टि से ये दोही वेद चारों वेद में मुख्य कहे जा सकते हैं। पुरातन युग की अन्य साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में मानवों की धार्मिक विचारधारा को अङ्कित करने वाले ये ही दो ग्रन्थ कहे जा सकते हैं; और इनका महत्त्व उन पाठकों के लिए अपरिमित है जो मानवजाति के धार्मिक विश्वासों के विकास का अध्ययन करना चाहते हैं।

वेदों का रचनात्मक काल यहाँ समाप्त हुआ। तत्पश्चात् एक ऐसा युग आया जिसमें देवताओं के प्रति नई प्रार्थनाओं को नये सूक्तों द्वारा उपस्थित करने की अपेक्षा प्रतीत नहीं हुई, परन्तु यह कहीं अधिक प्रगुण समझा गया कि प्राचीन महर्षियों के द्वारा निर्मित सूक्तों का ही पारायण किया जाय जो अनेक पुरोहित परिवारों में वंश-परम्परा से प्राप्त होते रहे हैं। परिणाम यह हुआ कि पूर्वनिर्मित सूक्तों का क्रमशः वैदिक संहिताओं में समावेश हो चला और उन्हें भी प्रतिदिन श्रद्धेय गौरव प्राप्त होता गया। नवीन सूक्तों की रचना से यों विरत होने पर पुरोहितवर्ग ने अपनी प्रतिभा का प्रयोग यज्ञ के विधि-विधान को विस्तृत बनाने में किया। फलतः एक ऐसी प्रयोगविधि का प्रादुर्भाव हुआ जिसकी सूक्ष्मता का चक्रव्यूह इतना विकट है कि हिन्दुओं की यज्ञिय विधि के सदृश संसार में और कोई धार्मिक प्रयोग उतना जटिल कहा नहीं जा सकता। अब पुराने वैदिक सूक्तों और प्रयोगों का सविशेष महत्त्व केवल यज्ञिय कर्मकाण्ड के विनियोग में केन्द्रित हो चला। सूक्तों का विनियोग के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर पौरोहित्य विधि में एक नये विधान का प्रादुर्भाव हुआ जिसका विवरण 'ब्राह्मण' नाम के धार्मिक ग्रन्थों में पाया जाता है। इन ग्रन्थों में प्रार्थना एवं उपासना के साथ साथ ब्रह्म-सम्बन्धी विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं। अतः इस ग्रन्थराशि को 'ब्राह्मण' संज्ञा दी गई। यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना तब तक न हुई थी जब तक सूक्तों की प्रतिष्ठा अतिप्राचीन, सनातन एवं अपौरुषेय रचना के रूप में स्थिर न हो चुकी थी। यह वह युग था जब धार्मिक परम्परा के एकमात्र निधि, पुरोहितजाति अनुदिन प्रवर्तमान भाषागत परिवर्तन के कारण सूक्तों के यथार्थ तात्पर्य को भी भूल चुकी थी। ब्राह्मणग्रन्थ आद्योपान्त गद्य में रचित हैं। यत्र-तत्र इनका पाठ भी सूक्तों की भाँति स्वर से अंकित है। उनकी सविशेष महत्ता इस कारण है कि भारोपीय भाषा-परिवार में ये प्राचीनतम गद्य-लेख के प्रतीक हैं। इन ग्रन्थों की शैली अवश्य नीरस,

खेदकर, विकीर्ण एवं असंघटित है। तत्रापि इनकी रचना में उस युग की साहित्यिक प्रगति का क्रम अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का मुख्य ध्येय मन्त्रग्राम और विनियोग के बीच परस्पर सम्बन्ध को प्रकट करने का है। साथ ही साथ वे मन्त्रों का और विधि-विधान का सांकेतिक रहस्य भी उद्घाटित करते हैं। इस प्रकार के विवरण के समर्थन करने के लिए दिये हुए कुछ कथानक या उपाख्यान तथा कहीं-कहीं गम्भीर विचारों को छोड़, ये ग्रन्थ सामान्यतः साहित्यिक दृष्टि से किसी तरह भी रोचक नहीं हैं। यज्ञिय विधि को समझाने के लिए ये बीच-बीच में शब्दार्थ-सम्बन्धी, भाषा-सम्बन्धी अथवा शब्द-व्युत्पत्ति-सम्बन्धी अनेक ऊहापोह करते रहते हैं। विचार-विमर्श द्वारा ये जगत्-सृष्टि तथा ईश्वरवाद के अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने की चेष्टा भी करते हैं। जो भी हो, वस्तुतः ये निःसार एवं पण्डिताऊ विवेचनमात्र हैं। इनमें पुरोहितवर्ग की जो धार्मिक धारणाएँ प्रतिबिम्बित हैं वे अधिकांश कल्पित तथा तर्कहीन प्रतीत होती हैं। कहीं कहीं तो इनकी रूपकमयी कल्पनाएँ ऐसी बुद्धिशून्य और असंगत सी लगती हैं जैसी संसार में और कहीं ढूढ़ने पर मिल नहीं सकतीं। तथापि विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध धार्मिक विधियों पर रचित ग्रन्थों में से सर्वप्राचीन होने के नाते ये ग्रन्थ विश्व-धर्म के इतिहास के अध्येता के लिये अत्यन्त उपादेय हैं। इनमें भारतवर्ष की प्राचीन परिस्थिति के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह विदित होगा कि वैदिक साहित्य की इन दो पुरातन प्रणालिकाओं में बहुत ही स्फुट अन्तर है। संहिताएँ पद्य में रचित हैं और उनका अर्थ स्तुतिपरक है। ब्राह्मण-ग्रन्थ विवरणात्मक हैं और गद्य में रचित। संहिताओं में प्रतिपादित विचार सामान्यतः प्राकृतिक एवं भावात्मक या मूर्तरूप हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों का विषय कृत्रिम एवं आलोचनात्मक है। संहिताओं का वास्तविक महत्त्व अपने विचारपरम्परा के कारण है और ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व प्रयोग-विधान के कारण है।

प्रत्येक वेद के अपने अपने ब्राह्मण भिन्न हैं, और उनका प्रतिपाद्य विषय भी अपनी अपनी संहिता में विहित कर्मकाण्ड की विभिन्न विधियों के अनुसार पृथक् पृथक्।

ऋग्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ प्रयोगों का विवरण करते हुए प्रायः 'होता' नामक ऋत्विक् के ही कर्त्तव्यों को बतलाने में सीमित हैं। होता वह ऋत्विक् है जिसे प्रत्येक कर्म के लिये शास्त्र का उल्लेख कर उसमें उपयुक्त मन्त्रों को सूक्तों से उद्धृत कर विनियोग का निर्णय करना है। सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ केवल उद्गाताओं के कर्त्तव्यों का ही प्रतिपादन करते हैं जिनका काम मुख्यतः सामगान है। यजुर्वेद के ब्राह्मण अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के कर्त्तव्यों का विवरण करते हैं जो वास्तव में यागकर्म में यजमान का कार्य करता है। ऋग्वेद के ब्राह्मण प्रयोगक्रम की ओर कम ध्यान देते हैं और संहिता के सूक्तक्रम के अनुसार मन्त्रों का उल्लेख करने की ओर लक्ष्य नहीं रखते; परन्तु साम और यजुर्वेद के ब्राह्मण अपनी-अपनी संहिता के क्रम का निर्वाह करते हैं; कारण, ये संहिताएं स्वयं प्रयोग-क्रम के अनुसार रचित हैं। सामवेद के ब्राह्मण प्रायः मन्त्र का अर्थ नहीं बताते, परन्तु यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण सारी संहिता के मन्त्रों पर भाष्य की तरह व्याख्यान करते हैं।

भारतीय समाज के इतिहास में ब्राह्मण युग बड़े महत्त्व का है। इसी युग में वर्णव्यवस्था ने निश्चित रूप धारण किया जिसके अन्तर्गत आज जातीयता का सबसे बड़ा जटिल जाल बन गया है। पौरोहित्य-पद्धति ने यद्यपि वैदिक युग में ही पर्याप्त प्रतिष्ठा पा ली थी तथापि कहना होगा कि ब्राह्मण युग में उसे वह सत्ता प्राप्त हुई जो आज तक स्थिर है। विश्व में किसी अन्य देश का मानव समाज पौरोहित्य से इतना प्रभावित नहीं, जितना हिन्दुओं का है। कारण, हिन्दूजाति में धार्मिक विद्या के अध्ययन पर वंश-परम्परा से केवल पुरोहितों का ही एकाधिकार रहा है। इसके विपरीत, अन्य देशों में प्राथमिक समाज पर सत्ता योद्धाओं तथा कुलीनवर्ग के हाथ बनी रही। भारतवर्ष में पुरोहितों के वर्चस्व का कारण यह रहा कि वैदिक युग के प्रारम्भ में ही दिग्विजय का शौर्यमय जीवन समाप्त हो गया था और तत्पश्चात् भारत की समरेख भूमि पर विजेताओं का जीवन शारीरिक श्रम से हीन एवं अकर्मण्यसा बन गया था। ऐसी परिवर्तित परिस्थितियों में यज्ञ-यागादि-विधि के रहस्य को जानने वाले शिष्टजनों को शारीरिक बल के ऊपर बुद्धिबल का प्राधान्य स्थापित करने का अवकाश प्राप्त हुआ।

समय पाकर ब्राह्मण ग्रन्थ भी धार्मिक साहित्य में गिने जाने लगे और आगे चलकर इनकी गणना भी 'श्रुति' के अन्तर्गत हो गई। 'श्रुति' उसे

कहते हैं जिनका 'श्रवण' साक्षात् हुआ हो ; अथवा हम यों कहें कि प्राचीन महर्षियों को स्वयं आविर्भूत ग्रन्थराशि 'श्रुति' है। इसी कक्षा में ब्राह्मण ग्रन्थों के युग की पिछली कृतियों का समावेश है जो वस्तुतः आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। ये वे ग्रन्थ हैं जिनका अध्ययन-अध्यापन अरण्य के एकान्त वातावरण में करना उचित समझा गया। इसी कारण इस भाग को 'आरण्यक' कहा गया है। आरण्यकों के अन्तिम भाग को 'उपनिषद्' संज्ञा दी गई है, जो आद्योपान्त दार्शनिक ग्रन्थ हैं। ब्राह्मण-साहित्य की चरमावस्था उपनिषद् है। उपनिषदों में प्रतिपादित ईश्वरवाद ही आगे चलकर वेदान्त दर्शन के रूप में परिणत हुआ जो आधुनिक हिन्दू जाति में सर्वमान्य दर्शन है।

'श्रुति' को निरपेक्ष प्रमाण माना है। धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों को प्रतिपादन करने वाले परवर्त्ती ग्रन्थों की अपेक्षा यह प्रबल प्रमाण है। ये परवर्त्ती रचनाएँ 'स्मृति' कहलाती हैं ; कारण, ये उस रूढ़ि का स्मरण कराती हैं जो प्राचीन महर्षियों की परम्परा से प्राप्त है।

यहाँ हम वैदिक साहित्य की तीसरी और अन्तिम अवस्था पर पहुँच जाते हैं। यह सूत्रों का युग है। 'सूत्र' संक्षिप्त रूप में रचित ग्रन्थ हैं जिनमें एक ओर श्रौत पद्धति का विवरण है और दूसरी ओर हिन्दू-समाज के सामाजिक जीवन के नियमों का विवेचन है। सूत्र साहित्य के रचना का कारण एक अनिवार्य सामाजिक आवश्यकता थी। उस युग की माँग थी कि धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों का अतिविस्तृत एवं विशाल कलेवर किसी सुनिश्चित रूप में रख दिया जाय और साथ ही साथ उसे एक ऐसा संक्षिप्त रूप दे दिया जाय जिससे उसके पठन-पाठन में स्मरण शक्ति पर अधिक भार देना न पड़े। सूत्र-साहित्य का प्रधान लक्ष्य यत्र-तत्र विकीर्ण सामग्री को एकत्र उपस्थित करने का रहा है। उनका लक्ष्य संस्कार एवं परम्पराओं का रहस्य समझाने का नहीं ; परन्तु समस्त प्रयोगों तथा आचारों का आद्योपान्त विधिवत् विवरण प्रस्तुत करना उनका मुख्य उद्देश्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये अत्यन्त संक्षिप्त शैली की आवश्यकता प्रतीत हुई ; और इस आवश्यकता की पूर्ति भारतीय साहित्य में उस उत्कृष्ट सफलता के साथ हुई जैसी विश्व के और किसी साहित्य में नहीं है। इस साहित्य की 'सूत्र' यह संज्ञा अपने असली स्वरूप एवं लक्ष्य तथा अत्यन्त संक्षिप्तता की ओर संकेत करती है ; कारण 'सूत्र' शब्द का तात्पर्य 'डोरा' या 'संकेत' है। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'सिव्' धातु से है जिसका अर्थ सीना या पिरोना होता

है। सूत्र गद्य में रचित हैं और उनका रूप इतना संक्षिप्त है और शब्दों की रचना इतनी संतुलित है कि उनकी तुलना में सांकेतिक तार भी अधिक विस्तृत ही प्रतीत होते हैं। कई सूत्रों का तो बीजगणित जैसा रूप है जिनका तात्पर्य सविस्तर भाष्यों के बिना समझना असम्भव है। व्याकरण के सूत्र संक्षिप्तता एवं सांकेतिकता के आदर्श कहे जा सकते हैं। वैयाकरणों के मत में एक मात्रा का भी बचा लेना पुत्रोत्सव के तुल्य माना गया है। इस उक्ति का पूरा महत्त्व तब ही समझ में आ सकता है जब इस ओर ध्यान दिया जाय कि ब्राह्मण को अपुत्र रहने पर स्वर्ग प्राप्ति से वञ्चित रहना पड़ता है।

सूत्र साहित्य के अन्तर्गत विविध रचनाएँ प्रायः एक सी हैं, तत्रापि यह स्वाभाविक ही है कि इस प्रकार की कृतियाँ कई युगों में रची गई हों। अत एव यह कहा जा सकता है कि जो रचनाएँ विषय को अत्यन्त संक्षिप्त एवं केन्द्रित रूप से प्रतिपादित करने वाली हैं, निश्चय परवर्त्ती हैं; कारण, सूत्र शैली का विकास उत्तरोत्तर क्रम से ही हुआ जिसमें अधिकाधिक संक्षिप्त रूप की रचना ही प्रधान लक्ष्य रहा है। यह सच है — आज तक भारतीय साहित्य के अनुशीलन के बल सूत्र-साहित्य के रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत किया नहीं जा सकता, तथापि भाषा-शास्त्रीय अन्वेषण से यह प्रकट है कि सूत्र-रचना का काल लगभग पाणिनि के आस पास का है। बहुतेरे सूत्र तो उससे कहीं पूर्ववर्ती भी कहे जा सकते हैं। अत एव यह कहना मिथ्या न होगा कि सूत्र साहित्य के विकास का काल ईसा पूर्व ८०० से लगाकर २०० तक रहा हो।

वैदिक कर्मकाण्ड की परम्परा हमें दो रूपों में प्राप्त हुई। उनमें से प्रथम वर्ग के अन्तर्गत 'श्रौतसूत्र' हैं जो श्रुति (ब्राह्मण ग्रन्थ) पर आधारित हैं और जिनमें बड़े बड़े यज्ञों की प्रयोग विधि बताई है। श्रौत कर्म में तीन या उससे अधिक वैतान अग्नि की तथा विविध ऋत्विजों की आवश्यकता होती है, तथापि एक भी श्रौतसूत्र ऐसा नहीं है जो कि यज्ञ का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता हो। कारण, ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति उनमें भी प्रत्येक वेद के अनुयायी तीन प्रकार के ऋत्विजों की क्रियाओं का ही वर्णन मिलता है। अत एव किसी भी यज्ञिय विधि का पूर्ण स्वरूप जानने के लिए एक श्रौतसूत्र के अतिरिक्त दूसरे दो वेदों के सूत्रों में प्रतिपादित विवरण का अनुसन्धान भी आवश्यक हो जाता है।

कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे वर्ग के सूत्रों का आधार स्मृति है। ये गृह्यसूत्र कहलाते हैं जिनमें गृहस्थ के द्वारा सम्पाद्य विधियों का विवरण है। ये विधियाँ दैनिक जीवन के गार्ह्यपत्य अग्नि पर सम्पन्न होती हैं। नियमानुसार, इन विधियों का अनुष्ठान ऋत्विज के द्वारा नहीं किया जाता परन्तु स्वयं गृहस्थ ही अपनी सहधर्मचारिणी के साथ इनका अनुष्ठान करता है। इसी कारण इन गृह्यसूत्रों में कोई मौलिक भेद नहीं दीखता; केवल इधर उधर कुछ अंश कम या ज़्यादा कर दिया गया है। कहीं तो केवल अनुक्रम में या शब्दों में साधारण सा परिवर्तन मिलता है। इतना अवश्य है कि प्रत्येक गृह्यसूत्र में अपने अपने वेद की शाखा के मन्त्रों का ही प्रयोग विहित है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि प्रत्येक गृह्यसूत्र अपनी अपनी शाखा के श्रौतसूत्र से सम्बन्ध रखता है, तथा उसमें प्रतिपादित विधि से परिचय की अपेक्षा करता है। सूत्र इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध होने पर भी पृथक्-पृथक् ही मानने योग्य हैं।

सूत्रों का एक और वर्ग हैं जो सामाजिक एवं दण्डनीति एवं व्यवहार-नीति का प्रतिपादन करता है। उनका आधार भी गृह्यसूत्रों की तरह स्मृति ही है। ये धर्म-सूत्र कहलाते हैं जो समान्यतः भारतीय विधान के प्राचीनतम स्रोत हैं। 'धर्म' शब्द का अर्थ आचार-नीति तथा आराधना-पद्धति है। अत एव धर्मसूक्तों का मुख्य लक्ष्य धार्मिक है। उनका सम्बन्ध वेद से बहुत ही निकट है जिसका आधार वे स्वीकार करते हैं। परवर्ती स्मृतियाँ भी इस बात को सूचित करती हैं कि धर्मसूत्रों का आदिमूल वेद हैं।

सूत्रों की भाषा अत्यन्त परुष एवं अपरिमार्जित है। उनकी प्रतिपादन-शैली दुरूह एवं नीरस है। साहित्यिक रचना के रूप में निश्चय ही सूत्रसाहित्य ब्राह्मणसाहित्य की अपेक्षा निम्नकोटि का है। किन्तु प्रतिपाद्य की महत्ता की दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृत साहित्य का यह विचित्र रूप अत्यधिक महत्त्व का है। विश्व के अन्य प्राचीन साहित्यों में कर्मकाण्ड-पद्धति का ज्ञान हमें इधर उधर बिखरे हुए सन्दर्भों से संकलित करना पड़ता है परन्तु भारतीय सूत्रों में समस्त पौरोहित्य एकत्र निहित है। अतः ये यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड के आधारग्रन्थ हैं। उनका उपयोग ऋत्विग्गण सदा करते रहे हैं।

सूत्रों में प्रतिपादित विवरण इतना सूक्ष्म एवं क्रमबद्ध है कि विभिन्न यज्ञों का साक्षात् अनुष्ठान देखे बिना सूत्रों का सूक्ष्म अर्थ समझना प्रायः दुःसाध्य

है। इस कारण ये हिन्दुओं की धार्मिक संस्थाओं के इतिहास को जानने के लिये बहुत ही आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त सूत्रों का एक और भी महत्त्व है। विश्व की किसी भी अन्य मानव जाति की उपेक्षा हिन्दुओं का जीवन वैदिक युग में भी विभिन्न धार्मिक विधियों के महाजाल से कहीं अधिक घिरा हुआ था। अतः उनकी दैनिक चर्या, उनकी गृह्यविधि और व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले सूत्र ही प्राचीन भारत की सामाजिक स्थिति के अध्ययन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण आधार कहे जा सकते हैं। रूढ़ि अथवा परम्परा के अन्तर्गत आने वाले समस्त विषय का सुसंगृहीत कोष यदि कहीं है तो वह यही सूत्र-साहित्य है।

उपर्युक्त श्रौत एवं धर्म सूत्रों के अतिरिक्त सूत्रयुग में अनेक ग्रन्थों की रचनाएं इसी शैली में हुई हैं जिनका स्वरूप धर्मसम्बन्धी न होते हुए भी आधार धर्म ही है। ऐसे ग्रन्थों की रचना वेदाध्ययन के विधिवत्सम्पादन के हित हुई। इन सूत्रों का निर्माण सूक्तों को यथावत् समझने में तथा उनके शुद्ध उच्चारण में भाषा के क्रमिक परिवर्तन के कारण दिनों दिन बढ़ती हुई कठिनाइयों के कारण ही हुआ। ऐसे ग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य वेद मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण तथा अर्थज्ञान है। इस सहायक सूत्र-साहित्य में प्रातिशाख्य सूत्र प्रमुख रचना है। इन सूत्रों में स्वर-भेद, उच्चारण का प्रकार, वैदिक छन्द आदि अनेक विषय हैं जिनका विशेषतः सम्बन्ध वाक्यरचना में प्रयुक्त होने पर वैदिक पदों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन से है। इन रूपों में कई सूक्ष्म विषयों का विवेचन है जो आजकल यूरप में भाषाशास्त्रियों के अध्यवसाय का विषय है। इसी आनुषङ्गिक साहित्य की एक और महत्त्वपूर्ण शाखा व्याकरण है। व्याकरण के क्षेत्र में भाषाविषयक विश्लेषणात्मक अध्ययन में भारतीयों ने वह सफलता पाई जो और किसी राष्ट्र को नहीं मिली। इस दिशा में प्रस्तुत प्राचीन प्रयत्नों का हमें बहुत ही स्वल्प ज्ञान है। कारण, पूर्ववर्त्ती समस्त साहित्य पाणिनि के सूत्रों द्वारा बिल्कुल समाक्रान्त हो गया है। यद्यपि पाणिनि सूत्र-युग के मध्यवर्ती ही कहे जा सकते हैं तथापि कहना होगा कि पाणिनि से ही संस्कृत-युग की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई और परवर्ती समग्र साहित्य पाणिनि द्वारा कसे हुए भाषा के ढाँचे में ढला हुआ ही दृष्टिगोचर होता है।

सूत्र-युग में एक प्रकार की और रचनाएँ हुई हैं जिनका लक्ष्य वैदिक संहिता का यथावत् परिरक्षण ही रहा है। उन्होंने संहिता के कलेवर में

किसी प्रकार क्षति अथवा परिवर्तन नहीं होने दिया है। ये अनुक्रमणियाँ हैं, जिनमें प्रत्येक सूक्त के प्रतीक, उसके रचयिता, उसके देवता तथा मन्त्र-संख्या और छन्द का उल्लेख है। एक अनुक्रमणी में तो अन्यान्य विषयों के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुल कितने सूक्त, कितने मन्त्र, कितने शब्द और यहाँ तक कि कितने वर्ण हैं — इनकी भी परिगणना की है।

साधारण रूप से वैदिक युग के सर्वेक्षण के पश्चात् अब हम इस युग में रचित साहित्य का सविस्तर अध्ययन विभिन्न पहलुओं से प्रस्तुत करते हैं।

अध्याय ३

ऋग्वेद

भारतीय साहित्य के अरुणोदयकालीन धूमिल प्रकाश में हमारी ऐतिहासिक दृष्टि आर्य आदिवीरों के स्वरूप का कुछ-कुछ अवलोकन कर सकती है। ये आदिवीर पश्चिम से आए हुए हिन्दुस्तान के विजेता हैं। ये भी पश्चिमोत्तर घाटियों से ही देश में घुसे हैं। यह वही मार्ग था जिसके द्वारा आगामी युगों में सतत आक्रमण होते रहे और फलस्वरूप भारत की भूमि सदा आक्रान्त रही। इस विजेता जाति की प्राचीनतम रचनाओं ने अपनी भाषा और संस्कृति के साथ समस्त देश पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यह उस युग की बात है जब कि सिन्ध नदी के उभय तट की सीमाओं पर पूर्वी काबुल और पंजाब के नाम से प्रसिद्ध प्रदेश पर आर्य जाति ने अपना अधिकार जमा रखा था। आर्यों की यह प्राचीन रचना हमें ऋग्वेद नामक सूक्त-सञ्चय के रूप में परम्परा से प्राप्त हुई। ये सब सूक्त एक ग्रन्थ में सङ्कलित क्योंकर हुए — इसका कारण सामवेद एवं यजुर्वेद की भाँति व्यावहारिक नहीं, परन्तु वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक है। वह कारण है इस प्राचीन साहित्य के सम्पादकों का निस्सन्देह लक्ष्य रहा कि अपना साहित्य इस पुरातन युग में परिवर्तन एवं विनाश से बचा रहे। आज के युग में ऋग्वेद की केवल शाकल शाखा की संहिता ही उपलब्ध है जिसमें १०१७ सूक्त हैं। यदि इस संख्या में वालखिल्य नामक ग्यारह परिशिष्ट सूक्त, जो अष्टम मण्डल के मध्य प्रक्षिप्त हैं, जोड़ दिये जाँय तो ऋग्वेद की सूक्तसंख्या १०२८ होती है। इन सूक्तों का सङ्कलन दस मण्डल में किया गया है। आयाम प्रत्येक मण्डल का भिन्न है सिवा इसके कि दशम मण्डल में उतने ही सूक्त हैं जितने प्रथम मण्डल में हैं। यह गिना गया है कि ऋग्वेद सूक्तों का आकार ठीक उतना ही है जितना महाकवि होमर की कविताओं के उपलब्ध अंश का है।

दसों मण्डलों का स्वरूप एकसा नहीं; उनमें से ६ मण्डल, संख्या २ से ७, विविध रूप हैं। सर्वप्रथम तो ये विभिन्न ऋषियों के द्वारा या उनके गोत्रजों द्वारा रचित हैं। यह बात अन्तःसाक्ष्य से प्रमाणित है। निस्सन्देह ये दीर्घ काल से पृथक् पृथक् ऋषिकुल को प्राप्त हुए, और उन्हीं कुलों में इनकी रचना भी ग्रथित हुई। इन कुल-ग्रन्थों में ग्रथित सूक्तों की रचना एकरूप है और वह इतर ग्रन्थों की रचना से भिन्न है। पहिला, आठवाँ और दसवाँ मण्डल एक ही ऋषिकुल के द्वारा रचित प्रतीत नहीं होते। इनमें कहीं कहीं मिश्रण है। इनका वर्गीकरण रचयिता के आधार पर है। नवम मण्डल के सूक्तों की रचना किसी भी तरह अपने निर्माताओं से सम्बन्ध नहीं रखती। उनका सङ्कलन एकत्र इस कारण हुआ है कि सभी सूक्त एक ही सोमदेवता को सम्बोधित हैं। इस मण्डल का वर्गीकरण छन्दःसाम्य पर आधारित है। कुल-ग्रन्थों में भी अनेक वर्ग हैं, परन्तु यह वर्गीकरण एक ही देवता को सम्बोधित सूक्तों को एकत्र सङ्कलन करने के अभिप्राय से किया गया है। ऋग्वेद के समस्त मण्डलों की रचना में परस्पर सम्बन्ध के मूलाधार पर विचार करने से यह विदित होता है कि २ से ७ वें मण्डल तक सङ्कलन का क्रम एक ऐसा है जिसमें सूक्त-संख्या उत्तरोत्तर वर्धमान पाई जाती है। इन मण्डलों की एकरूपता एवं आभ्यन्तर रचना के साथ साथ यदि सूक्त-संख्या की क्रमशः वर्धमानता पर विचार करें तो यह सम्भावित है कि ऋग्वेद का मौलिक रूप इन छः मण्डलों का ही रहा हो जिसमें समय समय पर शेष मण्डल जोड़ दिए गये हैं। यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि प्रथम मण्डल के द्वितीय भाग के अन्तर्गत नौ छोटे छोटे संग्रह एक ही रचयिता के द्वारा निर्मित होने के कारण बाद में कुल-ग्रन्थों में पूर्वत्र जोड़ दिए गये हों। इस भाग का सङ्कलन वास्तव में आभ्यन्तर रचना के आदर्शरूप किया गया है।

अष्टम मण्डल के सूक्तों में सामान्यतः पारस्परिक एकता उतनी स्पष्ट नहीं जितनी कुल-ग्रन्थों में मिलती है; कारण, इनमें कई शब्दों और उक्तियों को कई जगह दुहराया गया है। अतएव अष्टम मण्डल की रचना कुल-ग्रन्थों के सुसदृश नहीं कही जा सकती। इस मण्डल में एक ही कवि-कुल के द्वारा अधिकांश रचनाएँ की गई हैं यद्यपि इसकी एक अपनी ही शैली है; साथ ही साथ अष्टम मण्डल में सातवें मण्डल की अपेक्षा सूक्त बहुत कम हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आठवाँ मण्डल कुल-प्रणीत मण्डलों के वर्ग में नहीं है।

प्रथम मण्डल के प्रथम भाग (सूक्त १०–५०) में अष्टम मण्डल के साथ बहुत कुछ साम्य दीखता है। आधे से अधिक सूक्त कण्व-कुल के द्वारा रचित बताये गये हैं, और कण्व-कुल द्वारा प्रोक्त सूक्तों में वही उनका प्रिय त्रिष्टुप् छन्द मिलता है जो अष्टम मण्डल का है। इतना ही नहीं, परन्तु उसमें कई मण्डल ज्यों के त्यों हैं। अनेक स्थानों पर पदावली भी सुसदृश है। यह निर्णय इस समय अवश्य असम्भव है कि इन दो भागों में से किसकी रचना पहले हुई और क्योंकर इतने समानान्तर होने पर भी ये पृथक् किए गये। तथापि इतना अवश्य निश्चित है ये दोनों किसी पूर्वस्थित सङ्ग्रह के आगे पीछे जोड़े गये हैं चाहे इनका पृथक् स्थान रचना के कालक्रम के अनुसार हो अथवा कण्वकुल की भिन्न शाखाओं के द्वारा निर्माण के कारण।

नवम सूक्त के सम्बन्ध में तनिक भी सन्देह नहीं कि वह आठों मण्डल सुघटित हो जाने के पश्चात् ही रचा हुआ है। वास्तव में आठ मण्डलों के सङ्कलन का ही वह साक्षात् फल है। सोम पवमान के रचयिता उसी कुल के ऋषि हैं जिन्होंने २–६ मण्डलों की रचना की है। इतर साम्य के अतिरिक्त यही पर्याप्त प्रमाण है कि नवम मण्डल के सूक्तों में उन ध्रुवपदों को हम पाते हैं जो कुल-मण्डलों की विशेषता है। पवमान सूक्तों में प्रथम एवं अष्टम मण्डल के साथ साम्य भी मिलता है। विभिन्न ऋषिकुलों द्वारा प्रणीत सूक्तों के सङ्कलन के समय समस्त पवमान सूक्त एकत्र कर संगृहीत किए गये थे। इससे यह तात्पर्य नहीं कि पवमान सूक्त अर्वाचीन हैं प्रत्युत कुछ पवमान सूक्त दशम मण्डल की रचना के समकालीन हो सकते हैं। यह मान लेना उपयुक्त है कि सोमसूक्तों की रचना की अवेस्ता के साथ अनेक अंशों में समानता है। उनमें एक ऐसी विधि है जिसका उद्गम हिन्द-ईरानी युग में हुआ, और वह वैदिक पाठकों के प्रारम्भिक समय तक चली आ रही थी। नवम मण्डल के सूक्तों में कालसम्बन्धी भेद लुप्त सा है। जो भी हो, आधुनिक अन्वेषण को अद्यावधि इस सङ्ग्रह के पौर्वापर्य को निश्चित करने में किसी तरह सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

दशम मण्डल के सम्बन्ध में तो यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उसकी रचना प्रथम नौ मण्डलों के बाद हुई। इसके प्रणेताओं को पूर्व मण्डलों के साथ भली भाँति परिचय था, जिसका आभास हमें दशम मण्डल में स्थान स्थान पर मिलता है। दशम मण्डल का रचयिता २० से २६ सूक्तों के प्रारम्भ में 'अग्निमीळे' का प्रयोग करता है जो ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है। इससे यह प्रतीत होता है कि उन दिनों प्रथम नौ मण्डल संहिता के रूप में मिलते थे।

सोमाध्याय के पश्चात् दिये हुये सूक्तों से पता चलता है कि दशम मण्डल प्रकीर्ण सूक्तों का समुदाय है जिसमें प्रथम मण्डल के अनुरूप १९१ सूक्तों की संख्या उपपन्न की गई। दशम मण्डल को ऋग्वेद संहिता का अवयव मानने का निमित्त कालिक है, कारण, इस मण्डल में कई तो नये स्फुट सूक्त हैं और कई सूक्त वर्गबद्ध मिलते हैं। तत्रापि यह कहा जा सकता है कि दशम मण्डल में उपलब्ध अन्तर्निवेश अन्य मण्डलों में किये हुए अन्तर्निवेशों की अपेक्षा प्राचीनतर हैं।

दशम मण्डल की रचना काफी बाद की है। इसके लिए रचना का रूप और प्रतिपाद्य दोनों ही प्रमाण हैं। जहाँ तक देवतावाद का सम्बन्ध है हमें पता चलता है दशम मण्डल के ऋषियों पर पूर्ववत् वैदिक देवताओं का प्रभाव बहुत कुछ कम हो गया था। उषस् देवताओं का तो बिलकुल लोप हो गया। इन्द्र और अग्नि जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ देवता ही अपना स्थान बनाये रहे। विश्वेदेवों का वर्ग अवश्य अधिक महत्त्व पा गया है। कुछ नये भावात्मक देवताओं का प्रादुर्भाव भी हुआ, जैसे रोष और श्रद्धा का देवरूप में प्रथमावतार दशम मण्डल में ही पाया जाता है। इतना ही नहीं, परन्तु इस मण्डल में विविध नवीन विषयों पर अनेक सूक्त हैं जिसकी चर्चा पहले कभी न हुई। उदाहरणार्थ, जगत् उत्पत्ति के सम्बन्ध में, आध्यात्मिक विषय में, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कार के सम्बन्ध में तथा अन्यान्य मन्त्र तन्त्र आदि पर अनेक सूक्त हैं, जो इस मण्डल की अपेक्षाकृत अर्वाचीनता के साथ साथ विषयभेद के नाते पार्थक्य सिद्ध करते हैं।

भाषा की दृष्टि से भी दशम मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा परवर्ती प्रतीत होता है। उसमें स्पष्ट ही ऋग्वेद और इतर वेदों के बीच की सन्धि दीख पड़ती है। उदाहरणार्थ, स्वरों का लोप अधिकाधिक होने लगा और अवग्रह कम होने लगे। लौकिक संस्कृत की तरह रेफ के स्थान पर लकार का प्रयोग होने लगा। प्रत्ययों में प्रथमा बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'आसस्' धीरे-धीरे कम हो चला। शब्द-संग्रह के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि कई पुरातन शब्दों का प्रयोग समाप्त हो गया और उनके स्थान पर दूसरे शब्द साधारण से बन गये; जैसे 'सिम', जो शेष ऋग्वेद में पचास बार आया है दशम मण्डल में केवल एक ही स्थान पर दीख पड़ता है। इसके अतिरिक्त 'लभ्' और 'काल', 'लक्ष्मी' और 'एवम्' जैसे लौकिक साहित्य के शब्द दशम मण्डल में बहुधा मिलते हैं। जानबूझ कर प्रयोगों को आर्षरूप देने की चेष्टा भी दशम मण्डल में स्पष्ट झलकती है।

इन सब बातों से यह स्फुट है कि दशम मण्डल निश्चय ही ऋग्वेद संहिता की रचना के परवर्ती स्तर को प्रकट करता है। पूर्वतन मण्डलों में भी ऐसे कुछ सूक्त अवश्य हैं जिनकी रचना सर्वसम्मत सिद्धान्तों के आधार पर कुछ बाद में हुई जान पड़ती है। इस दिशा में इतनी प्रगति हो गई है कि हम कम से कम ३ या ५ निर्माण युग का पृथक्करण कर सकते हैं। अनुसन्धान अभी तक इस कोटि को नहीं पहुँचा है कि वह समस्त मण्डलों के विभिन्न वर्गों के निर्माण का समय यथावत् अङ्कित कर सके; कारण, यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि सूक्तों का संग्रह क्रमशः आगे पीछे होता रहा है और बीच बीच में नवीन सूक्तों का अन्तर्निवेश होना कदापि ऋग्वेद के काल को परवर्ती सिद्ध नहीं कर सकता।

ऋग्वेद में उपलब्ध समस्त सूक्तों के निर्माण में अवश्य ही कुछ शताब्दियाँ लगी होंगी। साथ ही साथ इसमें कुछ सन्देह नहीं कि भारतीयों के इरानियों से पृथक् होने के पश्चात् अवश्य ही कुछ समय बीच में व्यतीत हुआ होगा चाहे वह सुदीर्घ न रहा हो। इस परिवर्तन युग में कई और प्राचीन सूक्तों की निर्मिति हुई होगी जो नष्ट हो गये हैं और उनमें उपलब्ध प्राचीनतम सूक्तों की शैली का विकास भी अवश्य हुआ होगा। ऋग्वेद के प्राचीनतम अंश के निर्माता स्वयं ही अपने अग्रगामी ऋषियों का वर्णन करते हैं। वे भी उसी तरह सूक्त कहते थे और सूक्तों की प्राचीन परम्परा को जीवित रखने को उत्सुक थे। भाषिक साक्ष्य हमें दशम मण्डल को छोड़ शेष ऋक्-संहिता के रचना काल के विभिन्न युगों के निर्धारण करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देता। कारण, सभी सूक्तों में ऋषि-भेद होने पर भी भाषा सर्वत्र एक-रूप है। विचारगत भेद, और रीति एवं प्रतिभा में भी भेद चाहे मालूम पड़ जाय किन्तु भाषा के स्वरूप में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। इतना होने पर भी धीर एवं सूक्ष्म भाषाशास्त्रीय अन्वेषण रचना-क्रम, छन्द और प्रतिपाद्य विषयों से संकेत ग्रहण कर कुछ ऐसी सामग्री प्रसूत करने लगा है जिसके बल ऋग्वेद के अग्रिम मण्डलों का कालगत पौर्वापर्य निर्धारण करना सम्भव हो जाय।

यद्यपि हस्तलिखित ग्रन्थों की सहायता प्रारम्भिक युग के कालनिर्णय में बिलकुल अनुपयोगी है, तथापि यह सुख की बात है कि ऋग्वेद के लिये हमारे पास दो हज़ार वर्ष से पूर्व प्रचलित विभिन्न पाठान्तरों की प्रभूत सामग्री है। यह सामग्री इतर वेदों में है जिनकी रचना ऋग्वेद के अनेक सूक्त, मन्त्र एवं

पङ्क्तियों से निर्मित है। ऋग्वेद की समीक्षा के लिये वास्तव में इतर वेद ठीक वही काम करते हैं जो अन्य साहित्यिक विषयों के लिए हस्तलिखित ग्रन्थ कर सकते हैं। इस कारण हम परम्पराप्राप्त ऋग्वेद की संहिता के साथ अन्य अनेक प्राचीनतम पाठों का तुलनात्मक संग्रह कर सकते हैं जो यास्क एवं प्रातिशाख्यों में उल्लिखित विभिन्न पाठों से भी सचमुच पुरातन हैं।

इन विविध पाठ-भेदों के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि कतिपय अपवादों को छोड़ वर्तमान ऋग्वेद संहिता ठीक ऐसी ही उस समय भी थी जब सामवेद तथा यजुर्वेद के पूर्वरूप और अथर्ववेद की रचना हुई। ऐसे उदाहरण जहाँ ऋग्वेद का पाठ भ्रष्ट हो गया हो बिलकुल नगण्य से हैं। इससे यह पता चलता है कि वैदिक परम्परा का सार भाग जो हमें ऋग्वेद में मिलता है बहुत सीमा तक निश्चित एवं मौलिक पाठ के रूप में ईसा पूर्व १००० वर्ष से ज्यों का त्यों मिला है।

यह स्वाभाविक है वह आर्ष ग्रन्थ जिसका मूल ऐतिहासिक होकर इतर वेदों की रचना तथा प्रयोग विधि के निर्धारण से भी पूर्व इस प्रकार मौखिक परम्परा से संरक्षित रहा हो उसकी प्रामाणिकता शेष उन ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक रहे जिनकी रचना उत्तर काल में उसी के अंशों को ग्रहण कर केवल नवोन्मेषित पौरोहित्य पद्धति की अपेक्षाओं को सौकर्य से पूर्त्त करने के लिये हुई हो। ऋग्वेद से मन्त्रों को उद्धृत कर अपनी रचनाओं में निवेश करने वाले ऋषियों के लिए यह कोई आवश्यक न था कि वे प्राचीन पाठ को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए सतर्क रहें। कारण, उनका उत्तरदायित्व पाठ की सुरक्षा के लिये इतना अधिक न था जितना उन विद्वानों का, जो संहिता को मौखिक परिपाटी से जीवित रखने के लिये सचेष्ट थे। सामान्य नियम है कि परम्परा का नियन्त्रण उस स्थान पर शिथिल हो जाता है जहाँ नई परम्परा का प्रादुर्भाव होता है।

संहिता के पाठ की समीक्षा से भी ऋग्वेद की रचना के दो युग स्पष्ट होते हैं। पहला तो वह, जिसमें इतर वेद का अस्तित्व न था; दूसरा वह, जिसमें स्वरों के अनुसार वैयाकरण सम्पादकों के परिश्रम से संहिता-पाठ निर्धारित किया गया। केवल मौखिक परिपाटी से ही युग युग में वेद की प्राप्ति होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तिम पाठ के निर्माण के समय वह प्रामाणिक रूप में प्राप्त हुआ हो। इसकी भी गति अवश्य वैसी ही हुई जैसी और प्राचीन ग्रन्थों की होती है जो भाषा के विकसित स्वरूप

के युग तक पारम्परिक रूप से उपलब्ध होते हैं। प्राचीन युग में निश्चय ही ऋग्वेद के पाठ में कई त्रुटियाँ हुई हों, परन्तु अन्त में संहिता के सङ्कलन के समय, मालूम होता है, मौलिकता का निर्वाह बड़े ऊँचे स्तर पर किया गया। सूक्त निर्माताओं के मूल पाठ में सैकड़ों जगह संहिता के पाठ से भेद पाया जाता है परन्तु शब्द प्रायः वे ही रहे हैं। उदाहरणार्थ, इसमें कोई अनिश्चितता प्रतीत नहीं होती कि वास्तविक शब्द 'सुन्नम्' था या 'द्युन्नम्'। यह भेद तो लौकिक भाषा में प्रचलित सन्धि-नियमों के कारण ध्वन्यात्मक परिवर्तन का फल है, जिसे पहले 'तु अम् हि अग्ने' पढ़ते थे, उसे अब 'त्वं हि अग्ने' कहते हैं। इस रूप में भी पाठ को आधुनिक रूप देने का प्रयत्न पाक्षिक एवं क्वचित् ही हो पाया है। सन्धि-नियमों को लागू कर देने से संहिता पाठ में कई जगह छन्द अस्तव्यस्त हुए हैं। यदि हम छन्द के अनुसार पढ़ें तो प्राचीन पाठ का हमें पता सहज लग जाता है। साथ ही साथ संहिता-पाठ में छोटी सी छोटी बारीकी की ओर ध्यान दिया गया है। स्वर के सम्बन्ध में, तथा रूपान्तर के सम्बन्ध में भी उन सूक्ष्मताओं पर ध्यान दिया गया है जो आसानी से छोड़ दी जा सकती थीं। ये सब बातें 'वेद पाठ की शाब्दिक मौलिकता को सम्हाले रखने के लिये बहुत पहले से ही बड़ी सावधानी काम में लाई जाती थी' इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये एक अतिरिक्त प्रमाण है। प्रथम युग में परम्परा के कारण कुछ गलतियों और द्वितीय युग में व्याकरण के नियमों के कारण त्रुटियाँ हुई हैं जिन्हें छोड़, ऋग्वेद का प्राचीनतम ग्रन्थ इतने लम्बे समय तक हर सूरत ठीक ठीक सुरक्षित रखा गया — यह एक आश्चर्य की बात है।

संहिता-पाठ का काल

ब्राह्मणों में ऋग्वेदसम्बन्धी विवेचन से यह निश्चित होता है कि उस समय ऋग्वेद का पाठ पूर्णतः स्थिर हो गया था और वह भी उस विशेष रूप से जैसा यजुर्वेद के गद्यभाग में भी नहीं पाया जाता। शतपथ ब्राह्मण में प्रयोग विधि के अनुसार मन्त्रपाठ में कहीं कहीं परिवर्तन करने के प्रस्ताव पर यह कहा गया है 'ऋग्वेद के पाठ में अन्तर करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती'। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह भी लिखा है अमुक सूक्त में अथवा अमुक प्रयोग-कल्प से सम्बन्धित सूक्तों में कितने मन्त्र हैं। इस प्रकार के संख्या-सम्बन्धी उल्लेख वर्तमान ऋग्वेद के संहिता-पाठ से शब्दशः मिलते हैं परन्तु

ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहीं कहीं ऋग्वेद के मन्त्रों के पौर्वापर्य में अन्तर है अथवा कुछ मन्त्र इधर उधर छूट गये हैं जिसका कारण पाठभेद नहीं परन्तु प्रयोग-विधि की आवश्यकताएं है।

सूत्रों में ऋग्वेद की ऋचाओं के रूपान्तर भी दिये गये हैं परन्तु उसका कारण भी कोई प्राचीन पाठ-भेद नहीं, परन्तु वही प्रयोग-विधि के साथ सामञ्जस्य है। सूत्रों में कई उक्तियाँ ऐसी हैं जो संहिता के उपलब्ध रूप की वास्तविकता को प्रमाणित करती हैं। उदाहरणार्थ — जिस सूक्त के जिस मन्त्र का जो स्थान सांख्यायन सूत्र में उल्लिखित है अथवा जिस सूक्त में जितनी मन्त्र-संख्या बताई है वह ऋग्वेद-संहिता में ठीक ठीक वैसी ही मिलती है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि ऋग्वेद का अन्तिम रूप प्रकट करने वाला यह संहिता-पाठ कब तैयार हुआ। हम देख चुके हैं ब्राह्मणों में कई साक्षात् उक्तियाँ ऐसी हैं जो एक पदसमूह में जितने वर्ण हैं उनका भी उल्लेख करती है ; परन्तु आज के संहिता-पाठ में वैसा नहीं मिलता क्योंकि सन्धि-नियमों के कारण कई वर्ण कम हो गये हैं।

ब्राह्मण-साहित्य का प्राचीनभाग वैदिक ग्रन्थों से सम्बद्ध ध्वन्यात्मक प्रश्नों का किसी प्रकार विचार करते प्रतीत नहीं होता। इससे यह निर्णय किया जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना संहिता-पाठ के पूर्णतः निर्धारित होने तक नहीं हुई थी। ब्राह्मण-साहित्य के पूरक ग्रन्थ आरण्यक और उपनिषदों की बात कुछ भिन्न है। इन ग्रन्थों में कुछ वर्णों के समुदाय के लिये न केवल पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख ही मिलता है अपितु वैदिक-पाठ-सम्बन्धी ध्वनि-नियमों का भी विस्तृत विवरण है। इन्हीं ग्रन्थों में कतिपय वैदिक भाषा-शास्त्रियों का भी पहिली बार नामनिर्देश है, जैसे शाकल्य और माण्डूकेय, जो प्रातिशाख्यों में भी प्रमाण समझे जाते हैं। अतः यह कहना होगा कि व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्नों पर आरण्यक और उपनिषद् ऐसे ग्रन्थ हैं जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के युग एवं यास्क और प्रतिशाख्य के युग के मध्यवर्ती हैं। अत एव संहिता-पाठ निश्चय ही इस मध्य सन्धिकाल में, ईसा पूर्व ६०० वर्ष के लगभग निर्मित हुआ होगा।

पद-पाठ कर चुकने पर ऋषियों ने संहिता-पाठ को सुरक्षित रखने के लिये असाधारण प्रयत्न किया। प्रयत्न का फल यह हुआ कि विश्व साहित्य के इतिहास में कोई भी प्राचीन ग्रन्थ इतना पाठशुद्ध सदियों तक सुरक्षित न रहा जैसा कि वैदिक संहिता का पाठ है। इस दिशा की ओर पहिला

उपक्रम यह था कि ऋषियों ने पद-पाठ की पद्धति प्रस्तुत की। इसके अनुसार संहिता का प्रत्येक पद सन्धि-विश्लेषण कर पृथक्-पृथक् रखा गया। पद-पाठ से संहिता के प्राचीन रूप का भी पता चल जाता है। संहिता-पाठ के साथ ही साथ पद-पाठ की रचना भी हुई हो यह नहीं कहा जा सकता; कारण, उसमें कुछ निश्चित भ्रान्तियाँ एवं मिथ्याग्रह के निदर्शन मिलते हैं। तथापि इसमें सन्देह नहीं पद-पाठ की रचना संहिता के पाठ से कुछ ही बाद हुई होगी; कारण, ऐतरेय आरण्यक का रचयिता पद-पाठ से भली-भाँति परिचित प्रतीत होता है; साथ ही साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्थान-स्थान पर शाकल्य का उल्लेख करने वाले यास्क से तथा पद-पाठ पर सर्वथा आधारित ऋक्-प्रातिशाख्य के निर्माता शौनक से, पद-पाठ का रचयिता शाकल्य कहीं अधिक प्राचीन है।

निम्नलिखित कारणों से यह लक्षित होता है कि ऋग्वेद के मन्त्रों की प्रामाणिकता के लिये पद-पाठ सही माप-दण्ड है। ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे हैं—(६–५९–१२) (१०–१९०–१०३) जिनका पद-पाठ बनाया नहीं गया; परन्तु वे केवल संहिता के रूप में ही मिलते हैं। इससे पता चलता है शाकल्य ने उन्हें सचमुच ऋग्वेद के मन्त्र नहीं माने, और यह बात वस्तुतः अन्तःसाक्ष्य से भी प्रमाणित होती है। छह मन्त्रों का यह वर्ग[1] शाकल्य के द्वारा स्वीकृत प्राचीन संहिता के रूप और 'खिल' नामक नूतन अन्तर्निवेश के बीच समाविष्ट किया गया है। इसी कारण इन मन्त्रों को पद-पाठ में कहीं स्थान नहीं मिला।

क्रम-पाठ

वैदिक संहिता को सुरक्षित रखने के लिये एक और उपाय सोचा गया जिससे पाठ की निश्चितता और भी अधिक सुदृढ़ बन गई। वह उपाय क्रम-पाठ है। यह भी पद-पाठ की भाँति पुरातन है। इससे भी ऐतरेय आरण्यक का रचयिता परिचित था। क्रम-पाठ में प्रत्येक पद को दुहराते हैं जिससे वह पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती पदों में शृङ्खलित हो जाता है।

उदाहरणार्थ— पहले चार पद, यदि उन्हें क्रमशः अ, ब, स, द का नाम दे दें, तो इस तरह पढ़े जायेंगे 'अब, बस, सद'। उत्तरोत्तर क्रम में जटा-पाठ, क्रम-पाठ की आगे की सीढ़ी है। जटा-पाठ में प्रत्येक पद की तीन बार

१. ऋ. मं. ७ सू. ५९–१२; म. १० सू. २०–१; सू. १२१–१०; सू. १९०–१, २, ३।

आवृत्ति होती है। मध्यम आवृत्ति के समय पद-समूह को व्युत्क्रम से पढ़ा जाता है, जैसे 'अब, बस, सब, बस'। इस श्रृङ्खला-पद्धति की सीमा घन-पाठ है जिसमें पद-क्रम 'अब, बअ, अबस, सअब, अबस, बस, सब, बसद' के रूप में श्रृङ्खलित हो जाता है।

प्रातिशाख्य भी वेद-पाठ को सुरक्षित रखने के लिये रचे गये हैं। उनका लक्ष्य प्रधानतः पद-पाठ को संहिता-पाठ में परिणत करने के लिये अपेक्षित परिवर्तनों का निर्देशन है। अन्त में, कतिपय परिशिष्ट ग्रन्थ हैं, जिन्हें अनुक्रमणी कहते हैं। इनका लक्ष्य भी ऋग्वेद में प्रतिपादित विषयों का विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्गीकरण करना है। इसके अतिरिक्त, संहिता में कितने सूक्त, कितने मन्त्र, कितने पद और यहाँ तक कि कितने वर्ण हैं इसकी परिगणना भी अनुक्रमणिका में की गई है। ऋग्वेद की संहिता का हमें आजकल एक ही पाठ उपलब्ध है; परन्तु प्रश्न यह है कभी पहले ऋग्वेद के और भी पाठ थे और उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण कहीं उपलब्ध है? इसका उत्तर सूत्रकाल के एक 'चरणव्यूह' नामक संग्रह-ग्रन्थ में मिलता है। उसमें ऋग्वेद की पाँच शाखाओं का उल्लेख है—शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन, और माण्डूकेय। तीसरी और चौथी शाखा में कोई पाठभेद नहीं है, परन्तु उनमें और शाकलों में एकमात्र अन्तर यह है कि आश्वलायनों ने वालखिल्य नामक ११ प्रक्षिप्त मन्त्रों को भी मौलिक माना है। इसी तरह सांख्यायनों ने भी कुछ मन्त्रों को छोड़ वालखिल्यों को मौलिक स्वीकृत किया है। यही कारण है कि पुराणों में और उनके बाद की आख्यायिकाओं में ऋग्वेद की तीन ही शाखाएं मानी गई हैं। ये हैं — शाकल; बाष्कल और माण्डूकेय। मान भी लिया जाय कि माण्डूकेय शाखा का कहीं स्वतन्त्र पाठ हो भी, तो वह प्राचीन भारत के आदियुग में ही सम्भवतः लुप्त जान पड़ता है; कारण, उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का परिचय प्राप्त नहीं होता। अतः शाकल और वाष्कल ये दो ही शाखाएं विचारणीय हैं।

वेद के सहायक ग्रन्थों से इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि वाष्कल और शाकलों की शाखा में इतना ही अन्तर था कि वाष्कल शाखा में आठ सूक्त अधिक हैं और प्रथम मण्डल के सूक्तों में स्थान-भेद है। परन्तु उपलब्ध संहिता से तुलना करने पर यह भेद कोई तात्विक प्रतीत नहीं होता। अत एव यह सिद्ध है कि शाकलों की संहिता ऋग्वेद का सर्वोत्तम

परम्परा-प्राप्त पाठ ही नहीं, अपितु हमारे मत में तो वही एक वास्तविक पाठ कहा जा सकता है।

वैदिक-स्वर

ऋग्वेद तथा अन्य वेदों की संहिताएं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में से केवल दो ब्राह्मण, शतपथ और तैत्तिरीय, आरण्यकों सहित हमें सस्वर प्राप्त हुए हैं। संहिता जिस विशेष पूज्य भाव से देखी जाती है उसके निर्वाह और शुद्ध एवं वीर्यवत् स्वाध्याय के लिये स्वरों का होना अत्यन्त आवश्यक है। ग्रीक भाषा में भी कतिपय विद्वत्ता-पूर्ण एवं आदर्श ग्रन्थों में स्वराङ्कन की पद्धति लगभग ऐसी ही प्रचलित थी। वैदिक स्वर लयात्मक हैं और प्राचीन ग्रीक की भाँति स्वर के आरोह अवरोह पर निर्भर हैं। संस्कृत में यह स्वर-क्रम पाणिनि के कुछ समय बाद तक प्रचलित रहा। पुरानी ग्रीक में यह लयात्मक स्वर ईसवी सन् के प्रारम्भ में बलाघात के रूप में परिवर्तित हुआ, उसी तरह ईसा की सातवीं शताब्दी में अथवा और भी पहले से संस्कृत स्वरों में भी परिवर्तन होने लगा। तथापि यह कहा जा सकता है कि आधुनिक ग्रीक में यद्यपि बलाघात के रूप से स्वर प्रचलित है तो भी साथ साथ पुराने दीर्घ स्वरों के ऊपर आरोह-क्रम से भी स्वर उस वर्ण पर लगाया जाता है जहाँ प्राचीन भाषा में गेय स्वर का प्रयोग होता था। संस्कृत भाषा के आधुनिक उच्चारण में तो वैदिक स्वर के साथ कोई सरोकार नहीं, परन्तु बहुत कुछ लैटिन की तरह अन्तिम दो तीन वर्णों की मात्रा पर बलाबल निर्भर है, उदाहरणार्थ— उपान्त्य वर्ण यदि दीर्घ हो तो उस पर स्वर का बल दिया जाता है, जैसे **कालिदास**; अथवा उपान्त्य-पूर्व वर्ण यदि दीर्घ हो और उसके बाद ह्रस्व वर्ण हो तो उस पर स्वराघात दिया जाता है, जैसे **ब्राह्मण**, **हिमालय**···। संस्कृत भाषा में स्वर-पद्धति में यह परिवर्तन प्राकृत का प्रभाव है, जिसमें बलाघात की यह पद्धति ईसा पूर्व कई शताब्दियों से प्रचलित है।

ऋग्वेद तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में तीन प्रकार के स्वर थे। सबसे मुख्य उदात्त है, जो स्वर की आरोह अवस्था को जताता है और ग्रीक भाषा के आरोही के तुल्य है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान बताता है कि संस्कृत में स्वर ठीक उसी वर्ण पर लगता है जैसा आर्य भाषा के पूर्वरूप में प्रचलित था। ग्रीक भाषा में सामान्यतः उसी वर्ण पर स्वर होता है जैसा संस्कृत भाषा में भी पाया जाता है। अपवाद केवल उन्हीं स्थानों पर है जहाँ ग्रीक भाषा

के विशेष नियम बाधक होते हैं — जैसे त्रिवर्ण शब्दों में अन्तिम वर्ण पर ही स्वर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, ग्रीक भाषा का 'हेप्टा' शब्द वैदिक 'सप्त' का रूप है। अवरोही स्वर जो कि दीर्घ स्वर के पूर्व आता है अनुदात्त कहलाता है। तीसरा जो प्रायः दीर्घ स्वर के बाद आता है मध्यम स्वर है जिसे स्वरित कहते हैं।

वैदिक मन्त्रों पर स्वर लगाने की चार पद्धतियाँ हैं। उनमें से ऋग्वेद की प्रणाली प्रायः सर्वमान्य है। इसके दीर्घ वर्ण पर कोई चिह्न नहीं दिया जाता परन्तु अवरोही अनुदात्त का संकेत वर्ण के नीचे सीधी लकीर है। स्वरित वर्णों के ऊपर एक खड़ी लकीर का चिह्न बना दिया जाता है यथा—'यज्ञस्य' में द्वितीय वर्ण दीर्घ है और तृतीय स्वरित। दीर्घ स्वर को चिह्नित न करने का कारण यह है कि वह दो वर्णों का माध्यमिक स्वर है।[1]

वैदिक छन्द

ऋग्वेद के सूक्तों में तीन मन्त्र से लगाकर ५८ मन्त्र तक पाये जाते हैं परन्तु साधारणतः एक सूक्त में दस-बारह मन्त्र होते हैं। इनके छन्द कोई पन्द्रह प्रकार के हैं, जिनमें से सात छन्द बहुधा प्रयुक्त हैं; उनमें भी तीन तो बहुत ही साधारण हैं। इन तीन छन्दों द्वारा ऋग्वेद के लगभग चार पञ्चांश मन्त्र निबद्ध हैं।

ग्रीक और वैदिक छन्दों में तात्त्विक भेद है। ग्रीक छन्द में चरणों की इकाई है परन्तु वेद में चरण के लिये कोई स्थान नहीं; केवल पंक्तियों की गणना ही प्रधान है। तथापि यह एक विचित्र बात है कि वैदिक छन्द का भाग ही पाद कहलाता है। यद्यपि उस प्रयोग का प्रवर्तक हेतु भिन्न है। पाद शब्द का प्रयोग यहाँ पर चतुर्थांश के अर्थ में लाक्षणिक है (यह रूपक चौपाये से लिया है)। इसका कारण यह है कि मन्त्र प्रायः चतुष्पद होते हैं। साधारणतः एक पाद में ८, ११ अथवा १२ अक्षर होते हैं। प्रायः समान आकार की तीन या चार पंक्तियों से एक ऋक् बनती है। ऋग्वेद

१. शेष तीन पद्धतियाँ ये हैं—(१) कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी और काठक संहिताओं की, जिनमें उदात्त का चिह्न वर्ण पर खड़ी लकीर है; (२) शतपथ ब्राह्मण की, जिसमें उदात्त वर्ण रेखाङ्कित किये जाते हैं; और (३) सामवेद की, जिसमें आरोह-अवरोह की तीन मात्राओं के लिये सङ्ख्या-चिह्न १, २, ३ क्रमशः उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित वर्णों के ऊपर दिये जाते हैं।

में चार या पाँच मन्त्रों के छन्द अप्रचलित एवं विषम हैं जिनमें विभिन्न आकार-प्रकार की पंक्तियाँ पाई जाती हों।

यह ध्यान देने योग्य है कि वैदिक छन्दों में एक प्रकार का लोच है जिससे ग्रीक छन्दःशास्त्र बिलकुल अनभिज्ञ है और जो लैटिन भाषा में प्रयुक्त सैटर्नियन वृत्त की विषमता का स्मरण कराते हैं।

प्रत्येक छन्द में पाद के पिछले चार या पाँच अक्षरों में ही श्रुति-माधुर्य अथवा लय पाया जाता है। पाद का प्रथम भाग नियमबद्ध नहीं होता। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो परवर्ती साहित्य में प्रयुक्त समग्र छन्दोविधान का आधारभूत वैदिक छन्द हिन्द-इरानी युग और लौकिक संस्कृत में प्रचलित छन्दःपद्धति के मध्यवर्ती है। अवेस्ता में भी ८ अथवा ११ अक्षरों के पाद मिलते हैं जिनमें मात्राओं का कोई महत्त्व नहीं होता। अवेस्ता में भी ऋग्वेद की भाँति चरणों से ही वृत्त बनते हैं। इससे यह विदित होता है कि जब पारसी और भारतीय एक ही राष्ट्र के निवासी थे, उस समय वृत्त-निर्माण की पद्धति वर्ण-संख्या के सिद्धान्त पर आधारित थी। लौकिक संस्कृत युग में हर पंक्ति का हर अक्षर मात्रा के अनुसार हर छन्द में गिना जाता है। इसका एकमात्र अपवाद पुराने इतिहास में प्रयुक्त 'श्लोक' नामक पद्य में पाया जाता है—वास्तव में यह एक स्वच्छन्द छन्द है। चरण के इस प्रकार आद्योपान्त मात्राबद्ध होने का नियम आगे चलकर सर्वत्र लागू हो गया। वैदिक चरण के अन्त में नियमित स्वर का प्रयोग 'वृत्त' कहलाता है। वृत्त शब्द का शाब्दिक अर्थ 'मोड़' है; यह शब्द वृत् धातु (लैटिन — व्हरटेरे) से बना है। वृत्त शब्द लैटिन 'व्हरसस्' के समानान्तर है।

अनुष्टुप् छन्द का चरण प्रायः अन्त में लघु-दीर्घ के युग्म से समाप्त होता है और पहले चार अक्षर भी बहुधा इसी प्रकार के पाये जाते हैं। यह छन्द इस तरह ग्रीक भाषा में प्रचलित 'Iambic Dimeter' के बराबर है। अनुष्टुप् चरणों के संयोग से ही गायत्री छन्द घटित होता है। इस छन्द में ऋग्वेद के मन्त्रों का चतुर्थांश अर्थात् लगभग २४५० ऋचाएँ निबद्ध हैं। इसका उदाहरण ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही है, यथा—

अग्निमीळे पुरोहितम्
यज्ञस्य देवमृत्विजम्
होतारं रत्नधातमम् ॥

तदनुरूप चरणों का निर्माण करते हुए उसी स्वर में उक्त मन्त्र का अंग्रेजी अनुवाद इस तरह हो सकता है।

I praise Agni, domestic priest,
God Minister of Sacrifice,
Herald, most prodigal of wealth.

अष्टाक्षरी चार चरणों के संयोग से अनुष्टुप् छन्द बनता है जिसमें पहले दो और पिछले दो चरण विशेषकर परस्पर अनुरूप होते हैं। ऋग्वेद का जितना भाग गायत्री छन्द में है उसकी अपेक्षा एक तृतीयांश अनुष्टुप् छन्द में है। धीरे धीरे यह अनुपात विपरीत दशा में बढ़ने लगा, यहाँ तक कि वेदोत्तरकाल में गायत्री छन्द एकदम लुप्त होकर संस्कृत कविता में अनुष्टुप्, जिसे 'श्लोक' कहते हैं, प्रधान छन्द बन गया। हम इस प्रवृत्ति का विकास स्वयं ऋग्वेद में भी पाते हैं। प्राचीन सूक्तों में प्रायः सब ऋचाएँ लघु-गुरु क्रम से निर्मित हैं। परवर्ती सूक्तों में पहले और तीसरे पाद को द्वितीय और चतुर्थ पाद से भिन्नरूप बनाने की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी थी, यहाँ तक कि आगे चलकर दशम मण्डल के पिछले सूक्तों में उक्त प्रकार की रचना लुप्त हो गई, और अर्धसम पंक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगा। उपान्त्य चार अक्षरों में विभिन्न मात्रावाले हर तरह के वर्णों का प्रयोग शुरू हो गया। परन्तु बहुधाप्रयुक्त प्रकार लघु-गुरु-गुरु-लघु का है, जो पूर्वोक्त प्रकार से संख्या में लगभग तुल्य है। यह नया प्रकार वेदोत्तर काल में प्रचलित 'श्लोक' के प्रथम तृतीय चरण के अनुरूप है।

बारह अक्षरवाले पाद के अन्त में लघु-गुरु-लघु-गुरु-गुरु वर्ण पाये जाते हैं। ऐसे चार चरणों के योग से जगती छन्द बनता है। त्रिष्टुप् छन्द में ११ अक्षर के चार चरण होते हैं। जगती में से अन्त्य वर्ण को कम कर देने पर त्रिष्टुप् बन जाता है जिसके चरण का अन्त्य भाग लघु-गुरु-लघु-गुरु होता है। ये दोनों छन्द इतने अधिक एकरूप और एकस्वर हैं कि इन दोनों का सम्मिश्रण बहुधा प्रयोग में पाया जाता है। त्रिष्टुप् छन्द ऋग्वेद में अधिक प्रयुक्त हैं। ऋग्वेद का लगभग दो-पञ्चमांश त्रिष्टुप् छन्द में अनुबद्ध है।

सामान्यतः ऋग्वेद में एक सूक्त के मन्त्र एक ही छन्द द्वारा रचित है। एकमात्र इस नियम का अपवाद अन्तिम मन्त्र में पाया जाता है जिसका छन्द शेष मन्त्रों के छन्द से भिन्न होता है। यह पद्धति समाप्ति की सूचना के लिए बहुत सहज है।

ऋग्वेद में कुछ सूक्त ऐसे हैं जिसमें कहीं मुक्तक छन्दों का लगातार अनुक्रम है तो कहीं मन्त्रों के ऐसे समूह हैं जो सङ्ख्या में बराबरी के हैं। कुछ समूह गायत्री छन्द के तीन मन्त्रों से बने हैं, और कुछ अन्य विभिन्न प्रकार के चरणों से घटित छन्दों में निबद्ध दो-दो मन्त्रों के हैं। कीर्त्तन के अनुरूप यह प्रकार 'प्रगाथा' के नाम से प्रचलित है जिसका विशेषकर प्रयोग ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में पाया जाता है।

अध्याय ४

ऋग्वेद संहिता

ऋग्वेद के सूक्तों में अभिव्यक्त विचार-परम्परा का वर्णन करने से पूर्व एक सहज प्रश्न उठता है कि भारतीय साहित्य के इतने पुरातन युग में विविक्त स्थान को लिये हुए ऋग्वेद का यथार्थ तात्पर्य समझना कहाँ तक सम्भव है। इसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि हम उस पुरातन रचना के तात्पर्य-ज्ञान के लिए उपयुक्त पद्धति पहिचान जाँय। जब ऋग्वेद सबसे पहले हम लोगों के परिचय में आया तो यूरोप के विद्वान् केवल लौकिक संस्कृत की भाषा एवं साहित्य से परिचित थे और उन्होंने पाया कि वैदिक सूक्त किसी प्राचीन भाषा में निबद्ध हैं और उनकी विचारधारा लौकिक साहित्य की विचारधारा से बहुत ही विभिन्न है। अतएव इन सूक्तों का अर्थ समझने में उन्हें अनेक भीषण कठिनाईयों का सामना करना पड़ा।

सौभाग्य से ऋग्वेद पर एक सुव्यवस्थित भाष्य उपलब्ध है जिसमें प्रत्येक सूक्त का प्रतिपद निर्वचन दिया है। वैदिक साहित्य के महान् विद्वान् श्री सायणाचार्य हैं जो १४वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत के अन्तर्गत बेलरी ग्राम के निकट विजयनगर में रहते थे। उनके भाष्य में स्थान-स्थान पर प्राचीन विद्वानों के प्रमाणों का उल्लेख मिलता है। अत एव यह माना गया कि पुरातनकाल से प्रचलित परम्परा के अनुसार ऋग्वेद का सही अर्थ उक्त भाष्य के द्वारा जाना जा सकता है। इससे अधिक सामग्री को देखना मूल ग्रन्थ को समझने के किये आवश्यक प्रतीत न हुआ। ऑक्सफर्ड विश्व-विद्यालय में संस्कृत के प्रथम आचार्य हेनरी विल्सन ने सन् १८५० ई० में ऋग्वेद का अनुवाद प्रारम्भ किया जिसमें उन्होंने पूर्वोक्त मत प्रकट किया है।

वैदिक भाषा-विज्ञान के संस्थापक स्वर्गीय आचार्य रॉथ इस अभिप्राय से सहमत न थे और उन्होंने अपने विचार भिन्न रूप से प्रकट किए हैं। उनका अभिप्राय है कि वैदिक साहित्य का अर्थ आज से लगभग १२ शताब्दी पूर्व

के सायण, एवं यास्क के अनुसार समझना उचित न होगा; परन्तु प्राचीन ऋषियों ने जिस अर्थ को लेकर सूक्तों की रचना की है उसी को समझना हमारा मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। इस लक्ष्य की सिद्धि केवल भाष्य-कारों की पद्धति के अनुसरण करने से सम्भव नहीं। कारण, ये भाष्यकार वेदोत्तर काल के याज्ञिक एवं दार्शनिक विषयों के विशेषज्ञ और तत्कालीन प्रचलित विचार एवं कर्मकाण्ड के अभिज्ञ होने से वैदिक साहित्य के अर्थ-बोध करने में विशेष सहायक यद्यपि हो सकते हैं तथापि उनका भाष्य सूक्तों के निर्माताओं के समय से प्रसूत परम्परा की अविच्छिन्न धारा का निर्वाह नहीं करता, क्योंकि उनके भाष्य का उपक्रम उस समय हुआ जब सूक्तों का अर्थ पूर्णतः समझना असम्भव हो चुका था। सच पूछा जाय तो उस समय कोई परम्परा ही न थी, भाष्य करने का प्रसङ्ग तब ही आया जब सूक्तों का यथार्थ अर्थ दुर्बोध हो गया था। अत एव भाष्यकारों ने उपस्थित कठिनाईयों के समाधान के लिये ही यत्न किया और उन्होंने वैदिक भाषा को तथा प्राचीन समय में प्रचलित धार्मिक एवं विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकट किये हुए विचारों को अपने-अपने समय में प्रचलित विचारों के अनुसार समझने की चेष्टा कर वैदिक साहित्य के यथार्थ अर्थ को तोड़-मोड़ कर रख दिया।

यास्क के कथन से यह स्पष्ट है कि वेद पर प्राचीन भाष्यकारों के और अपने समय के विभिन्न मतमतान्तरों के विचारों में कुछ मौलिक मतभेद थे। यास्क ने लगभग १७ ऐसे प्राचीन विद्वानों के नाम दिये हैं जिनका वेदार्थ के सम्बन्ध में गम्भीर मतभेद है। उदाहरणार्थ, एक आचार्य 'नासत्यौ' इस पद का अर्थ 'सत्य, मिथ्या नहीं'; और दूसरा आचार्य 'सत्य के नेता'—ऐसा कहते हैं, परन्तु स्वयं यास्क का मत है कि उक्त पद का अर्थ है— 'नासिका से उद्भूत'। मन्त्रों के रचयिता और उनके प्रारम्भिक भाष्यकारों में इतनी बड़ी खाई है कि यास्क के पूर्ववर्ती कौत्स ने तो इतना कह डाला कि वैदिक निरुक्त एक व्यर्थ का विज्ञान है, क्योंकि वैदिक सूक्त और उनमें बताए हुए प्रयोग दुर्बोध, निरर्थक एवं परस्पर विरोधी हैं। इस आलोचना के प्रत्युत्तर में यास्क तो इतना ही कहते हैं कि लकड़ी क्या दोष यदि उसे अन्धा न देख सके। यास्क ने ऋग्वेद के कुछ ही सूक्तों का निर्वचन किया है, मगर जितना भी कुछ किया है वहाँ अर्थ-ग्रहण के लिये शाब्दिक व्युत्पत्ति पर ही वह अधिकांश निर्भर रहे हैं। कई स्थान पर तो एक ही शब्द के उन्होंने दो-चार वैकल्पिक अर्थ भी बताए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि उन्हें पथप्रदर्शन में कोई प्रारम्भिक

आधार न मिला और उन्होंने निज की कल्पना से ही अर्थ बैठाया है। कारण, यह कोई भी न मानेगा कि सूक्तकारों के मन में कहीं एक से अधिक अर्थ रहा हो।

हाँ, यह अधिकतर सम्भव प्रतीत होता है कि सकल उपलब्ध सामग्री के बल पर यास्क अनेक गूढ़ शब्दों का अर्थ निकाल सके जिन्हें सायण जैसे आचार्य, जो उनसे २००० वर्ष पश्चात् हुए, न निकाल सके। यह अवश्य है कि सायण कई स्थानों पर यास्क से भिन्न अर्थ करते हैं। यह देख हमारे सामने समस्या उठ खड़ी होती है 'क्या प्राचीन आचार्य ने परम्परा का अनुगमन न किया'? ऐसे भी कई स्थान हैं जहाँ यास्क का कोई आश्रय न लेते हुए सायण ने एक ही शब्द के, एक ही प्रकरण में अथवा प्रकरणान्तर में, अनेक अर्थ दिये हैं जो परस्पर असङ्गत प्रतीत होते हैं। यथा 'शारद' पद का एक स्थान पर उन्होंने 'एक वर्ष के लिये अवरुद्ध' ऐसा अर्थ किया है, तो दूसरी जगह 'अभिनव' और तीसरी जगह तो 'शरद नामक राक्षस से सम्बन्ध रखने वाला' बताया है। सच पूछो तो सायण का यह महान् दोष है कि वह अपने सम्मुख आए हुए एक ही मन्त्र का ध्यान रखते हुए शब्दार्थ निकालने की चेष्टा करते हैं। यदि सायण भाष्य और यास्क के निर्वचनों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि ऋग्वेद में ऐसे अनेक कठिन पद हैं जिनका समुचित अर्थ दोनों ही नहीं निकाल सके, और दोनों को ही न सही परम्परा और न व्युत्पत्ति का निश्चित ज्ञान था। अत एव हम ऐसा कह सकते है कि सूक्तों में अप्रचलित, कठिन अथवा दुर्बोध ऐसा कोई स्थान नहीं जिसके सम्बन्ध में भाष्यकारों का मत अन्तिम रूप से निर्णायक मान लिया जाय जब तक प्रकरणवश अथवा समानान्तर अन्य सूक्तों के आधार पर उसकी पुष्टि न हो जाय।

फलतः, केवल सायण के भाष्य के आधार पर रचा कोई भी ऋग्वेद का अनुवाद सन्तोषजनक नहीं हो सकता। सायण को प्रमाण मानकर चलना उतना असङ्गत होगा जितना हिब्रू भाषा में रचित बायबल (Bible) के पूर्व भाग को तल्मूद और रब्बीस के आधार पर समझने की चेष्टा करना। तथापि इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि सायण भाष्य ने अधिकांश वेदार्थ को समझने में तथा वेद के रहस्य तक पहुँचने में बड़ी सुविधा प्रदान की है। परन्तु ऐसी कोई महत्त्व की बात उसने नहीं बताई जो हमें संस्कृत अध्ययन

से तथा प्राचीन साहित्य के अवशेषों से और भाषाविज्ञान-सम्बन्धी विविध सिद्धान्तों के सहारे स्वयं समझ न आय।

इसी कारण ऋग्वेद के अर्थ करने के लिए रॉथ ने इन भाष्यकारों को एक तरफ़ रख दिया। कारण, ऋग्वेद भारतीयों का ही नहीं बल्कि समग्र आर्य-जाति का ग्रन्थ है। वह अत्यन्त दविष्ठ प्राचीनता के निर्जन शिखर के ऊपर एकदम अकेला खड़ा हुआ है। ऋग्वेद के कठिन और गूढ़ अंशों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि उनका अर्थ उन्हीं के द्वारा निराधार रूप में करना चाहिए, या एक भारतीय भाष्यकार के शब्दों में यह कहा जाय, 'वेद अपनी ही ज्योति से स्वयं प्रकट होने वाला है'। रॉथ ने तो यह अभिप्राय प्रकट किया है कि एक सुयोग्य यूरपवासी ही ऋग्वेद का सच्चा अर्थ समझने में किसी भी ब्राह्मण भाष्यकार की अपेक्षा कहीं अधिक क्षम है। कारण, उसका निर्णय ईश्वरवादी परम्परा से जकड़ा हुआ नहीं है, उसके पास भाषा की प्रकृति का मापदण्ड है। उसका बौद्धिक क्षितिज कहीं अधिक विस्तृत और वैज्ञानिक रीति से भासमान है। शास्त्रज्ञता का बल उसके पास पर्याप्त है। रॉथ ने इसी कारण ऋग्वेद से ऐसे सब अंश अलग छाँटे जो विषय और आकार में लगभग इकसा दीख पड़े और प्रकरण, व्याकरण और निर्वचन की ओर ध्यान देते हुए उनका तुलनात्मक अध्ययन किया; परन्तु सम्भवतः उन्होंने पारस्परिक अर्थ की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया हो। इस तरह उन्होंने संस्कृत भाषा के दायरे में ही ऋग्वेद का ऐतिहासिक रीति से अध्ययन किया। इसके पश्चात् उन्होंने तुलनात्मक पद्धति की भी सहायता ली, और भाषा तथा विषय में ऋग्वेद से बहुत कुछ मिलती-जुलती अवेस्ता का ही नहीं, अपितु तुलनात्मक भाषाविज्ञान से बने हुए सिद्धान्तों का भी उपयोग किया जिनका सहारा भारत के प्राचीन टीकाकारों को उपलब्ध न था।

एक-एक शब्द का ठीक-ठीक निर्वचन कर रॉथ ने वैदिक संहिताओं के वैज्ञानिक अर्थ निकालने की नींव खड़ी की जो कि 'रॉथ और बोह्लिंक कृत—संस्कृत शब्दकोष' के रूप में परिणत हुई। यह सात भागों का ग्रन्थ सन् १८५२ ई० से सन् १८७५ ई० के बीच प्रकाशित हुआ। आज वेद को वैज्ञानिक ढंग से समझने की चेष्टा करनेवाला प्रत्येक विद्यार्थी रॉथ की पद्धति को अपनाता है; तथापि भारतीय परम्परा का उपयोग आज उससे कहीं अधिक किया जाता है जितना रॉथ ने किया था। कारण, यह स्पष्ट मान लिया गया है कि भारतीय

विद्वानों के द्वारा दी गई सामग्री से उपलब्ध जो भी सहायता प्राप्त हैं उसकी ओर उपेक्षा करना उचित नहीं।

इन सिद्धान्तों को लक्ष्य में रखते हुए वैदिक साहित्य में उपस्थित अनेक ग्रन्थियों के सुलझाने में जो प्रगति हुई है वह आश्चर्यजनक है, विशेषकर जब इस ओर ध्यान दें कि कितने थोड़े विद्वानों ने मिलकर इस कार्य को किया। इसका साधारण परिणाम यह हुआ कि इस ऐतिहासिक प्रतिभा ने भारत के प्राचीन साहित्य का हृदय समझने में काफ़ी सफलता प्राप्त की जो भारतवासियों के उलट-पुलट अर्थ करने के कारण युगों से तिरोहित हो गया था। निश्चय ही विद्वानों की आती हुई पीढ़ियों के लिए बहुत कुछ काम करना शेष है, विशेषतः सूक्ष्म एवं साङ्गोपाङ्ग अन्वेषण के सम्बन्ध में। स्मरण रहे कि वैदिक अनुसन्धान पिछले पचास वर्षों की ही उपज है; जहाँ कई शताब्दियों तक अनेक हिब्रू विद्वानों के परिश्रम करने पर भी आज बायबल के पूर्व भाग के अध्यायों में अनेक स्थल ऐसे हैं जो अगम्य एवं विवादग्रस्त हैं। निःसन्देह वे सब ग्रन्थियाँ जो अभी तक नहीं सुलझी थीं वे वर्तमान विद्वानों के द्वारा अवश्य सुलझाई जा सकती हैं जिन्होंने परशिया की कीलाकृति लिपि और भारत के शिलालेखों का पढ़ना सीख लिया है, और इन दुर्बोध लिपियों में निगूढ़ भाषा का स्वरूप पहचान लिया है।

ऋग्वेद का स्वरूप

वैदिक विचार सीमा के निकट पहुँच जाने पर अब हम उस मन्दिर के द्वार में प्रवेश कर सकते हैं जो कि विद्वत्ता की स्वर्णतालिका के द्वारा उद्घाटित किया गया है। ऋग्वेद का अधिकांश धार्मिक सूक्तों से भरा हुआ है। केवल दशम मण्डल में ही कुछ रचनाएँ ऐहिक विषयों पर है। ऋग्वेद के सूक्त मुख्यतः वैदिक देववर्ग के विभिन्न देवताओं को सम्बोधित किए गए हैं। इनमें उनके पराक्रम, उनकी महत्ता, तथा उनकी कृपालुता का वर्णन है जिनसे गोधन, पुत्रधन, अभ्युदय, दीर्घायु और शत्रुविजय के लिए याचना की गयी है। वास्तव में ऋग्वेद प्राथमिक लोकगीतों का सङ्कलन नहीं, जैसा कि इस देश में संस्कृत अध्ययन करने की परिपाटी में समझा जाता है। ऋग्वेद बड़ी कुशलता के साथ निर्मित सूक्तों का विशाल सङ्ग्रह है जिसकी रचना एक निष्णात याज्ञिक वर्ग ने की। ऋग्वेद सोमयाग का साथी है जिसमें घृत की आहुति अग्नि में दी जाती है। इसकी विधि इतनी सरल नहीं जैसी

कभी मानी जाती थी। जो भी हो, वह ब्राह्मणकाल में प्रचलित सविस्तर, याज्ञिक पद्धति की अपेक्षा निःसन्देह सरल है। इसकी रचना की सुन्दरता बारम्बार यज्ञों की ओर संकेत के कारण नष्ट हो गयी है, विशेषकर उन स्थानों पर जहाँ दो यज्ञिय देवता— अग्नि और सोम— स्तुति के विषय होते हैं। तथापि यह कहा जा सकता है कि उस समय की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए वह स्थिति स्वाभाविक सी थी। देवता प्रायः प्राकृतिक वस्तु के मूर्त्तरूप हैं जिनसे सहायता माँगी जाती है। इस कारण कई स्थानों पर बड़े उदात्त रूपक एवं मनोहर कल्पनाएँ प्रयोग में आजाती हैं। सूक्तों की भाषा बहुधा सीधी सादी और स्वाभाविक है। उस पर आलंकारिकता का बोझ प्रायः नहीं सा पाया जाता है। समस्त पदों का बोझ कम है— जहाँ कहीं समास किये भी गये हैं तो वे द्विपद से अधिक नहीं। यह शैली लौकिक संस्कृत के विपरीत है जहाँ बड़े-बड़े समासों का बहु मूल्य पाया जाता है। सूक्तों में प्रतिपादित विषय का साक्षात् शब्दों द्वारा कथन है और उसमें कोई पेचीदापन नहीं। कहीं-कहीं, देवताओं के स्वरूप का वर्णन जहाँ पाया जाता है वहाँ रहस्यमय रूपक और आलंकारिकता अपनाई गयी है। विषय के संकुचित होने से याज्ञिक वर्ग को यह अवश्य प्रयत्न करना पड़ा होगा कि संक्षिप्त पदों के द्वारा एक ही कल्पना अनेक बार दुहराई जाय।

इन अंशों में हमें उक्ति-वैचित्र्य और वक्रोक्ति की ओर अभिरुचि का प्रारम्भिक आविर्भाव मिलता है जो आगे चलकर उत्तरकालीन साहित्य में अधिक बढ़ गयी। यह अभिरुचि बाद के ग्रन्थों में प्रशस्य समझी गयी है; कारण, एक जगह यह उल्लेख मिलता है कि देवता रूपकमय स्तुति अधिक पसन्द करते हैं। कतिपय सूक्तों में श्लिष्ट पदों के प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं जो लौकिक संस्कृत के काव्यों और गद्यकथाओं में बहुत अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। ऋग्वेद के सूक्तों का स्वरूप साहित्यिक दृष्टि से स्थान-स्थान पर भिन्न है जिसका कई शताब्दियों के दौरान में प्रणीत, विविध ऋषियों द्वारा रचित किसी भी ग्रन्थ में होना साहजिक ही है। किन्हीं सूक्तों में काव्य-गुण बहुत ऊँचे स्तर पर पाये जाते हैं, और कई सूक्तों में तो साधारण छन्द सीधे सादे अर्थ को प्रकट करनेवाले मिलते हैं। तथापि काव्य-रचना की निपुणता सर्वत्र बहुत ही उच्चकोटि की है, विशेषकर जब हम यह देखते हैं कि ऋग्वेद आर्यजाति का प्राचीनतम काव्य है। सूक्तों के रचयिता ऋषिगणों ने देवताओं के प्रति कही हुई स्तुति के लिये अपेक्षित कला की ओर संकेत प्रायः सूक्त के अन्तिम मन्त्र में किया है। सूक्तकार बहुधा

अपने आप की रथकार से तुलना करता है जो अपने हस्तकौशल के द्वारा रथ के विभिन्न भागों को सुचारु रूप से संयोजित करता है। एक ऋषि ने तो अपनी स्तुतियों की सुन्दर बुने हुए वस्त्रों से तुलना की है; अन्य एक ऋषि ने अपने स्तुति-सूक्त को प्रियतम के लिए सुसज्जित वधू की भाँति बताया है। सूक्तकारों ने अपने-अपने ज्ञान और योग्यता के अनुसार स्तुति की है[1] और हृदय के भावों को अभिव्यक्त किया है।[2] कई देवताओं ने, यह सत्य है, सूक्तकारों को काव्य-कला की देन दी है; परन्तु वेदों की स्वयं भासमानता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में ऋग्वेद के रचयिता ऋषियों को बोध न था।

यह सच है कि वैदिक सूक्तों में सर्वत्र एकस्वरता का दोष है। इस भावना का बीज यह है कि एक ही देवता को सम्बोधित सूक्त प्रायः एक ही मण्डल में सङ्कलित हैं। वर्तमान काव्यसंग्रह में भी यदि एक वसन्त ऋतु पर ही २०-३० पद्य एक साथ रख दिये जाँय तो, मैं समझता हूँ, ऐसी ही भावना वहाँ भी जाग्रत हो सकती है। जब हम यह सोचे कि ऋग्वेद के लगभग ५०० सूक्त केवल दो ही देवताओं को सम्बोधित हैं तो यह भी आश्चर्यजनक प्रतीत होगा कि एकही विषय के इतने रूपान्तर भी सम्भव हो सकते हैं।

ऋग्वेद के सूक्त प्रधानतः देवताओं के स्तुतिपरक हैं, अत एव उनका विषय विशेषकर आख्यानात्मक ही हो सकता है, परन्तु इन आख्यायिकाओं का भी बड़ा महत्त्व है। कारण, वे मानव जाति के विचार का प्रारम्भिक रूप प्रदर्शित करती हैं जो अन्यत्र किसी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। हमें यह बहुत प्रारम्भिक विचार प्रतीत होता है कि मानवीकरण की पद्धति से प्राकृतिक वस्तुओं को भी देवताओं का रूप दे दिया गया। एक वेदकालीन भारतीय ने अपने साधारण जीवन में इस प्रकार घूमते फिरते और विविध चेष्टा करते हुए किसी पुरुष को कभी न देखने पर भी प्राकृतिक पदार्थों को मानवोचित कर्तृत्व का रूप दे दिया है जो कि उसकी समझ में उन-उन पदार्थों में सहज स्वभाव से ही उत्पन्न हो। तब भी वह प्रकृति की चेष्टाओं को बाल-सुलभ विस्मय की भावना से देखता है। एक कवि प्रश्न करता है, 'क्योंकर सूर्य आकाश से गिर नहीं पड़ता?' तो दूसरा इसी अचम्भे में है 'रोज-रोज

१. देखो—ऋग्वेद-६, २१, ६।
२. ,, वही—१०, ३९, १५।

तारे कहाँ जाते रहते हैं ?' तीसरा तो इससे चकित है, 'सकल नदियों का जल सन्तत बहता हुआ समुद्र में गिरता है पर उसको भर नहीं पाता ।' सूर्य और चन्द्र की अपरिवर्तित गति, उषा के अस्खलित उदय जैसी बातों से इन पुरातन कवियों को प्रतीत हुआ कि प्रकृति की चेष्टा में एकस्वरूपता है और उसका क्रम परिवर्तनशील नहीं। इस सामान्य नियम को प्राचीन महर्षियों ने ऋत के नाम से प्रकट किया है जिस शब्द का प्रयोग उन्होंने पहिले यज्ञानुष्ठान की निश्चित विधि और उसके पश्चात् सदाचार के शाश्वत नियमों के लिये किया। ऋग्वेद के कथानक अपेक्षाकृत मानव विकास की बहुत प्राथमिक अवस्था का निर्देशन करते हैं। तत्रापि यह स्पष्ट है उनमें और भी पूर्वतन युगों की प्रतिच्छाया अङ्कित है। अवेस्ता में उपलब्ध अनेक सुसदृश सन्दर्भ यह प्रकट करते हैं कि अनेक देवता उस काल में भी माने जाते थे जब पारसियों और भारतीयों के पूर्वज एक ही जाति के थे। ऐसे देवताओं में मृत्युदेव यम उल्लेखनीय है जो अवेस्ता के स्वर्गाधिपति यिम से अभिन्न है—और ख़ासकर मित्र जो पारसियों के धर्म में मिथ्र के नाम से ख्यात है। मित्र अथवा उसके पारसी पर्याय मिथ्र का प्रसार सम्पूर्ण रोम राज्य में २००-४०० ई० सन् के मध्य हो गया था; और लगभग एकेश्वरवाद की कोटि तक उसकी ऐसी व्यापकता सिद्ध हो गई थी जैसी ग्रीक धर्म में और किसी देवता को प्राप्त नहीं हुई थी।

उसी पूर्वतन युग के अनेक धार्मिक अनुष्ठानों की परम्पराएँ वैदिक काल में प्रचलित रहीं, उदाहरणार्थ—अग्निपूजा और सोमवल्ली का याग, जिसे अवेस्ता में 'हओमा' कहते हैं। गौ के प्रति पूज्यभाव उसी युग से चला आ रहा है। धार्मिक सूक्तों के लिये एकादशाक्षरी चार पाद का त्रिष्टुप्, अथवा अष्टाक्षरी चतुष्पदी या त्रिपदी (अनुष्टप् और गायत्री) अवश्य ही उस युग में प्रचलित होंगी जैसा अवेस्ता और ऋग्वेद इन दोनों प्राचीन ग्रन्थों में इन छन्दों का प्रयोग प्रमाणित करता है।

"देव" की कल्पना तो इससे भी कहीं अधिक पूर्वतन भोरोपीय काल से हमें उपलब्ध हुई है; और दिवस्पति की कल्पना भी उतनी ही पुरानी है। (देव-स, लैटिन-देउस; द्यौस-पिता-ग्रीक-झेउस-पेटर, लैटिन-जुपिटर)। सम्भवतः इससे भी अधिक पूर्वतन भावना भूतल और स्वर्ग के सम्बन्ध में (द्यावा-पृथिवी) रही होगी जो विश्व के परम माता-पिता माने जाते हैं। इसी तरह मन्त्र-तन्त्र में विश्वास भी एक अतिशय प्राचीन परम्परा है।

ऋग्वेद के देवता

ऋग्वेद के ऋषियों को विश्व तीन विभागों में विभाजित प्रतीत हुआ जो क्रमशः भू, पवन और आकाश हैं। यह विभाजन सम्भवतः प्राचीन ग्रीक लोगों को भी विदित था। यह त्रिलोकी ऋग्वेद का अभीष्ट विषय है जिसका उल्लेख बारम्बार कण्ठतः अथवा संकेत के द्वारा मिलता है। नक्षत्रमण्डल का सम्बन्ध आकाश से बताया जाता है। विद्युत्, वर्षा और वायु का सम्बन्ध पवन से है। इन तीनों ही लोकों में विभिन्न देवता अपने-अपने कार्य करते रहते हैं— यह माना जाता है कि वे द्युलोक में रहा करते हैं। पवन को कई बार समुद्र भी कहा गया है जो दिव्य जल का निवासस्थान है। बड़े-बड़े निर्जल मेघ कहीं कहीं चट्टान के रूप में, तो कहीं पहाड़ के रूप में, तो कहीं वे असुरों के दुर्ग के रूप में कल्पित हैं जहाँ वे सुरों से युद्ध करते हैं। गरजते हुए जलद रम्भाती हुई गायों के रूप में माने गए हैं जिनका पय भूमि पर बरसता है और भूतल को परिपुष्ट करता है।

ऋग्वेद के बड़े देवता तो प्राकृतिक वस्तुओं के मूर्त्त रूपमात्र हैं; जैसे सूर्य, उषस्, अग्नि और मरुत्। प्राचीन युग के अवशेष कतिपय देवताओं को छोड़ शेष अधिकांश देवता अपने भौतिक आधार से स्पष्टतः सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। इसी कारण उनका मूर्त्त रूप पूर्णतया विकसित नहीं हो पाया। इनकी रूपरेखा और चरित्रगत व्यक्तित्व में स्पष्टता नहीं है। इस मूर्त्त रूप के पीछे जो प्राकृतिक वस्तु है उनमें सच पूछो तो बहुत ही कम विभेदक धर्म हैं; प्रत्युत वे अपने वर्ग की अन्य वस्तुओं से बहुत कुछ सामान्य गुण धारण करते हैं। उदाहरणार्थ, उषस्, सूर्य एवं अग्नि – ये सब ही देदीप्यमान हैं, अन्धकार को दूर करने वाले हैं और प्रातः दिखाई देते हैं। अतएव प्रत्येक देवता का निजी रूप कुछ सर्वसाधारण धर्मों के साथ एक दो व्यक्तिगत धर्मों को जोड़ कर कल्पित कर लिया गया है। कारण, तेज, दयाभाव और बुद्धि– ये देवताओं के कतिपय विशेष धर्म हैं, जो सब में पाये जाते हैं। ये साधारण गुण देवताओं के असाधारण गुणों को तिरोहित कर देते हैं। कारण, स्तुतिपरक और विनय-पूर्ण सूक्तों में स्वभावतः साधारण गुण ही विशेष महत्त्व धारण कर लेते हैं और प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों से सम्बन्ध रखने वाले देवता और भी अधिक सुसदृश प्रतीत होने लगते हैं जब कि उनके गुण भी परस्पर इकसार पाये जाते हैं। 'वैदिक ऋषियों ने अनेक जगह युगल देवों का साथ-साथ वर्णन कर

इस परम्परा को प्रोत्साहित किया। इसका फल यह हुआ कि युग्म देवताओं से पृथक् भी अन्यतर का जहाँ कहीं वर्णन किया गया वहाँ भी एक के गुण दूसरे में आरोपित हो गए हैं। उदाहरणार्थ— अग्निदेव की स्वतन्त्र उपासना के समय भी उसे वृत्रहन्ता बताया गया है। वास्तव में, यह गुण वज्रधारी इन्द्र का है जिसके साथ प्रायः अग्निदेव रहा करते हैं। प्रायः सभी देवताओं को इकसा शक्तिसम्पन्न मानने की भावना ने एक देवता को दूसरे से अभिन्न समझने की धारणा को सहज बना दिया। ऐसा तादात्म्य ऋग्वेद में बहुधा उपलब्ध होता है। यथा, अग्निदेव की स्तुति करते हुए एक सूक्त में कहा गया है—"हे अग्नि ! तुम जन्म के समय वरुण हो, सुलगने पर तुम मित्र हो ; और ए शक्ति के पुत्र ! तुम्हारे में सभी देवता केन्द्रित हैं, यजमान के लिए तो तुम इन्द्र ही हो।[1]

अग्नि-सम्प्रदाय के भक्तों की दृष्टि में परम पूज्य अग्निदेव और उनके स्वभाव के सम्बन्ध में अनेक रूपकों की कल्पना की गई है। भूतल पर कई रूपों में उनके आविर्भाव कल्पित किए गये हैं। आकाश में उन्हें विद्युत् रूप और सूर्य के मध्य तेज के रूप में माना गया है। ये रूपक सूक्त निर्माताओं के द्वारा अनेकत्र उपस्थित किये गए हैं जिससे यह कल्पना होने लगती है कि ये विभिन्न देवता किसी एक दिव्य वस्तु के विविध रूपमात्र हैं। ऋग्वेद के पिछले सूक्तों में यह भाव अनेक स्थानों पर अभिव्यक्त होता है। प्रथम मण्डल के एक सूक्तनिर्माता ने कहा है, 'पुरोहित एक ही पदार्थ, 'यम' का अनेक रूप से वर्णन करते हैं ; वे उसे 'अग्नि, यम और मातरिश्वा'[2] कहते हैं'। इसी तरह दशम मण्डल के एक ऋषि ने कहा है, 'पुरोहित और कवि शब्दों के द्वारा एक ही विहङ्गम (सूर्य) का अनेक तरह से वर्णन करते हैं'। (ऋ. १०.११४) इस प्रकार की उक्तियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि ऋग्वेद काल के समाप्त होते-होते ऋषियों का बहुदेववाद एकेश्वरवाद में परिणत हो रहा था।

कभी-कभी हमें प्रतीत होता है कि देवत्व की बहुरूपता केवल देवताओं तक ही सीमित नहीं परन्तु वह प्रकृति तक जा पहुँची है। जैसे अदिति का

---

१. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वं विश्वे सहस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥ (ऋ. ५. ३, १)

२. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ. १. १६४, ४६)

तादात्म्य न केवल सकल देवगण से ही किया है परन्तु मानवों तथा उन सब प्राणियों के साथ भी किया गया है जो आकाश और वायुमण्डल में उत्पन्न हुए हैं या होंगे (ऋ. १–८९)। विश्वोत्पत्ति के प्रतिपादक नासदीय सूक्त (ऋ. १०.१२१) में स्रष्टा न केवल देवाधिदेव बताये गये हैं परन्तु उन्हें सर्वात्मक भी कहा है। बहुदेववाद का यह बीज सर्वत्र वैदिक साहित्य में विकसित होता रहा परन्तु इसका अन्तिम रूप जाकर वेदान्त दर्शन में परिणत हुआ जो हिन्दुओं का सर्वाधिक जनप्रिय दर्शन है। ऋग्वेद के पूर्वरचित अंशों में भी ऋषियों की यही पद्धति पाई जाती है जिसमें हर देवता की स्तुति सर्वेश्वर के रूप में की गई है। इस पद्धति ने आचार्य मैक्सम्यूलर के सर्वेश्वरवाद को जन्म दिया जिसमें यह माना है कि ऋषिगण प्रत्येक देवता को बारी-बारी से सर्वोपरि देव मानते रहे हैं और उस-उस क्षण उस देवता की इस प्रकार स्तुति करते हैं मानों वह देवता बिलकुल स्वतन्त्र एवं सर्वसत्ताशाली हो। वास्तव में तो ऋग्वेद के रचयिताओं की यह पद्धति केवल अत्युक्तिमय है जो होमर के गीतों में भी पाई जाती है। यह एक सामान्य भावना है भक्त की, जो अपने उपास्य देव को सर्वोत्कृष्ट रूप में देखता है। इस बात का तथ्य तो सोमयाग की विधि में स्पष्ट प्रतीत हो जाता है जहाँ प्रत्येक देवता के लिए यज्ञ में अपना-अपना भाग कल्पित है; और लगभग हिन्दुओं के सभी देवता यज्ञ में भाग पाते हैं।

वैदिक सूक्तकारों के मत में तो देवता अनादि नहीं, न वे अजन्मा हैं; कारण, वे द्यावा-पृथ्वी के अपत्य कहे जाते हैं और कुछ देवता तो दूसरे देवताओं से उत्पन्न भी माने गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि देवताओं में पीढ़ियाँ होती हैं। कई सूक्तों में तो पूर्ववर्ती देवताओं का भी वर्णन मिलता है। ये देवता मूलतः अमर नहीं माने जाते थे। कारण, अमरत्व तो उन्हें देवता-विशेष के द्वारा प्राप्त हुआ है। उदाहरणार्थ— अग्नि और सविता को सोमपान से अमरता मिलती है। इन्द्र और कुछ देवता अजर बताये गये हैं; परन्तु 'वे सदा अमर हैं' इसके लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। वेदोत्तर विचारधारा में तो इनका अजरत्व और अमरत्व केवल अपेक्षाकृत है; कारण, वह एक कल्प तक सीमित है।

वैदिक देवताओं का मूर्त्त स्वरूप मानवीय है। उनके हाथ, पाँव, नाक, भुजा, सिर, मस्तक, मुख आदि मानव शरीर के अवयव बताए गये हैं। परन्तु उनकी प्रतिमा केवल छायात्मक मानी जाती है। उनके गात्र या अङ्ग प्रायः

आलंकारिक रूप में वर्णित हैं जो केवल उन-उन क्रियाओं के द्योतक हैं। उदाहरणार्थ— अग्निदेव की जिह्वा और गात्र केवल ज्वालाएं, और उनकी आँख तो बिम्ब मात्र हैं। इस तरह इनका बाह्य स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रकल्पित था। परन्तु इनकी आन्तरिक शक्ति का प्राकृतिक तत्त्व से सम्बन्ध कई जगह बिल्कुल स्पष्ट है। यही कारण है ऋग्वेद में न कहीं देवताओं की प्रतिमा का वर्णन है और न कहीं मन्दिरों का उल्लेख है। प्रतिमा का वर्णन सबसे पहले हमें सूत्रों में ही मिलता है।

कुछ देवता हमारे सामने वीर भट के रूप में उपस्थित होते हैं जो कवच पहिनते हैं, शिरस्त्राण धारण करते हैं; भाले लिए हुये हैं, उनके पास फरसे हैं और धनुर्बाण भी हैं। वे दिव्य रथों में आरूढ़ होकर आकाश में सञ्चार करते हैं। उनके रथ प्रायः घोड़े हाँकते हैं। कहीं-कहीं वृषभ, अज, और हरिण भी रथ हाँकते हुए बताये गये हैं। इन रथों पर आरूढ़ होकर वे यज्ञ में भाग लेने जाते हैं जो अन्यथा उन्हें स्वर्ग में भी अग्निदेव द्वारा पहुँचा दिया जाता है। आम तौर पर ये देवता आपस में स्नेहपूर्वक रहते बताये गये हैं। हाँ, कभी-कभी लड़ते-भिड़ते इन्द्र पाये जाते हैं जो रणशूर हैं और एक उद्धत देव कहे गये हैं।

सफल अथवा आशावादी वैदिक युग के भारतीय को देवता हमेशा ही उपकारक, और दीर्घायु तथा अभ्युदय को प्रदान करने वाले लगा करते थे। एकमात्र देवता जिससे हानि का भय हो सकता था वह रुद्र थे। मानव में छोटी बड़ी आपत्तियाँ, व्याधि आदि तो क्षुद्र दानवों के कारण उत्पन्न होती थीं और प्रकृति द्वारा प्रदर्शित अनावृष्टि आदि महाविपत्तियाँ वृत्र जैसे शक्तिशाली असुर से पैदा होती थीं। ऐसे अपकारक दानवों का नाश करने के कारण देवताओं का उपकारक स्वभाव और भी स्पष्ट हो जाता है।

वैदिक देवताओं का चरित्र भी नैतिक माना गया है। वे सत्यवादी, कभी छल न करने वाले, और सदा धर्म तथा न्याय के पक्षपाती माने गये हैं, परन्तु यह दैवी नीति सभ्यता के प्रारम्भिक अवस्था के नैतिक स्तर को ही प्रकट करती है। सबसे सुशील देवता वरुण का नीति के साथ इतना संयोग है कि वह कपटी शत्रु के साथ भी छल करने से हिचकिचाते हैं। सामान्यतः नैतिक उच्चता में देवताओं को उतना ऊँचा स्थान नहीं दिया गया है जितना उनकी शक्ति की महत्ता को दिया है।

ऋग्वेद में देवता और यजमान का सम्बन्ध प्रायः अनुग्राहक एवं अनुग्राह्य का है। भक्त देवताओं से विनय करता है, उनको बलि देता है, इस लिए कि वह उनका अनुग्रह भरसक प्राप्त कर सके। बलि चढ़ाने के बदले फलप्राप्ति की आशा तो कई बार स्पष्टतः मालूम होती है : कई सूक्तों में यही कहा गया है—'हे देव ! मैं यह अर्पण करता हूँ इस आशा से कि आप मेरी कामना सिद्ध करें।' यह आशय भी बहुधा प्रकट किया गया है कि देवताओं को बल और स्फूर्ति इन सूक्तों, बलिदानों से और विशेषकर सोम रस की आहुति से प्राप्त होती है। यहीं हमें पौरोहित्य के दम्भ का बीज प्राप्त होता है जो कि वैदिक युग में धीरे-धीरे बढ़ता ही गया। शुक्ल यजुर्वेद में ऐसा वचन भी मिलता है कि देवता उस ब्राह्मण के वश में हैं जिसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त है। ब्राह्मण-ग्रन्थ तो इससे भी अधिक आगे बढ़ गये हैं और कहते हैं कि दुनियाँ में दो प्रकार के देवता हैं— एक देव और दूसरे ब्राह्मण, जिन्हें नरदेव अथवा भूदेव समझना चाहिये। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी यज्ञ की महत्ता सर्वोपरि है। वे याग को सर्वशक्तिमान् मानते हैं जिसके द्वारा न केवल देवता ही अपितु प्राकृतिक नियम भी वश में किये जा सकते हैं।

ऋग्वेद में देवताओं की संख्या तैंतीस है जिनका कई स्थानों पर उल्लेख त्रिगुण एकादश के रूप में किया है। यह प्रत्येक वर्ग त्रिधा विभक्त विश्व के एक-एक लोक से सम्बद्ध है। परन्तु यह देवसमूह सर्वथा इतना ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता ; कारण, इन तैंतीस देवताओं के अतिरिक्त भी अनेक देवताओं का उल्लेख मिलता है, और न इस संख्या में पवि, वात्या आदि क्षुद्र देवता अन्तर्गत हैं।

स्वतन्त्र देवता के रूप में लगभग बीस ऐसे देवता ऋग्वेद में पाये जाते हैं जिनपर कम से कम तीन सूक्त कहे गये हैं। इनमें सबसे मुख्य है इन्द्र, जिसके लिए २५० सूक्त हैं, अग्निदेव पर २००, सोम पर १००, पर्जन्य और यम पर तो तीन-तीन ही सूक्त हैं। शेष देवता इन दो कोटियों के मध्य में आते हैं। यह कुछ उल्लेखनीय है कि वर्तमान हिन्दू धर्म के प्रधान देवता, विष्णु और शिव, समकोटि के होते हुए भी तीन हज़ार वर्ष पूर्व ऋग्वेद के प्रमुख देवताओं में बहुत निम्न स्तर पर रक्खे गये थे। ऋग्वेद में शिव का प्रथम रूप रुद्र ही वर्णित है ; और उसी रूप में आज भी रुद्र एक भयङ्कर देवता, और विष्णु दया के सागर माने जाते हैं।

आकाश के देवताओं में सबसे पुराना देव द्यौस् है, जो कि ग्रीक ज़्येउस् से अपृथक् है। आकाश का यह मूर्त रूप ऋग्वेद में वर्णित प्रारम्भिक रूप से आगे न बढ़ पाया; कारण उसके सम्बन्ध में भावना केवल पितृत्व की रही। द्यौस् को प्रायः पृथ्वी के साथ संयुक्त देवता माना है। जगत् के जनक-जननी के रूप में वर्णन करते हुए द्यावा-पृथिवी पर छः सूक्त मिलते हैं। कुछ सूक्तों में द्यौः को एक पीन पुङ्गव (वृषभ) कहा गया है; वह पीला और सदा नीचे की ओर रम्भाता है। इस रूपक से वर्षण शक्ति की ओर संकेत है और उसके साथ विद्युत् और गर्जनशील गगन रहते हैं। एक स्थान पर मुक्ता से अलंकृत घोड़े से भी तुलना की गई है जिसका स्पष्ट संकेत तारकांकित तमसाच्छन्न नभ की ओर है। एक ऋषि ने इसे वज्रधारी देवता बताया है। किसी और ने द्यौः को मेघों द्वारा मुस्कराते हुए वर्णन किया है। कई प्रकरण में ऋग्वेद में प्रयुक्त 'स्मि' धातु विद्युत् को लक्षित करती है, ठीक उसी तरह जैसे लौकिक संस्कृत में 'स्मित' शुभ्र श्वेतिमा का द्योतक माना गया है।

नभोमण्डल का और एक देवता वरुण है। उसका मूर्त्त रूप इतना व्यापक है कि उसके प्राकृतिक दृश्य का केवल कतिपय लक्षणों के द्वारा ही अनुमान किया जा सकता है। इस गूढ़ रूप का कारण यह है कि वह भारतीय कथाओं का विषय नहीं रहा परन्तु वह उससे भी पुरातन युग की देन है। यह भी एक कारण है कि उसका नाम द्यौः की तरह किसी प्राकृतिक तत्त्व का वाचक नहीं। मूलतः वरुण यह शब्द 'व्यापक' आकाश का वाचक है। सम्भवतः यह ग्रीक ओरेनोज़ का तत्सम प्रतीत होता है, यद्यपि ध्वनि-नियमों के अनुसार इन दो शब्दों का तादूप्य कुछ कठिन मालूम पड़ता है। इन्द्र, अग्नि और सोम की तुलना में, वरुण को बहुत ही कम सूक्त सम्बोधित किये गये हैं। तथापि इन्द्र के सहचर वैदिक देवताओं में वह निःसन्देह सबसे बड़ा देव है। जहाँ इन्द्र महान् योद्धा है वहाँ वरुण शारीरिक और नैतिक शक्ति अर्थात् ऋत का महान् पोषक है। वरुण को सम्बोधित सूक्त कुछ अधिक नैतिक हैं और इतर सूक्तों की अपेक्षा विशेष भक्तिपरक हैं। वेद में संकलित सूक्तों में वरुण-सूक्त बहुत उदात्त हैं। अधिकांश वे हिब्रू (यहूदी) स्तोत्रों से मिलते-जुलते हैं। वरुण का प्रशान्त अधिकार (शासन) आकाश में नक्षत्र-मण्डल के भ्रमण और तत्सदृश अन्य यथाकाल नियमित रूप में प्रकट होने-वाले दिव्य दृश्यों से स्फुट लक्षित होता है, और इन्द्र का स्वच्छन्द एवं युयुत्सु

स्वभाव सदा परिवर्तनशील एवं अनिश्चित प्राकृतिक तत्त्वों के व्यवहार से प्रकट होता है। वरुण के स्वभाव और सामर्थ्य का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित वैदिक पदावली में ही किया जा सकता है :—

"वरुण के शासन से द्यौः और पृथिवी पृथक्-पृथक् रहते हैं ; उसी ने स्वर्ण चक्र (सूर्य) आकाश को चमकाने के लिए बनाया और इसी चक्र के लिए विस्तृत पथ का निर्माण किया। गगनमण्डल में जो पवन बहता है वह वरुण का निःश्वास है। उसी के अध्यादेश से चमकीला चाँद रात में सञ्चार करता है, और रात में ही तारे चमकते हैं जो दिन में लुप्त से हो जाते हैं। वरुण ही नदियों को प्रवाहित करता है, उसी के शासन से वे सतत बहती हैं। उसी की रहस्यमयी शक्ति के कारण नदियाँ वेग से समुद्र में जा मिलती हैं और फिर भी समुद्र में बाढ़ नहीं आता। वह उलटे रक्खे हुये पात्र से पानी टपकाता है और भूमि को आर्द्र करता है। उसी की प्रेरणा से पर्वत मेघ से आच्छन्न होते हैं। समुद्र से तो इसका सम्बन्ध बहुत स्वल्प है।"

वरुण की सर्वज्ञता का बहुत्र उल्लेख मिलता है। वह उड़नेवाले पक्षियों की उड़ान को समझता है, समुद्रगामी पोत का मार्ग जानता है और दूर-दूर तक बहने वाली वायु का पथ भी पहचानता है। वह कृत एवं क्रियमाण सकल गुप्त कार्यों को देखता रहता है। वह मानवों के सत्यासत्य का साक्षी है। वस्तुतः कोई भी प्राणी इसके बिना हिल भी नहीं सकता। नैतिक प्रशासक के रूप में वरुण का स्थान अन्य देवताओं की अपेक्षा कहीं उच्च है। वह पाप से कुपित हो जाता है। कारण, पाप इसके शासन का भङ्ग है जिसके लिए वह कठोर दण्ड देता है। पापियों को बाँधने वाले वरुण के पाश का बहुधा वर्णन मिलता है। वह असत्य को दूर करनेवाला, दण्ड देने वाला और असत्य से घृणा करने वाला है। परन्तु वह पश्चात्ताप करनेवाले पर दया भी करत है; और न केवल अपने ही, परन्तु उन्हें अपने पूर्वजों के पापों से भी मुक्त करता है। नित्य उसके नियमों का भङ्ग करनेवाले परन्तु अनुतापशील व्यक्ति की वह रक्षा भी करता है। वह ऐसे लोगों की ओर करुणा भी दर्शाता है जिन्होंने अविवेक के कारण अविदित रूप से उसके आदेशों का पालन नहीं किया। सच पूछो तो, ऋग्वेद में वरुण को सम्बोधित एक भी ऐसा सूक्त नहीं जिसमें कृत पापों के लिए क्षमा-याचना नहीं की गई हो—ठीक उसी तरह जैसे अन्य देवताओं को सम्बोधित सूक्तों में लौकिक सम्पत्ति के लिये सर्वत्र याचना दिखाई पड़ती है।

विश्व-स्रष्टा प्रजापति को सर्वोपरि देवता मानने की धारणा बढ़ते ही वरुण की सार्वभौमिकता धीरे-धीरे विगलित हुई और अपने निजी क्षेत्र, जलपर्यन्त ही उसका साम्राज्य शेष रहा। यह स्थिति अंशतः अथर्ववेद के काल में बन चुकी थी ; पर वेदोत्तर पुराणकाल में तो वरुण केवल समुद्र का देवता अर्थात् भारतीय नेप्च्यून मात्र रह गया।

वरुणसूक्त के निम्नलिखित मन्त्र में इनकी स्तुति की भावना के स्पष्ट उदाहरण है।

[1]मो षु वरुण मृन्मयं
गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ (क)

अपां मध्ये तस्थिवांसं
तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ (ख)

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥ (ग)

---

१ (क) हे राजन् वरुण! मृत्तिका से निर्मित आपका गृह मुझे प्राप्त न हो (परन्तु मुझे सुन्दर घर मिले)! हे ईश्वर! तू मुझे सुखी बना, मुझ पर दया कर। (ऋ. ७-८९-१)

(ख) हे वरुण! जल के मध्य स्थित होते हुए भी तुम्हारे भक्त को तृषा[1] सता रही है! हे ईश्वर! तू मुझे सुखी बना, मुझ पर दया कर। (ऋ. ७-८९-४)

(ग) हे वरुण! मर्त्य होने के नाते जो भी कुछ अपराध देवगण के प्रति हमसे हुए हों, और अविवेकवश जो भी कुछ नियमों का उल्लङ्घन हमने किया हो, हमें क्षमा करो। हे ईश्वर! हमें सकल कल्मष से मुक्त करो। (ऋ. ७-८९-५)

---

१. यहाँ सङ्केत 'तन्द्रा' की ओर है, जिसके द्वारा—माना जाता है—वरुण पापियों को कष्ट देता है।

ऋग्वेद में सौर देवता पाँच हैं जो सूर्य की विभिन्न चेष्टाओं के स्वरूपों के प्रतीक हैं। इनमें सबसे प्राचीन है – मित्र (सुहृद्); जिसकी भावना सूर्य की मङ्गलमय शक्ति को प्रकट करती है। यदि हम भारतीय-इरानी युग का सिंहावलोकन करें तो यह पता चलेगा कि वेद में ही मित्र ने अपना व्यक्तित्व खो दिया था और वह वरुण की कल्पना में अन्तर्भावित-सा हो चुका था। अत एव मित्र का आवाहन सर्वत्र वरुण के साथ पाया जाता है। अकेले मित्र का आवाहन करता हुआ केवल एक ही सूक्त (३–५९) है।

सूर्य, जो ग्रीक 'हेलियॉस' का पर्याय है, सौर देवताओं में सबसे अधिक सत्ताशाली है। उसका नाम ही प्रकाश का बोधक है। उसका सम्बन्ध प्रकाश से शाश्वत है। सूर्य को चक्षु भी है। वह समस्त विश्व का गूढ़ द्रष्टा है। वह सकल प्राणियों की ओर तथा उनके सुकृत और दुष्कृतों को देखता रहता है। सूर्योदय के द्वारा प्रबोधित हो मानव अपने-अपने काम में जुटता है। सूर्य समस्त चराचर का आत्मा और अभिभावक है। वह एक रथ पर आरूढ़ रहता है जिसमें सात घोड़े जुड़े होते हैं। अस्तमयन वेला पर वह अपने घोड़ों को खोलता है। तब चारों ओर रजनी अपने आवरण को प्रसारित करती है:—

यदेदयुक्त हरितः सधस्थाद्–
आद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥[1]

सूर्य चन्द्र की भाँति अन्धकार को गोलकर देता है और तारागण तो उसके सामने चोर की भाँति छिप जाते हैं। वह सन्ध्या की गोद से उठ खड़ा होता है। उसे उषस्पति भी कहा है। देवताओं ने उसे अग्नि की ही एक मूर्ति होने के नाते गगन में स्थान दिया। उसका वर्णन प्रायः एक विहंग अथवा गरुड़ के रूप में किया जाता है जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर सञ्चार करता है। सूर्य दिन का परिमाण है, जीवन का नियामक है, आयु का वर्द्धक है। वह व्याधि को दूर करता है और दुःस्वप्न को मिटाता है। उसके उदय होते ही उससे प्रार्थना की जाती है कि वह मानव को मित्रा-वरुण के समक्ष निर्दोष घोषित करे। समस्त प्राणी सूर्य पर ही निर्भर रहते हैं। इसी कारण वह विश्वसृज कहलाता है।

---

१. ज्यों ही सविता देवता अपने घोड़ों को विश्राम देने लगता है, रात एक दम अपने प्रावारक (आवरण) को सर्वत्र प्रसारित कर देती है।
(ऋ. १, ११५–४ आ)

सूर्य की तरह ग्यारह सूक्त सौर–मण्डल के दूसरे देवता सवितृ अथवा प्रेरयिता को सम्बोधित हैं। सविता वह देवता है जो सूर्य की गति को त्वरित करता है। यह देवता सविशेष स्वर्णमय है। सोने की भुजाएँ और सोने का इसका रथ है। यह भी सुदृढ़ स्वर्ण भुजाओं को उठाकर प्राणिवर्ग को प्रबोधित करता है और उन्हें सद्भावनाओं से सम्वर्द्धित करता है। इसकी बाँह भूतल तक स्पर्श करती हैं। यह कनक रथ में आरूढ़ होकर परिभ्रमण करता है और प्राणिवर्ग का निरीक्षण करता है। इसका पथ ऊर्ध्व एवं अधः दोनों ओर है। ऊषा के चल पड़ने पर सविता भी उसी पथ का अनुसरण करता है। सूर्य की भास्वर मयूखों से देदीप्यमान पीतकेश सविता अपनी द्युति को प्राची से सन्तत फैलाता है। यह भी दुःस्वप्नों को दूर करता है; दानवों और मायावियों का नाश करता है। यह देवताओं को अमर बनाता है और मानव की आयु को बढ़ाता है। यही सविता प्रेतात्माओं को धर्मराज की पुरी में ले जाता है। अन्य देवता सविता का ही अनुसरण करते हैं। इन्द्र, वरुण जैसे अत्यन्त प्रभावशाली देवता भी इसकी इच्छा का अतिक्रमण नहीं कर सकते, और न इसके स्वतन्त्र शासन का ही उल्लङ्घन कर सकते हैं। सविता को बहुधा प्रदोष वेला का सहचर माना है। एक सूक्त में उसका वर्णन अस्तंगत होने वाले सूर्य के रूप में किया है:—

आशुभिश्चिद्यान्वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः ।[1]
अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात् ॥ (क)
पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्या कर्त्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः ॥ (ख)

---

१. (क) वेगवान् घोड़ों पर तीव्र गति से परिभ्रमण करता हुआ सविता अब विश्राम करता है, उसने अपने शीघ्रगामी घोड़ों की रास खींच ली है, वह सर्प की तरह भागते हुए घोड़ों की गति को रोक रहा है; कारण, सविता का आदेश पाकर रात्रि उपस्थित हो गई है। (ऋ. २, ३८–३)

(ख) वस्त्र को बुनती हुई नारी के समान यह रात्रि कल की तरह फिर आज भी प्रकाश को तम से आच्छादित कर रही है। धीर और काम करने में समर्थ होते हुए भी सब लोग अपने अपने काम को बन्द कर चुके हैं। (ऋ. २, ३८-४ अ)

विश्वो मार्त्तण्डो व्रजमा पशुर्गात्स्थशो जन्मानि सविता व्याकः ॥ (ग)

प्रेरक के नाते उसका स्मरण वेदारम्भ के समय प्राचीनकाल में किया जाता था। इस मन्त्र का जाप आज भी प्रत्येक आस्तिक हिन्दू सन्ध्या-वन्दन के समय करता है। यह मन्त्र आराध्य देवता के नाम पर 'सावित्री' कहलाता है; परन्तु प्रायः इसका उल्लेख छन्द के आधार पर गायत्री नाम से किया जाता है।

तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥[1]

सावित्री सूक्त की विशेषता यह है कि हमेशा उसके संज्ञापद पर श्लेष किया जाता है। वह 'सु' प्रेरणे इस धातु से बना है।

ऋग्वेद के कोई आठ सूक्तों में पूषा की स्तुति है। उसका नाम 'अभ्युदय कारक' इस अर्थ का वाचक है। उसके स्वरूप में अन्तर्हित सूर्य की उस उपकारक शक्ति की ओर संकेत है जो मुख्यतः पशुपालन सम्बन्धी देवता के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसके रथ में बकरे जोते जाते हैं और वह अंकुश धारण किए हुये होता है। गगन मार्ग से परिचित होने के कारण वह प्रेतात्माओं को पितरों के पास पहुँचाता है। वह मार्गों का संरक्षक है; वह कल्याणमयी शक्ति का परिचय देता है और वही मर्त्य प्राणियों को लोकान्तर में सुखमय स्थानों पर पहुँचने के लिए पथ प्रदर्शित करता है।

संख्या की दृष्टि से निर्णय किया जाय तो विष्णु तुरीय श्रेणी के देवता प्रतीत होते हैं। कारण, ऋग्वेद में उनकी स्तुति सूर्य, सविता और पूषा की अपेक्षा कम की गई है; किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वह सौरमण्डल में सबसे अधिक महत्त्व के देवता हैं। वर्तमान हिन्दू धर्म के दो बड़े देवताओं में उनकी गणना है। उनके स्वरूप की यह एक विशेषता है कि वे त्रिविक्रम हैं जो

(ग) सारे दिन चक्कर करते हुए सब पक्षी अब अपने अपने घोंसलों पर जा बैठे हैं, समस्त पशुवृन्द भी अपनी अपनी गोशाला में पहुँच गये हैं। सर्वनियन्ता सविता देवता ने सकल भूतप्राणियों को यथास्थान पृथक्-पृथक् कर दिया है। [ऋ. २, ३८-८-(आ)]

१. हम ओजस्वी सविता देवता के उस सर्वश्रेष्ठ ओज को प्राप्त करने की लालसा से उसका ध्यान करते हैं। वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करे। (ऋ. ३, ६२-१०)

निःसन्देह विश्व के तीन लोकों में सञ्चरण करनेवाले सूर्य का प्रतीक है। इसका सबसे ऊँचा पदक्रम स्वर्ग है जहाँ देवता और पितृगण निवास करते हैं। इस स्थान की प्राप्ति के लिए ऋग्वेद के ऋषि ने निम्नलिखित शब्दों में अपनी अभिलाषा प्रकट की है।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां
नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था
विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥[1]

मूलतः विष्णु की कल्पना सूर्यरूप में ही प्रचलित हुई थी। यह उसका सामान्य रूप न था; परन्तु वह रूप लाक्षणिक था जिसके द्वारा अपने लम्बे-लम्बे पदक्रमों के बल वह त्रिलोकी में द्रुत गति से परिभ्रमण करता है। कई सूक्तों में तो यह भी कहा है कि उसने मानव-हित के लिए तीन क़दम उठाये थे।

इसी स्वरूप को लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक आख्यान कहा है जिसमें विष्णु ने वामन का रूप धारण कर तीन पदक्रम के द्वारा पृथ्वी को दानवों के अधिकार से मुक्त किया था। संसार के पालनकर्ता विष्णु का यह रूप वेदोत्तर पुराणों में अवतारवाद का आधार बनकर विकसित हुआ। भगवान् विष्णु मानव कल्याण के लिये अनेक बार भूमि पर अवतार लेते हुए बताये गये हैं।

सूर्योदय की पुरोगामिनी देवता उषस् ही एक मात्र स्त्री पात्र है जिसे लक्षित कर कई समूचे सूक्त सम्बोधित किए हैं। उसका आवाहन बारम्बार किया है। उसका गुणगान कुल २० सूक्तों में पाया जाता है। उषस् यह संज्ञा-पद 'देदीप्यमान' अर्थ का वाचक है और लैटिन भाषा के 'अरोरा' तथा ग्रीक 'ईओस' शब्द का पर्याय है। जहाँ कहीं उषस् को सम्बोधित किया है वहाँ ऋषि के मस्तिष्क से सूर्योदय का प्राकृतिक दृश्य कभी ओझल नहीं हुआ। यद्यपि अन्य देवताओं की भाँति सोमयाग में उसका

---

१. हे भगवन्! मैं विष्णु देवता के परम प्रिय धाम को प्राप्त कर सकूं जहाँ उसके भक्तगण देवताओं के मध्य आमोद-प्रमोद करते हैं। विष्णु हमारे परम बान्धव हैं, उनका पदक्रम बहुत ही शक्तिशाली है, उनके परम पद में अमृत का स्रोत है। (ऋ. १, १५४-५)

भाग प्रकल्पित नहीं किया गया तथापि वैदिक सूक्तकारों के विचार देवियों में जिस उत्साह से उषस् की ओर आकृष्ट हुए हैं उससे यह प्रतीत होता है कि हमारे देशों की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दरता जो सूर्योदय के समय उत्तर भारत में दृष्टिगोचर होती है प्राचीन ऋषियों के हृदय को अतिशय आकर्षित करती रही। जो भी हो, उसकी कल्पना बहुत ही सुन्दर है। उसके सौन्दर्य का इतना अतिशायी वर्णन है जैसा किसी अन्य साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीतिओं में कहीं उपलब्ध नहीं होता। उसके स्वरूप की रमणीयता को आच्छादित करने वाले कोई यज्ञिय रूपक नहीं बाँधे गये हैं; उसके स्वरूप के सहज सौन्दर्य को भ्रष्ट करने वाले यज्ञिय सन्दर्भ भी बहुत ही कम हैं।

ऋग्वेद के रचना-सौष्ठव से पाठकों को परिचित करने के हेतु हम यहाँ विविध सूक्तों से उद्धृत तथा यथासम्भव मूल रचयिता के शब्दों में ही उषा देवी के सम्बन्ध में कतिपय उक्तियाँ उपस्थित करते हैं।

"द्यौः की पुत्री उषा देवी एक परम सुन्दरी कन्यका है। उसका जन्म आकाश में हुआ और वह श्याम रजनी की भास्वर भगिनी है। वह अपने प्रणयी सूर्य की प्रभा से देदीप्यमान होती है। सूर्य उसीका मार्ग अनुसरण करता है और किसी नवयुवा की भाँति उस कन्यका के पीछे जाता है। वह एक चमकीले रथ में बैठकर निकलती है जिसमें लाल घोड़े या बैल जोते जाते हैं। नर्तकी की भाँति सुन्दर भड़कीले कपड़ों को पहने हुए यह कुमारी प्राची दिशा में उदित होती है और अपनी मोहिनी क्रियाएँ प्रकट करती है। वह अपना स्वरूप सद्यःस्नाता नायिका की भाँति उज्ज्वल वेष में प्रकट करती है। असामान्य सौन्दर्य से देदीप्यमान यह कुमारी अपनी द्युति को छोटे बड़े सब पर इकसा छिटकाती है। वह स्वर्ग के विशाल कपाटों का उद्घाटन करती है और वही तिमिर के द्वार को खोलती है जिससे गोगण गोशाला से निकलते हैं। उसके चमकीले मयूख गोवृन्द के समान दीखते हैं। वह रजनी के श्याम परिधान को उतारती है। वह भूत-प्रेतादि नीच योनि के जीवों को भगाती है और अन्धकार दूर करती है। वह पैर वाले प्राणियों को जगाती है और उड़ने वाले पक्षियों को उड़ने के लिए प्रेरित करती है। संक्षेपतः, वह प्रत्येक वस्तु का जीवन एवं प्राण है। उषा के उदित होने पर पक्षी अपने-अपने घोसलों से उड़ते हैं, और मानव अपने भोजन की तैयारी के लिए उद्यत होता है। वह मधुर स्वरों को छेड़ती है। वह रम्य गीतों की जननी

है। दिनप्रतिदिन वह संकेतित स्थान पर प्रकट होती है। वह नियमों का तथा देवताओं के शासन का कभी भङ्ग नहीं करती। वह दैवी शक्ति से भली भाँति परिचित है। उसे दिङ्मोह कभी नहीं होता। जिस तरह वह प्राचीन काल में चमकती थी, उसी तरह आज भी चमकती है और भविष्य में भी चमकती रहेगी; वह अजर है,वह अमर है।"

उषःकाल की निर्जन नीरवता कई बार विचारशील व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट करती है। मानव जीवन कितना क्षणभंगुर है, जहाँ उषा का स्वरूप इतना शाश्वत एवं निरन्तर है इस सम्बन्ध में एक ऋषि की उक्ति है—

ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन्व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः ।
अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्याभूदो ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान् ॥[1]

उसी स्वर में एक और ऋषि कहता है—

पुनःपुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना ।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः ॥[2]

वैदिक काव्य की सुन्दरतम रचना का सामान्य निदर्शन निम्नलिखित सूक्तों में उपलब्ध होता है जो उषा देवी को सम्बोधित है। मनोहर मन्त्रों में से कुछ यहाँ उद्धृत किए जाते हैं ।

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।[3]
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥(क)

---

१. वे मानव, जिन्होंने अति प्राचीन काल में देदीप्यमान उषस् के दर्शन किये थे, चले गये; वही उषस् वर्त्तमान युग में हमारे लिये प्रेक्षणीय है, उसी तरह अब आनेवाली रजनियों के समाप्त होते उदीयमान उषस् के दर्शन करने वाले मानव भी अवश्य ही उत्पन्न होंगे। (तात्पर्य यह है कि उषस् तीनों ही काल में इकसार देदीप्यमान रहती है।) (ऋ. १,११३·११)

२. वारम्बार (प्रतिदिन) सूर्योदय से पूर्व नवनूतन शोभा को धारण करती हुई वह चिरन्तन उषादेवी मर्त्य लोक के प्राणियों की आयु का उसी तरह क्षपण करती है जिस तरह द्यूतरसिक खिलाड़ी अपनी सम्पत्ति का क्षय करता है (सायण के अनुसार—'जिस तरह किसी बहेलिया की स्त्री नित्य पक्षियों का प्राण हरण करती है') (ऋ. १, ९२–१०)

३. (क) सकल ज्योतियों में दिव्य यह ज्योति उदित हो गई है, दूर तक देदीप्य-

समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे ।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥(ख)
भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः ।
प्रार्प्या जगद्व्यु नो रायो अख्यदुषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ॥ (ग)
एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः ।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ ॥(घ)
व्य१ञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः ।
प्रबोधयन्त्यरुणेभिरश्वैरोषा याति सुयुजा रथेन ॥(ङ)

मान दिव्य प्रकाश प्रादुर्भूत हुआ है । यह प्रकाश भास्वान् सविता देवता के शुभागमन का अग्रगामी है; अब रजनी ने अपना पद उषा के अर्पण कर दिया है । (ऋ. १, ११३–१)

(ख) इन दोनों बहिनों का मार्ग वही एक निरन्तर है; देवताओं के द्वारा अनुशासित ये दोनों बारी-बारी से उसी एक पथ पर चलती रहती हैं । अपना-अपना सुन्दर रूप लिये हुए विभिन्न आकार प्रकार की ये बहिनें एकचित्त होकर अपने-अपने समय के अनुसार काम करती हैं, इनमें परस्पर सङ्घर्ष नहीं, और न ये एक दूसरे के समय का अतिक्रमण ही करती हैं । (ऋ. १, ११३–२)

(ग) रम्य स्वरों को प्रवर्त्तित करनेवाली भास्वर यह देवी चमकती रहती है । इसने अपने द्वार हमारे हित के लिये खोल दिये हैं । अखिल चराचर को प्रबोधित कर यह हमें दिव्य विभूति को दिखाती है । उषा ने प्रत्येक प्राणि में जागृति का सञ्चार कर दिया है । (ऋ. १, ११३–४)

(घ) द्यौः की पुत्री हमारे समक्ष आविर्भूत हुई है, यह कुमारिका दिव्य वेष-भूषा से देदीप्यमान है । हे उषः ! यद्यपि तुम समस्त पार्थिव विश्व की स्वामिनी हो, तथापि हे सुभगे ! हमारी प्रार्थना है कि आज तुम यहीं चमकती रहो । (ऋ. १, ११३–७)

(ङ) गगनमण्डल में यह उषा देवी अपनी द्युति से चमकती रही है, इस देवीने

आवहन्ती पोष्या वार्याणि चित्रं केतुं कृणुते चेकिताना ।
ईयुषीणामुपमा शश्वतीनां विभातीनां प्रथमोषा व्यश्वैत् ॥(च)
उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति ।
आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥(छ)

अश्विन — सौर मण्डल के देवताओं में जिसका बारम्बार स्मरण किया जाता है वह अश्विनी कुमार नामक प्रातः समय के देवताओं का युगल है। वे द्यौः के पुत्र हैं। वे सर्वकाल तरुण एवं सुन्दर हैं, वे भी रथारूढ़ रहते हैं और सदा सूर्यकुमारी सूर्या के सहचर हैं। उनका रथ सदा भास्वर है जिसके अंग स्वर्णमय हैं। बड़े सबेरे ये देवता प्रकट होते हैं जब कुछ अन्धेरा अरुण की किरणों में विद्यमान रहता है। उनका रथ तैयार होते ही उषा का आविर्भाव होता है।

लोकरक्षक देवता के नाते अश्विन के सम्बन्ध में कई गाथाएं प्रचलित हैं। वे सामान्य रूप से आपत्ति के समय सुरक्षा करते हैं, विशेषकर उनकी, जो जहाज़ों पर समुद्र में यात्रा करते हैं। वे देवताओं के वैद्य माने जाते हैं। वे अन्धे को आँख और पङ्गु को चरण देते हैं। एक अद्भुत कहानी इस सम्बन्ध में कही जाती है। उन्होंने विश्पला को लोहे का पैर लगा दिया था जब वह किसी

तिमिर के अवगुण्ठन को अपास्त कर दिया है। अपने अरुण अश्वों (किरणों) के द्वारा जगत् को प्रबोधित कर अब वह सुसज्जित रथ पर समारूढ हो शुभागमन कर रही है। (ऋ. १, ११३–१४)

(च) वह जगत् के पोषक अनेक उपहारों के साथ उदित हुई है, वह अत्यन्त भास्वर स्वरूप धारण करती हुई चारों ओर अपनी आभा को प्रसारित कर रही है। अतीत असंख्य प्रभात के अनन्तर वह शुभ्र प्रभातों में सर्व प्रथम प्रभात को प्रस्तुत करती हुई उषा देवी आविर्भूत हुई है। (ऋ. १, ११३–१५)

(छ) मानवो! उठो, जागो, जीवन में स्फूर्त्ति का सञ्चार करनेवाली उषा हमारे निकट आ पहुँची है। अन्धकार विदा हो रहा है और प्रकाश फैल रहा है। उषा देवी भगवान् सविता की यात्रा के हित पथ प्रस्तुत कर रही है, इस समय हम उस स्थल पर उपस्थित हैं जहाँ मानव अपनी आयु की वृद्धि प्राप्त करता है। (ऋ. १, ११३–१६)

द्वन्द्व में कट गया था। वे बहुत कुछ ग्रीक पुराणों के डिऑसक्यूरी नामक झेउस के पुत्र तथा हेलन के दो प्रसिद्ध अश्वारोहियों से मिलते-जुलते हैं। युगल देवता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त सम्भावित हैं। एक यह, कि ये युगल देवता कुछ अन्धकार और कुछ प्रकाश वाले प्रदोष के प्रतीक हैं। दूसरा यह, कि वे प्रातः और सायंकाल के नक्षत्र के द्योतक हैं।

वायुमण्डल के सर्वप्रधान देवता इन्द्र है। निश्चय वह वैदिक युग के भारतवासियों के लोकप्रिय एवं राष्ट्रीय देवता हैं। उनका महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि ऋग्वेद का एक चतुर्थांश से अधिक भाग उनकी ही स्तुति में निबद्ध है। पुरातन युग से प्रचलित यह देवता क्रमशः अधिकाधिक मानव रूप को लिए हुए वर्णित है। अन्य किसी देवता की अपेक्षा उनका स्वरूप अधिक काल्पनिक रूप से घिरा हुआ है। स्वरूप की महत्ता एकदम स्पष्ट है। सर्वप्रथम तो वह पर्जन्य देव हैं, अनावृष्टि और अन्धकार के मूर्त्त रूप वृत्रासुर पर उन्होंने विजय पाई है। इन्द्र की शक्ति का पौराणिक सार उसी में है। परम अवरोधक वृत्र का विनाशकर उन्होंने जल को सदा के लिए उन्मुक्त किया और प्रकाश को प्राप्त किया। इस कथा ने वैदिक ऋषियों को अपनी स्तुति गाथा के लिए अमित सामग्री दी है। अपना वज्र लेकर, सोम रस का प्रचुर मात्रा में पानकर, मरुत देवता के साथी इन्द्र सदा दानवों से युद्ध करने के लिए उद्यत हो जाता है। यह देवदानव का संग्राम बड़ा भीषण होता है। जब इन्द्र अपने वज्र से वृक्ष की भाँति वृत्र पर प्रहार करता है तब स्वर्ग और पृथ्वी भय से प्रकम्पित हो जाती हैं। उनका वर्णन अनेक बार ऐसे युद्ध को करते हुए किया गया है। इस आख्यायिका के अन्तर्निहित जो प्राकृतिक तथ्य है उसका शाश्वत सन्दर्भ हमें मिलता है। इन्द्र के पराक्रमों का वर्णन करते हुए ऋषियों ने आंधी के समय भौतिक तत्त्वों का क्वचित् ही उल्लेख किया है। इन्द्र को वर्षा करते हुए बहुत ही कम बताया है। परन्तु अवरुद्ध जल अथवा नदियों को प्रवाहित करने की उनकी शक्ति का बहुधा वर्णन है। बिजली का कड़कना ही उसका वज्रपात है। मेघों की गर्जना गायों का रम्भाना अथवा असुर का चीत्कार है। मेघों का कई नाम से उल्लेख है—कहीं गाय, कहीं उधस्, कहीं झरना, कहीं जलपात्र के रूप में। अद्रियों का भी वर्णन है जो इन्द्र के द्वारा विमोचित गायों को घेर लेते हैं। ऐसे पर्वतों का वर्णन पाया जाता है जिनके शिखर से वहाँ के निवासी दानवों को इन्द्र नीचे गिराता है। वास्तव में ये पर्वत दानवों के पुर हैं। इन दानवों की संख्या

९०, ९९ या १०० हैं। उनका वर्णन विविध रूप में किया है, कहीं वे सदा गतिशील हैं, कहीं शारद रूप, तो कहीं लोहमय या पाषाणमय। ऋग्वेद के दशम मण्डल में उक्त आख्यायिका की सब बातों का संग्रह मिलता है। "इन्द्र ने वृत्र को मारा, दुर्गों को तोड़ा, नदियों की धारा बहाई, पर्वतों का भेदन किया और अपने साथियों को अनेक गौ का दान दिया।"[1] वृत्रकथा के गौरव के कारण इन्द्र का प्रमुख नाम वृत्रहण रक्खा गया।

वृत्र के साथ इन्द्र के प्रसिद्ध द्वन्द्व का वर्णन सुचारु रूप से निम्नलिखित सूक्त में पाया जाता है। (१–३२)

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणो अभिनत्पर्वतानाम् ॥(क)
वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥(ख)
नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥(ग)

(क) मैं इन्द्र के शौर्य का वर्णन करता हूँ, वज्रधारी देवराज ने इन कामों को सर्व प्रथम किये थे। उसने वृत्रासुर का वध करके अवरुद्ध जल को मुक्त किया तथा पर्वतों की उन्नति को रोकी। (ऋ. १, ३२–१)

(ख) बलवान् वृषभ की भाँति वेगवान् होकर इन्द्र ने सोमवल्ली हस्तगत की और उसके रस को प्यालों में भर कर त्रिधा पान किया। सम्पन्न इन्द्रदेव ने वज्र को अपना शस्त्र बनाया और असुरों के अग्रणी वृत्र का हनन किया। (ऋ. १, ३२–३)

(ग) इन्द्रदेव के सामने न बिजली टिक सकी, न मेघों की गर्जना। उसके सामने फैला हुआ हिम लुप्त हो गया और ओलों की वर्षा भी लुप्त हो गई। इन्द्र का वृत्रासुर के साथ भीषण संग्राम हुआ और अन्त में शक्तिशाली इन्द्र की विजय हुई। (ऋ. १, ३२–१३)

---

१. जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून्।
बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः॥ ऋ. १०, ८९–७.

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत्ते जघ्नुषो भीरगच्छत् ।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥(घ)

सहज ही है कि इन्द्र रण-देवता माने जाँय और अन्य देवता की अपेक्षा कहीं अधिक बार शत्रुओं के साथ युद्ध के समय इन्द्र की सहायता की याचना की जाँय। एक ऋषि ने कहा है वह इन्द्र आर्यवर्ग की रक्षा करता है और श्याम वर्ण को दबाता है। एक और ऋषि ने यह भी बताया है इन्द्र ने श्याम वर्ण के पचास हज़ार सैनिकों को तितर बितर कर दिया और इनके महलों को तोड़ फोड़ डाला। इन्द्र के युद्ध 'गविष्ठी के नाम से प्रसिद्ध हैं' कारण इन्द्र के विजय के फलस्वरूप ही 'गोप्राप्ति' मानी गई है।

ऋग्वेद में इन्द्र की महिमा किस प्रकार गाई है इसका निदर्शन निम्नलिखित मन्त्रों में उपलब्ध होता है—

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात् ।[1]
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥(क)
द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥(ख)

इन्द्र की प्रकृति को अधिकाधिक मानवरूप देने के कारण उसके चरित्र में यत्र-तत्र अनैतिकता के लक्षण प्रवेश कर पाये हैं। कभी-कभी इन्द्र स्वच्छन्द अत्याचार करने में प्रवृत्त होता है—उसने पितृवध किया तथा

(घ) अनवरत जल धारा की वर्षा में वृत्रासुर जा गिरा और उसके शव को जलधारा प्रवाहित कर ले गई। वह असुर सदा के लिये अन्धतामिस्र में अन्तर्हित हो गया। (ऋ. १, ३२-१४)

१. (क) जिसने इस विशाल पृथ्वी को काँपती हुई अवस्था में सुस्थिर किया, जिसने उपद्रव मचाने वाले पर्वतों का शमन किया, जिसने अन्तरिक्ष को माप डाला और आकाश का स्तम्भन किया; वही, हे मानवो! यह इन्द्र है। (ऋ० २, १२-२)

(ख) जिसके सम्मुख द्यौ और पृथ्वी झुकते हैं, जिसके बल को देख पर्वत काँप उठते हैं, वही सोमरस का पान करने वाला वज्रधारी, हे मानवो! इन्द्र है। (ऋ० २, १२-१३)

उषस् के रथ का भङ्ग कर डाला। उसे सोमपान का व्यसन है, वह अत्यधिक मात्रा में सोमरस का पान करता है जिसके मद से वह वीर विक्रमों के करने में उत्तेजित होता है। ऋग्वेद में एक समग्र सूक्त है जिसमें इन्द्र सोम के नशे में चूर होकर अपने शौर्य एवं प्रताप का उल्लेख स्वयं ही करता है।[1] यद्यपि इस सूक्त में काव्यगुण बहुत ही कम हैं तथापि यह मानव के मनोभाव— विशेष कर, मदिरामत्त उन्माद— के काव्यमय वर्णन का आद्य उदाहरण होने के नाते सविशेष रोचक है। इन्द्र के इस जैसे अतिक्रमणों की नैतिकता का तौल करते समय इस तथ्य को भूलना न चाहिए कि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में सोमपान की धार्मिक महत्ता स्वीकृत हो चुकी थी।

अवेस्ता में 'इन्द्र' यह नाम किसी असुर का है। इन्द्र का यथार्थ वैदिक नाम 'वृत्रहन्' भी अवेस्ता में 'वेरेथ्रघ्न' के रूप में उपलब्ध होता है जो विजय के देवता की संज्ञा है। इससे प्रतीत होता है कि सम्भवतः भारतीय-इरानी युग में वृत्रासर के द्योतक तथा विजयी इन्द्र के वैदिक स्वरूप के तुल्यरूप किसी देवता की कल्पना रही हो।

ऋग्वेद के प्रारम्भिक युग में इन्द्र के समकक्ष महत्त्व वरुण का भी रहा है, और इन दोनों देवताओं की तुलना यदि ऐतिहासिक दृष्टि से की जाय तो यह स्पष्ट होगा कि भारतीय-इरानी युग में इन्द्र की अपेक्षा वरुण की महत्ता कहीं अधिक थी, परन्तु वैदिक युग के उत्तरार्ध में इन्द्र की महत्ता अपेक्षाकृत वरुण से अधिक हो चली थी; इतना ही नहीं वल्कि ब्राह्मण तथा पौराणिक युग में तो इन्द्र देवराज दिवस्पति कहे गये और पुराणों में वर्णित त्रिमूर्त्ति, ब्रह्मा-विष्णु-महेश की मान्यता के साथ साथ इन्द्र का वही गौरव बना रहा यद्यपि उसकी सत्ता त्रिमूर्त्ति के अधीन कल्पित की गई है।

कम से कम, अन्तरिक्ष के तीन देवता तो विद्युत् से निश्चय ही सम्बद्ध हैं। इनमें से कुछ अप्रसिद्ध से एक देवता 'त्रित' नामक है जिनका वर्णन ऋग्वेद में यत्र-तत्र विकीर्ण रूप से प्राप्त होता है। नाम से पता चलता है कि यह देवता अग्निदेव के विद्युद्रूपी तृतीय रूप (ग्रीक 'ट्रिटोज़') की प्रतिमा है। त्रित का बहुधा प्रचलित नाम 'आप्त्य' है जिसका अर्थ होता है 'जलमय'। इस देवता की मान्यता भारतीय-इरानी युग से चली आ रही है; कारण, अवेस्ता में 'त्रित' यह नाम तथा 'आप्त्य' यह यौगिकी संज्ञा भी उपलब्ध

१. ऋग्वेद—मण्डल १०, सू० ११९।

हैं। परन्तु क्रमशः इन्द्र ने त्रित नामक देवता को निरस्त कर दिया, कारण प्रारम्भ से ही त्रित का स्वरूप लगभग इन्द्र जैसा ही सदा रहा है। इसी तरह के एक और देवता जलपुत्र 'अपान्नपात्' हैं जिनका क्वचित् ही ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है। यह भी भारतीय-ईरानी युग के देवता हैं। इनकी वेष-भूषा विद्युद्रूप है और यह सदा इंधन के विना ही जल में चमकते हुए बताये गये हैं। अत एव इसमें सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं कि यह देवता अग्नि के ही प्रतीक है जो विद्युद्रूप में जलधर से उत्पन्न होती है। ऋग्वेद में उसी तरह क्वचित् ही उल्लिखित देवता मातरिश्वा है जो ग्रीक प्रोमेथियस की भाँति अन्तरिक्ष से अग्निदेव को भूतल पर लाने वाले कहे जाते हैं। वह दिव्य अग्नि के मूर्त्तरूप माने जाते हैं—वस्तुतः, कहीं कहीं तो ऋग्वेद में उन्हें एक ही बताया है। परवर्त्ती वेदों में तथा ब्राह्मणादि साहित्य में तो आगे चलकर मातरिश्वा वायुदेवता के पर्यायमात्र समझे गये हैं।

ऋग्वेद में रुद्र देवता का स्थान परवर्त्ती युग के साहित्य में वर्णित रुद्र से बिलकुल भिन्न है, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणों के रुद्र वैदिक रुद्र के ही उत्तराधिकारी समझे जाते हैं।

ऋग्वेद में केवल तीन या चार ही सूक्तों में रुद्र देव की महिमा का वर्णन है; रुद्र का नामोल्लेख विष्णु की अपेक्षा कुछ ही कम बार मिलता है। रुद्रदेवता प्रायशः धनुष-बाण लिये हुए वर्णित हैं—कहीं-कहीं अवश्य उन्हें वज्र तथा विद्युन्मय अस्त्र से भी सम्बद्ध बताया है। उनका स्वरूप वन्य श्वापद की तरह भीषण एवं घातक है—वस्तुतः वह 'अन्तरिक्ष के लोहित वराह' कहे जाते हैं। रुद्रसूक्तों में प्रधानतः उनके दारुण अस्त्र तथा भीषण कोप से भय ही वर्णित है। परवर्त्ती वैदिक साहित्य में तो उनका उग्ररूप और अधिक भयावह तथा संहारकारी प्रकट होता है। यह तो वेदोत्तर युग में ही उनका शिव अर्थात् कल्याणकारी रूप विकसित हुआ है। यद्यपि ऋग्वेद में भी 'शिव' यह नाम रुद्र के विशेषणों में पाया जाता है और उनके शङ्कर रूप का आविर्भाव परवर्त्ती वेदों में हो चुका था। यह निश्चित है कि रुद्र का रूप दानव की तरह केवल अपकारी कहीं नहीं है। उनकी स्तुति न केवल अरिष्ट शमन के लिए ही अपितु वर प्राप्ति के लिये भी तथा मानव एवं पशु वर्ग के कल्याण के लिए भी प्रस्तुत की गई है। विशेषकर उनकी रोगहन्त्री एवं स्वास्थ्य-प्रदायिनी शक्ति का तो बहुधा उल्लेख मिलता है और उन्हें वैद्यों में श्रेष्ठ 'वैद्यनाथ' कह कर भी सम्बोधित किया है।

ऋग्वेद के प्रमुख देवताओं में तो मरुत् हैं जिनकी संख्या कहीं २१ तो कहीं १०० बताई जाती है। ये पवन तथा वात्या पर अधिकार रखने वाले देव हैं। ये रुद्र के आत्मज हैं तथा रंग-बिरंगी जलद-धेनु 'प्रश्नि' की प्रसूति हैं।* जन्म के समय इनके रूप की तुलना अग्नि के साथ की गई है और एक बार तो इन्हें 'विद्युत् के अट्टहास से प्रसूत' भी कहा है। मरुत् युवक वीरों का एक दल है, ये भाले और परसे को हाथ में लिये मस्तक पर शिरस्त्राण (लोहे के टोप) पहिने हुए रहते हैं। ये सुवर्ण के आभरण धारण करते हैं, विशेषकर अङ्गद और नूपुर इनके प्रिय आभूषण हैं—

'द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः।
रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥'[१]

विद्युत् से चमकते हुए सुवर्ण रथों पर ये विराजमान होते हैं, तथा इनके हाथों में प्रदीप्त उल्का विद्यमान रहती है —

'अव स्मयन्त विद्युतः पृथिव्यां यदी घृतं मरुतः प्रुष्णुवन्ति ॥'[२]

कभी-कभी ये अपने रथ में घोड़े भी जोड़ लेते हैं। इनके घोड़े रंग बिरंगे धब्बे वाले 'सारङ्ग' जैसे होते हैं। एक बार तो उन्होंने वायु को घोड़े की तरह अपने रथ में जोड़ दिया था।

मरुत् का स्वरूप वन्य वराह अथवा सिंह की भाँति भीषण एवं दारुण बताया गया है, वे अपने रथ की नेमि से पर्वतों को विदीर्ण कर देते हैं—

'वर्षन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान्।
यद्यामं यान्ति वायुभिः ॥'[३]

१. ये अपने बाहुबल से उसी तरह चमकते रहते हैं जिस तरह नक्षत्र-मण्डल से व्योमतल चमकता है और पयोधर से प्रसूत तडिन्माला की तरह उनका धारासम्पात देदीप्यमान होता है। (ऋ० २, ३४-२)

२. सौदामिनियाँ नीचे भूतल पर अपने स्मित की द्युति छिटकाती हैं और उसी समय मरुद्गण घृत की वर्षा करते हैं। (ऋ० १, १६८-८)

३. मरुद्गण मेह को सर्वत्र बरसाते हैं, साथ ही साथ पर्वतमाला को हिला देते हैं और पवन को साथ ले, वे अपने रास्ते चले जाते हैं। (ऋ० ८, ७-४)

*. पृश्निये वै पयसो मरुतो जाताः (तै० सं० २-२-११-४)।

ये मृगपति तथा वन्य वारण की भाँति वनों का विध्वंस करते रहते हैं—

'वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया ।

पृथिवी चिद्रेजते पर्वताश्चित् ॥'[1]

पर्जन्य की वर्षा करना इनका एक प्रमुख कार्य है। ये मेह का चोगा पहन कर वृष्टि से सूर्य की आँख को ढकते हैं, पृथ्वी को दूध से भिगो देते हैं और घृत बरसाते हैं। ये बादल को दुहते हैं, जो सन्तत निर्झरण करते हैं, ये पृथ्वी को जल से आर्द्र करते हैं और आकाश से ओले गिराते हैं—

'प्रतिष्टोभन्ति सिन्धवः पविभ्यो यदभ्रियां वाचमुदीरयन्ति ।'[2]

वायु की मर्मर ध्वनि के कारण मरुद्गण बहुत्र गायक कहे गये हैं और इसी नाते वे देवासुर संग्राम में इन्द्र की सहायता करते हुए बताये गये हैं। वस्तुतः, ये युद्ध के समय सदा इन्द्र के साथ रहते हैं।

पवनदेव, 'वायु अथवा वात', ऋग्वेद के देवताओं में कोई प्रमुख देवता नहीं है। वायु को सम्बोधित कर ऋग्वेद में केवल तीन ही समग्र सूक्त हैं। पवन देव का मानवीय रूप तो केवल 'वायु' में ही सविशेष विकसित हुआ है जो सदा इन्द्र का सहचारी है; अपेक्षाकृत कुछ कम मानवमूर्त्ति को धारण करते हुए वृष्टि के देवता पर्जन्य के सहचर के रूप में 'वात' का वर्णन मिलता है। वायुदेवता मनोविचार की तरह तीव्र गतिमान् है, वह एक क्षेपिष्ठ देवता माने जाते हैं और उनकी गति भयावह है। उनका रथ बहुत ओजस्वी है जिसे दो या अधिक लाल घोड़ों की जोड़ी खींचती है। पवन का साधारण पर्याय 'वात' है, उसका रूप कुछ अधिक मूर्त्त है। वात शब्द की व्युत्पत्ति 'वा' धातु से है जिसका अर्थ 'बहना' होता है। 'वात' नामक देवता की संज्ञा अधिकतर यौगिक अर्थ में ही प्रयुक्त है। रुद्रदेव की भाँति वात भी रोगापहारी एवं आयुष्प्रद देवता है; कारण यह बताया जाता है

---

१. हे उग्र देव ! आपके सम्मुख वन भी भयभीत हो झुक जाते हैं, और पृथिवी काँप उठती है, पर्वत डोल जाते हैं। (ऋ० ५, ६०–२)

२. नदियाँ उस समय घोर घर्घर निनाद कर मरुद्गण की रथनेमि की प्रतिध्वनि करती हैं जब वे जलधरों के स्तनित के रूप में बोलने लगते हैं। (ऋ० १, १६८–८)

कि उनके पास अमरत्व का निधान है। ऋग्वेद में एक छोटा सा सूक्त है जिसके द्रष्टा ऋषि ने 'वात' देवता की स्तुति निम्नलिखित शब्दों में की है—

'वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः ।
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥(क)
अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः ।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव ॥(ख)
आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥'(ग)

अन्तरिक्ष के एक और देवता पर्जन्य है। यह वृष्टि के देवता माने जाते हैं। ऋग्वेद में केवल तीन ही सूक्त इन्हें सम्बोधित हैं और समग्र संहिता में कोई तीस बार इनका उल्लेख है। बहुत से मन्त्रों में तो पर्जन्य शब्द केवल मेघ का ही वाचक है। पर्जन्य का मूर्त्त रूप सदा जल बरसाने वाले मेघ के साथ निकट सम्बन्ध रखता है। इसी कारण जलधर पर्जन्य को उधस्, दोहनपात्र अथवा मशक भी माना गया है। बहुधा पर्जन्य को बलीवर्द के साथ उपमा दी गई है और वह स्वभावतः वृष्टि करनेवाला समझा

(क) अब मैं वात के रथ की महिमा का वर्णन करता हूँ। वह रथ घर्घर ध्वनि करता हुआ दौड़ता है, उसकी (रथ की) ध्वनि ही वज्ररूप मेघ-गर्जन है। गगनचुम्बी वह रथ बिजली डकाता हुआ आगे बढ़ता है और इसके वेग से भूतल रेणुरूषित हो जाता है। (ऋ० १०, १६८–१)

(ख) अन्तरिक्ष में अपने मार्ग से जाता हुआ वात किसी भी दिन विराम नहीं करता। यह आपोदेवता का सहज ऋतम्भार सखा है। ऐसे महान् देव की कहाँ से तो उत्पत्ति हुई और वह यहाँ किधर से पधारे हैं। (ऋ० १०, १६८–३)

(ग) यह देवताओं की आत्मा है और भुवनों की प्रसूति है। यह देवता स्वच्छन्दरूप से जहाँ चाहे वहाँ विचरता है। उसकी ध्वनि ही श्रवण गोचर होती है मगर उनका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसे वात देवता की हम हवि से अर्चना करते हैं। (ऋ० १०, १६८–४)

जाता है। पर्जन्य के कृत्यों का उल्लेख निम्नलिखित मन्त्रों में बड़े सुचारु रूप से किया है —

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो
विश्वं बिभाय भुवनं महावधात् ।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो
यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ॥ (क)
रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्
नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्याँ३ अह ।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते
यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः ॥ (ख)
प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत
उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः ।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते
यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ॥ (ग)
अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा
उदन्वता परि दीया रथेन ।

(क) पर्जन्य देव वृक्षों को हिलाकर धराशायी कर देता है; वह दानवगण का विध्वंस करता है। सारा विश्व उसके भय से काँपता है। उस शक्तिशाली देव से तो निर्दोष व्यक्ति भी दूर भागता है, कारण वह कदाचारी व्यक्तियों का विनाशक है। (ऋ. ५-८३-२)

(ख) पर्जन्य सारथि की भाँति घोड़ों पर चाबुक मारता है। वह वृष्टि-दूतों को तेज़ी से भगाता है। दूर से ही उसका सिंहनाद सुनाई पड़ता है जब वह गगन-मण्डल को जलधरों से व्याप्त कर देता है। (ऋ. ५-८३-३)

(ग) आँधी बहने लगती है, बिजली तड़पने लगती है, वनस्पतियों में से अङ्कुर फूटने लगते हैं और ज्योतिश्चक्र की सञ्चारभूमि, व्योमतल जलार्द्र हो जाती है जब पर्जन्य देव पृथ्वी में बीज का स्फुरण करने उद्यत होते हैं। (ऋ. ५-८३-४)

दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं
समा भवन्तूद्वतो निपादाः ॥ (घ)

आपोदेवता — ऋग्वेद के चार सूक्तों में आपोदेवता का वर्णन है। उनमें कहीं मातृत्व की, अथवा मुग्ध भार्या की, तो कहीं देवत्व की भावना प्रकट की है। वे यज्ञ में उपस्थित होती हैं तथा वरप्रदान करती हैं। मातृभाव की दृष्टि से वे विद्युद्रूप अग्नि की जनयित्री हैं और उनके पुत्र 'अपां नपात्' कहलाते हैं। ये दिव्य 'आप' कालुष्य का अपहरण करती हैं तथा इनकी स्तुति धर्मलोप, हिंसा, मिथ्याभाषण, अभिशाप तथा अन्य पापों से विमुक्त होने के लिये की गई है। ये रोग की चिकित्सा करती हैं, चिरायु बनाती हैं तथा अमरत्व प्रदान करती हैं। परम रमणीय युवतियों के नाते भार्यारूप में इन देवताओं के साथ नवयुवा सोम विहार करता है, वह इनके पास कामुक के रूप में उपस्थित होता है और ये रमणीय देवियाँ युवक के सौन्दर्य पर मुग्ध हो वशीभूत होती हैं।

नदी देवता — ऋग्वेद में कई नदियों पर चेतनधर्म का आरोप कर देवत्व की कल्पना की है। एक सूक्त[1] में सिन्धु नदी का वर्णन है और अन्यत्र एक सूक्त[2] में विपाशा और शुतुद्रु उसकी भगिनियों के रूप में संस्तुत हैं। देवतात्मा नदियों में सरस्वती को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है। उसे सम्बोधित कर तीन अखण्ड सूक्तों की रचना ऋग्वेद में मिलती है, साथ ही साथ प्रकीर्ण रूप में तो अनेक मन्त्र सरस्वतीपरक उपलब्ध होते हैं। अन्य नदियों की अपेक्षा सरस्वती पर सर्वाधिक चेतनधर्म आरोपित हैं। तथापि कहना होगा कि ऋग्वेद के ऋषि पूरी तरह सरस्वती के नदीभाव को भूले नहीं हैं। उसका स्थान माताओं में, नदियों में तथा देवियों में कहीं उच्च है। उसका अक्षय्य वक्षःस्थल सकल श्रेय का निधान है। उसकी कृपा से समृद्धि, पुष्टि और तुष्टि तथा सन्तति का लाभ होता है। एक ऋषि

(घ) गाजो और गरजो! और ओजस्वी बीज का धारण करो। जलधारी रथ को लेकर हमारे चारों ओर उड़ते रहो। पानी की मशक का मुँह खोल कर नीचे की ओर भूतल पर झुका दो ताकि कुएँ, तालाब और समतल भूमि सब इकसार हो जाँय। (ऋ. ५–८३-७)

१. ऋ. मण्डल १० सूक्त ७५।

२. ऋ. मण्डल ३ सूक्त ३३।

ने तो 'उससे विरहित किसी भी स्थल पर मेरा वास कदापि न हो' यह मनःकामना प्रकट की है। सरस्वती को अन्तरिक्ष से अथवा पर्वताग्र से अवतीर्ण हो यज्ञभूमि में उपस्थित होने का आवाहन भी ऋग्वेद में मिलता है। हो सकता है, यही धारणा वेदोत्तर युग में गङ्गा के सर्वप्रथम स्वर्ग में होने की और तत्पश्चात् भूलोक में अवतरण की कल्पना का आधार हो। सरस्वती ऋग्वेद में केवल देवतात्मा नदी है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में उसका स्वरूप वाग्देवी का होकर वेदोत्तर परम्परा में वह बुद्धि एवं वाग्मिता की अधिदेवता बन कर ब्रह्मदेव की पत्नी मानी गई है।

पृथ्वी — पृथु अर्थात् विशाल रूप को धारण करने वाली पृथिवी की महिमा ऋग्वेद में एक छोटे से त्रिमन्त्रात्मक सूक्त द्वारा प्रथित है। यह दिवस्पति से कभी भी पृथक् नहीं बताई गई है। उसे देवी के रूप में सम्बोधित करते हुए भी सूक्तकार दिवस्पति को दिव्य पत्नी के रूप में उसके सम्बन्ध को प्रकट किये बिना रह न सके। पृथ्वी-सूक्त में कहा है —

'दृळ्हाचिद्या वनस्पतीन् क्ष्मया दर्धर्ष्योजसा।
यत्ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः॥'[1]

पृथ्वी के विषय में चेतन धर्म के आरोप की मात्रा बहुत ही स्तोक है। देवत्व को धारण करती हुई वह सर्वत्र प्रत्यक्ष रूप से ही वर्णित है।

अग्नि—भूलोक के पार्थिव देवताओं में सबसे प्रधान अग्नि है। वैदिक देव-गण में भी इन्द्र के बाद अग्नि का ही प्राधान्य है। ऋग्वेद में अग्निदेव को सम्बोधित लगभग २०० से अधिक सूक्त हैं। इस लोक में समस्त यज्ञिय क्रिया-कलाप अग्निदेव के ही द्वारा सम्पाद्यमान होने के कारण अग्निदेव के स्वरूप में पुरुषोचित आकार की कल्पना करना ऋषियों को अत्यधिक आवश्यक प्रतीत होना चाहिये था किन्तु लेटिन भाषा में प्रचलित 'इग्निस' शब्द के तुल्यरूप 'अग्नि' शब्द ऋग्वेद में केवल अग्नि का ही वाचक है। इस प्रकार के प्रयोग-बाहुल्य के कारण अग्निदेव के स्वरूप की कल्पना में पुरुषाकार का आरोप अत्यधिक नहीं हो पाया। जो भी कुछ अग्नि के अवयव रूप में प्रकल्पित हैं वे सब यज्ञिय अग्नि के सर्वथा अनुरूप हैं। घृत से प्रज्वलित होने वाले अग्निदेव

१. हे पृथ्वी! स्वयं दृढतया स्थित हो कर वनवृक्षों को अपनी शक्ति के द्वारा तुम धारण करती हो और यह तुम्हारी ही महत्ता है कि तुम्हारे ऊपर बिजली चमकाते हुए मेघ मण्डल द्वारा अन्तरिक्ष से वृष्टि प्रपात होता है। (ऋ. ५-८४)

का घृतपृष्ठ, घृतमुख, घृतकेश आदि संज्ञा से निर्देश किया है। ज्वाला ही उनके केश हैं, और धूम्र ही श्मश्रु है। अग्निदेव के मुख देदीप्यमान हैं जिसमें कठोर परन्तु शुभ्र सुवर्ण जैसे अथवा चमकीले इस्पात की तरह दाँत शोभमान हैं। अग्निदेव के मुख में एक जिह्वा की—कहीं-कहीं अनेक जिह्वा की भी—कल्पना की गई है। अग्निदेव की तुलना कहीं अश्व से की है तो कहीं उन्हें अश्वरूप ही बताया है। वह देवताओं के समीप हवि को ले जाते हुए यज्ञरथ में जोड़ हुए अश्व ही समझे जाते हैं। सहसा अन्तरिक्ष में उड़ कर बड़ी तीव्र गति से वह देवताओं के समीप जा पहुँचते हैं, अत एव कहीं-कहीं अग्नि की तुलना गरुड़ से भी की गई है। अग्निदेव दावानल के रूप में अपने तीक्ष्ण दाँतों से वन को खा जाने वाले भी कहे गये हैं। अग्नि की ज्योति उषादेवी की अथवा सूर्य की आभा के सदृश अथवा विद्युत् की अनुकारिणी बताई गई है। यह एक विशेष बात है कि इतने देदीप्यमान देव के चरण-चिह्न अथवा परिधि सदा श्यामवर्ण ही वर्णित हैं। अग्नि के घोड़े भी श्यामवर्ण की ही रेखा को अङ्कित करते हैं। सदागति पवन से प्रेरित हो अग्निदेव वन में सञ्चार करते हैं। वन में व्याप्त हो अग्निदेव भूमि का मुण्डन करते हुए नापित की भाँति केश-वपन करते हुए कहे गये हैं। अग्निदेव की ज्वालाएँ समुद्र की लहरों के समान निनाद करती हैं। वनों में फैल कर वृक्षों को जलाते हुए अग्निदेव वृषभ की भाँति नर्दन करते हैं। तृण-काष्ठ को भस्म करते हुए अग्निदेव के व्योमव्यापी स्फुलिङ्गों के रव से आकुल हो पशु-पक्षी भाग उठते हैं। मानों अपनी विजय पताका को फहराते हुए ही अग्निदेव समस्त गगन मण्डल को धूम से आवृत कर देते हैं, इसी हेतु उन्हें 'धूमकेतु' भी कहते हैं। इसी आधार को लेकर कहा जाता है कि अग्निदेव वायु से प्रेरित धूम्र अथवा अरुण रंग के अश्वों से वाहित रथ में सञ्चार करते रहते हैं। यज्ञरूप सारथि को लेकर अश्वरथ पर आरूढ हो अग्निदेव यज्ञ में भाग लेने के हेतु देवताओं को आमन्त्रित करने के लिये स्वर्ग पहुँचते हैं।

ऋग्वेद के ऋषियों ने अग्निदेव के अनेक जन्म, नाना रूप और विविध स्थानों की कल्पना की है। उनका कथन है कि दो काष्ठखण्ड के परस्पर घर्षण से अग्नि की प्रतिदिन उत्पत्ति होती रहती है। नवजात शिशु की भाँति अग्नि को जन्म देने वाले वे दो अरणिकाष्ठ उनके माता-पिता हैं। शुष्क काष्ठ से सजीव अग्नि-देवता की उत्पत्ति होती है। यह ऐसा शिशु है जो उत्पन्न होते ही अपने जनक-जननी का संहार कर देता है। उसका प्रसव दस कुमारियों द्वारा

होता है जो वास्तव में दस अङ्गुलियाँ हैं। उन्हीं के द्वारा अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अग्नि को बल का पुत्र (सहसस्पुत्र) माना है; कारण, ज्वाला को प्रज्वलित करने में बल ही अरणि का मन्थन कर अग्नि को प्रकट करता है। प्रतिदिन प्रातः अग्नि के प्रज्वलित किये जाने से कहा जाता है कि अग्निदेव सुबह जगते हैं और उनका नाम 'उषर्बुध' है। इसी कारण अग्नि को देवताओं में कनिष्ठ माना जाता है। कहीं-कहीं अग्नि को सबसे श्रेष्ठ भी बताया है क्योंकि उनके द्वारा सर्वप्रथम यज्ञ की प्रसूति हुई है। यों ऋग्वेद के एक ही सूक्त में अग्नि को श्रेष्ठ एवं कनिष्ठ ऐसे दो विरोधी विशेषणों से विशिष्ट बताया है।

अग्नि आकाश के जल से प्रसूत होता है यह भी कहा है। बहुधा कहा जाता है कि स्वर्ग से अग्नि को लाया गया। पृथ्वी पर उत्पन्न, वायु से प्रसूत, तथा आकाश में वर्तमान होने के नाते बहुधा अग्नि त्रिरूप माना जाता है। देवताओं ने उसे तीन रूप दिये, उनकी तीन योनियाँ हैं और तीन ही घर हैं। 'सर्वप्रथम अग्नि का जन्म आकाश में हुआ, दूसरी बार हमारे लिए भूतल पर, और तीसरी बार जल में हुआ।' प्रारम्भ में भारतीय त्रिमूर्ति का वह मुख्य आधार है जिसका आश्रय ले वैदिक युग का बहुत कुछ रहस्यवाद प्रचलित हुआ। सम्भवतः यह तीन लोकों में विभाजित 'सविता, मरुत् और अग्नि' ऋग्वेदीय त्रिमूर्ति का ही पूर्वरूप नहीं; अपितु सूर्य, इन्द्र, और अग्नि नामक त्रिमूर्ति का भी, जो वास्तव में ऋग्वेद में वर्णित न होते हुए भी प्राचीन है। सम्भवतः यही त्रिमूर्ति की कल्पना ऐतिहासिक परम्परा में आगे चलकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप हिन्दू त्रिमूर्ति की जननी हो। अग्नि की इस त्रिमूर्ति ने ही शायद यह सुझाया हो कि यज्ञिय अग्नि के तीन भाग कल्पित किए जाँय जो पौरोहित्य सम्प्रदाय का एक मुख्य अङ्ग है।

भौतिक अग्नि की बहुरूपता के कारण अग्नि के अनेक जन्म कल्पित किए गये हैं। कारण, वह प्रत्येक कुल और घर में निवास करता है और अनेक स्थानों पर प्रज्ज्वलित किये जाने पर भी वह एक ही है। कई जगह विकीर्ण हो जाने पर भी वह एक है और एक ही प्रकाशक है। इतर अग्नियाँ उससे उसी तरह सम्बद्ध हैं जैसे एक वृक्ष से अनेक शाखाएँ सम्बद्ध होती हैं। वह अनेक दैवी रूप धारण करता है और उसके नाम भी कई हैं। परन्तु उसमें सकल देवता उसी तरह ओत-प्रोत हैं जैसे रथ की नेमि में अनेक आर। यहाँ हम इस तत्त्व को पाते हैं कि अग्नि के विविध रूपों की उक्त कल्पना ने बहुदेववाद में व्याप्त एकेश्वर-वाद की भावना को प्रसूत किया है।

अग्नि अमर है, पर मृत्युलोक में उसने अपना वास स्वीकार किया है। गृहस्थों के घर उसका रूप अतिथि का माना जाता है। वही एक देवता है जिसे गृहपति कह कर सम्बोधित किया है।

यज्ञिय बलि को अग्निदेव ले जाते हैं अत एव उन्हें दूत की संज्ञा भी दी गई है जो भू एवं स्वर्ग और पुरोहित के मध्य यातायात करते रहते हैं। वास्तव में, वह स्वयं ही बड़े पुरोहित हैं, ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्र एक वीर भट है।

इसके अतिरिक्त अग्निदेव यजमान के बड़ा कल्याणकारी हैं। वह आहुति देने वाले यजमान की ओर सहस्र नयन से दृष्टिपात करते हैं और उसके शत्रुओं को सूखी समिधा की तरह भस्म कर देते हैं। अपकारी पर तो वह ऐसे टूट पड़ते हैं जैसे वृक्ष पर बिजली टूटती है। समस्त मंगल अग्नि से ही प्राप्त होते हैं जैसे शाखाएँ वृक्ष से फूटती हैं। समस्त निधि उसी में संगृहीत है और वही लक्ष्मी का द्वार खोलते हैं। वही आकाश से पर्जन्य की वर्षा करते हैं, मरुस्थल के लिए तो वह वसन्त हैं। अग्निदेव जो वरदान देते हैं वे मुख्यतः पारिवारिक सुख, सन्तति और रिद्धि-सिद्धि से सम्बन्ध रखते हैं जैसे इन्द्र अधिकतर विजय, शक्ति और कीर्ति प्रदान करते हैं।

अग्निपूजा के सम्प्रदाय में अग्नि का मुख्य कर्म भूत-प्रेतादि को भगाना और उन्हें भस्म करना तथा विपक्षियों के द्वारा प्रयुक्त मन्त्र-तन्त्र को व्यर्थ करना रहा है। पुरातन समय से चलकर यह भावना ऋग्वेद में भी अवशिष्ट रही, अग्नि को वहाँ भी रक्षोहण नाम से सम्बोधित कर उन्हें अपने तेज से राक्षसों को भगा देनेवाला बताया है। जो भी हो, अग्नि की यह चेष्टा और किसी देवता की अपेक्षा विशेषतः वैदिक कर्मकाण्ड में तथा सूक्तों में भी वर्णित है।

सोम— अग्नि-पूजा के अतिरिक्त ऋग्वेद की विधियों में सोम-याग एक मुख्य अनुष्ठान है, अत एव ऋग्वेद में सोमदेव का मुख्य देवताओं में होना स्वाभाविक है। ऋग्वेद का पूरा नवाँ मण्डल और यत्र-तत्र कतिपय प्रकीर्ण सूक्त सोम के स्तुतिपरक हैं। यों बहुधा उल्लेख के मापदण्ड से निर्णय किया जाय तो, वैदिक देवताओं में तीसरा प्रधान पद सोम को दिया जा सकता है। सोमवल्ली और उसका रस ऋषियों के सामने सदा उपस्थित रहता है और उसी के बल सोम के मूर्त रूप का वर्णन है। नवम मण्डल में अधिकांश वे मन्त्र हैं जो सोम की उस अवस्था का वर्णन करते हैं जब वह पत्थरों पर पीसा जाता है और उसका रस ऊन के छन्ने से लकड़ी के

पात्रों में बहता है। वह सोम-सुरा देवताओं को फूस के प्याले में अर्पित की जाती है। ऋषियों का मतलब तो सोम-रस के निकालने के प्रकारों से विशेषकर है जिसका वर्णन उन्होंने विविध कल्पनाओं के साथ और रहस्य-मय रूपकों द्वारा अनन्त रूप में किया है। विवस्वान् की पुत्रियों अथवा दक्ष की सोदर कुमारियों द्वारा सोम के पवित्रीकरण का वर्णन करते समय ऋषियों का आशय दस अँगुलियों से है। सोमवल्ली को चर्म के आस्तरण पर रख सिल पर घिसने से उनका तात्पर्य गो-चर्म पर रस को बहाने से है! भेड़ के ऊन के छन्ने से छनकर सोमरस के भाण्ड में गिरने की विधि को ऋषियों ने अनेक प्रकार से वर्णित की है। सोम-रस की धारा को वनों में वेग से दौड़ती हुई महिषी की भाँति बताई है। देवता सोम-भाण्ड पर पक्षियों की भाँति जमा होते हुए बताये गये हैं। कपिश देवता सोमपात्रों पर इस तरह आकर बैठता है जैसे वृक्ष पर पक्षी। पात्र में सोम-रस के साथ पानी मिलाया जाता है। इसकी तुलना अपने झुण्ड में वेग से घुसते हुए, ज़ोर से ध्वनि करते हुए वृषभ से की है। सोम-साम के गायकों द्वारा प्रेरित वह सोम रस जल का परिधान पहने भाण्ड में नृत्य करता है। उस दारुमय पात्र में क्रीडा करता हुआ वह सोम-रस दस कुमारियों के द्वारा शुद्ध किया जाता है। वह 'आप' का पुत्र है जो उसकी जननी है। जब पुरोहित सोम को दूध से मिश्रित करता है तब उसे गो-परिधान से परिहित बताया है।

पात्रों में बहते हुए सोमरस की ध्वनि का वर्णन बहुत अत्युक्तिपूर्ण है। एक ऋषि कहता है कि सोम का मधुर बिन्दु छन्ने पर टपकता हुआ योद्धाओं जैसा निनाद करता है। सर्वत्र इस ध्वनि का वर्णन कहीं गर्जन के रूप में, कहीं रम्भाने के रूप में, तो कहीं बिजली के कड़कने के रूप में किया है। ऐसे प्रसङ्गों में, प्रायः सोम की तुलना वृषभ से की है। दुग्धमिश्रित अथवा शुद्ध जल धेनु-रूप कहा गया है।

सोमरस का रङ्ग पीला होता है। अत एव ऋषियों ने सोम का शारीरिक गुण ओज बताया है। सोम के तेज से किरणें निकलती है और वे प्रायः सूर्यबिम्ब में समा जाती हैं।

सोमपान आनन्ददायक एवं उत्तेजक होता है। अत एव उसे अमरत्व प्रदान करने वाला दैवी पेय बताया है; उसे अमृत भी कहा है जो ग्रीक एम्ब्रोसिया का समकक्ष है। सोम वह सुरा है जिसने देवताओं को अमर बनाया। सोम यजमान को अक्षय्य लोक में पहुँचा देता है जहाँ निरन्तर प्रकाश और

तेज है और उसे यमलोक में भी अमर बना देता है। अत एव यह स्वाभाविक ही है कि सोम में औषधि के गुण पाये जाते हों। वह आतुर के लिए औषधि है। सोम-देव हर रोग को दूर करता है, अन्धे को दृष्टि देता है और पंगु को गति।

सोम-रस के पान से स्वर तीव्र हो जाता है मानों वह केवट की तरह किसी नैया को ही प्रेरित कर रहा हो। सोम-पान से विचार-शक्ति उद्दीपित होती है। उसके याजक घोषणा करते हैं "हमने सोम पान किया है, हम अमर हो गये, हम दिव्य ज्योति में मिल गये और हमने देव का साक्षात्कार किया है"। सोम का उत्तेजक गुण विशेषकर इन्द्र के वर्णन में पाया जाता है; कारण, यही सोम इन्द्र को दानवों के विरुद्ध युद्ध करने की स्फूर्ति और बल प्रदान करता है।

सबसे अधिक गुणकारी लता होने के कारण सोम को वनस्पति भी कहा है। सोमलता का निवासस्थान पर्वत-श्रेणी है। यह बात अवेस्ता में होमा के वर्णन से प्रमाणित होती है। वास्तव में इसका स्थान तो स्वर्ग है जहाँ वह उत्पन्न होती है। वह पृथ्वी पर स्वर्ग से ही लाई जाती है यह धारणा स्वर्ग से सोम को लाने वाली श्येन-कथा में वर्णित है। सम्भवतः यह कथा विद्युत् और उसके साथ ही पर्जन्य वर्षा के सामान्य प्राकृतिक दृश्य का एक पौराणिक रूप है।

ऋग्वेद के पिछले कुछ सूक्तों में सोम स्पष्टतः चन्द्र-रूप वर्णित है। अथर्ववेद में सोम कई स्थान पर चन्द्रवाचक है। यजुर्वेद में सोम का ऐसा वर्णन है जिसमें औषधियाँ (नक्षत्र) उसकी पत्नियाँ बताई गई हैं। चन्द्र रूप सोम की यह कल्पना ब्राह्मण-ग्रन्थों में सर्वत्र है जिसके एक पक्ष में क्षय का कारण यह बताया है कि देवता और पितर उसके अमृत का पान करते हैं। एक उपनिषद् में ऐसी उक्ति है कि चन्द्र ही राजा सोम है। वह देवताओं का पेय है और भोज्य भी। अन्ततः वेदोत्तर साहित्य में सोम चन्द्र का पर्याय ही हो गया है। देवता उसका क्षय करते हैं इसलिए वह एक-एक कला से क्षीण हो जाता है जब तक सूर्य पुनः अपने तेज से उसे परिपूर्ण नहीं कर देता। यह कुछ अचानक समन्वय जैसा प्रतीत होता है। सोम के चन्द्रमा से इस तादात्म्य की कल्पना का ऋषियों द्वारा सोम के दिव्य स्वरूप और तिमिर भेदन की शक्ति के अत्युक्तिपूर्ण वर्णन से उद्गम हुआ है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर ऐसा

वर्णन पाया जाता है कि पानी में भिगोने पर सोमवल्ली फूल उठती है और उससे बूँद टपकती हैं अत एव उसे इन्दु कहा जाता है।

ऋग्वेद के सूक्त में कहा है कि भाण्ड में रक्खा सोम ऐसा सुभग लगता है जैसा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र। सोम-सूक्तों में जो रहस्यात्मक रूपक हैं उनसे सोम की प्रतिमा का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है।

अवेस्ता और वेद की तुलना करने पर यह स्पष्ट है कि भारतीय-इरानी युग में और पौराणिक गाथाओं में सोम का विशेष स्थान था और इसका धार्मिक सम्प्रदाय में भी महत्त्व था। ऋग्वेद में और अवेस्ता में कहा है कि सोम पहाड़ों पर उगता है, उसे पक्षी ले जाते हैं; वह वनस्पति है जो दीर्घायु और अमर बनाती है। दोनों ही ग्रन्थों में कहा है कि उसका रस निचोड़ कर दूध में मिलाया जाता है। उसका जन्मस्थान स्वर्ग है जहाँ से वह पृथ्वी पर लाया जाता है। दोनों ग्रन्थों में उसका एक घूँट शक्तिशाली देवता बना देता है; दोनों जगह दिव्य सोम भौमिक सोम से भिन्न माना गया है। दिव्य सोम देवतारूप है और यहाँ का सोम रसरूप है। दोनों में साम्य इतना अधिक है कि सोम और होम के नाम और गुण तथा विशेषण भी इकसार हैं।

भावात्मक देवता

ऋग्वेदीय युग की विचारधारा का विकास यह प्रमाणित करता है कि क्रमशः भारतीय लोग मूर्त की अपेक्षा भावात्मकता की ओर आगे प्रस्तुत हो रहे थे। इस प्रगति का एक परिणाम यह है कि उन्होंने भाव-रूप देवताओं की कल्पना की। यद्यपि ऐसे देवताओं की कल्पना की संख्या कम है तथापि ऋग्वेद के दशम-मण्डल में इन्हीं का वर्णन है। कुछ तो मानव के आन्तरिक उदात्त भावों को ही देवता का रूप दे दिया है। उदाहरणार्थ, एक छोटे से सूक्त में श्रद्धा का और दो सूक्तों में मन्यु (रोष, अमर्ष) का वर्णन है। इतर वेदों में यह प्रगति विशेष पाई जाती है। अथर्व वेद में काम को देवता माना है, वह अपने बाणों से हृदयों को विद्ध करता है। वस्तुतः लौकिक साहित्य में सुपरिचित कुसुमशर रतीश का वह पूर्व रूप है। कर्तृत्व शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हुए अनेक भावप्रधान देवता हैं जैसे धाता और प्रजापति। साक्षात् रूप से ये भाव-रूप नहीं, परन्तु पूर्ववर्णित देवताओं की किसी चेष्टा-विशेष को बतलाने वाले गुणमात्र हैं जिन्होंने क्रमशः स्वतन्त्र

सत्ता धारण कर ली है। उदाहरणार्थ, प्रजापति मूलतः सविता और सूर्य देवताओं का नामान्तर था; परन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल के अन्तिम मन्त्र में विश्व सर्जन का भार लिए हुए प्रजापति पृथक् देवता के रूप में उपस्थित होते हैं। यह अथर्ववेद में, बहुधा वाजसनेयी संहिता में, और अधिक नियमित रूपसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में, देवताओं के पिता के रूप में एक मुख्य देवता मान लिये गये हैं। सूत्रों में प्रजापति और वेदोत्तर युग के ब्रह्मा एक-रूप माने गये हैं।

दशम मण्डल के एक सूक्त में हमें एक ऐसा रोचक निदर्शन मिलता है जिससे पता चलता है कि भावस्वरूप देवताओं की मान्यता क्योंकर हुई। एक मन्त्र है :—

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ळ्हा येन॒ स्व॑: स्तभि॒तं येन॒ नाक॑: ।
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मान॒: कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥[1]

चौथी पंक्ति आगे आने वाले नौ मन्त्रों का ध्रुवपद है जिसमें प्रजापति को अज्ञात मानकर प्रश्नवाची सर्वनाम "कः" के द्वारा उन्हें संकेतित किया है। वैदिक साहित्य का यह 'कः' आगे चलकर न केवल सृष्टिकर्ता प्रजापति का पर्याय हो गया अपितु वह प्रजापति का एक स्वतन्त्र नाम ही बन गया है।

बृहस्पति — ऋग्वेद के सबसे प्राचीन तथा पिछले अंशों में एक और भावस्वरूप देवता पाये जाते हैं जिनका नाम है बृहस्पति अर्थात् प्रार्थनाओं के स्वामी। रोट तथा अन्य प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों ने बृहस्पति को साक्षात् भक्ति का मूर्त रूप माना है। परन्तु प्रस्तुत लेखक की सम्मति में वह अग्निदेव की यज्ञिय क्रियाओं का पारम्परिक रूप से दैवीकरण है। कारण, बृहस्पति और अग्नि में पर्याप्त सौसादृश्य है। बृहस्पति का मुख्य कार्य पौरोहित्य है। अग्नि की भाँति इन्द्र के उपाख्यान में बृहस्पति का भी समावेश हुआ और उन्होंने वहाँ एक स्थायी पद पा लिया। अनेकधा यह वर्णन मिलता है कि बृहस्पति ने बलासुर को जीतकर गो-ग्रहण किया। यज्ञ में ब्रह्मा नामक एक ऋत्विज होता है। बृहस्पति इस कार्य को करते हैं। इस रूप में उत्तरकालिक हिन्दू त्रिमूर्ति के मुख्य देवता ब्रह्मा के वह पूर्वरूप हैं। वेदोत्तर पुराणों में बृहस्पति

---

१. जिसके द्वारा यह विशाल गगन एवं ऐसी दृढ़ पृथ्वी, यह ज्योति तथा स्वर्ग लोक प्रसारित है और जो अन्तरिक्ष में अनेक योजन विस्तीर्ण यात्रा सन्तत करता है ऐसा वह देवता कौन है जिसकी अर्चना हम यज्ञ द्वारा करें।

ऋषि के रूप में वर्तमान है। वह सुरगुरु कहलाते हैं और बृहस्पति नामक ग्रह के अधिष्ठाता माने जाते हैं।

अदिति — इसी तरह एक भावात्मक कल्पना देवी अदिति की है। यह कल्पना एक निराली ही है। यद्यपि इनके नाम पर कोई स्वतन्त्र सूक्त नहीं पाया जाता, तथापि इनका स्फुट उल्लेख अनेक स्थान पर हुआ है। अदिति के केवल दो ही मुख्य स्वरूप हैं : एक, वह रूप जिसमें देवताओं के एक छोटे से वर्ग की वह माता है जो आदित्य कहलाते हैं और जिनमें वरुण मुख्य हैं; दूसरा, वह रूप जिसमें अदिति अपने पुत्र वरुण की तरह मानव को शारीरिक कष्ट एवं ताप के बन्धन से मुक्त करा देने की शक्ति से सम्पन्न है। यह दूसरा गुण ही उनके नाम को चरितार्थ करता है। कारण, अदिति शब्द का अर्थ है "बन्धन-मोचक" या 'स्वतन्त्रता'। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में अदिति का अमूर्त रूप भी वर्णित है। एक ऋषि अदिति से सुरक्षित एवं असीम वरदान माँगता है। अदिति की भावात्मकता का उद्गम इस तरह हुआ मालूम होता है—"अदिति-पुत्र"—यह संज्ञा कई बार आदित्यों को दी गयी है। सम्भवतः इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग "मुक्ति के पुत्र" इस अर्थ में हुआ होगा। ऋग्वेद की भाषा में इस प्रकार तोड़-मोड़ बहुधा पाया जाता है। इस प्रकरण में प्रयुक्त 'अदिति'—यह स्त्रीलिङ्ग पद क्रमशः किसी देवमूर्ति का बोधक बन गया। संस्कृत भाषा में इस प्रकार के अमूर्त को मूर्त रूप देने का प्रकार बहुत कुछ प्रचलित है। यों अदिति, जिसका उद्गम भारतीय देवी के रूप में है, ऐतिहासिक क्रम में अपने कुछ पुत्रों से अवश्य कनिष्ठ है जो प्राग्भारतीय युग में प्रचलित थे।

देवियाँ — वैदिक सम्प्रदाय में देवियों को बहुत कुछ गौण स्थान दिया गया है। जगत् के शासन में वह बहुत कम भाग लेती हैं। एक ही देवी उषस् है जो महत्त्व की कही जा सकती है। गौरव का दूसरा स्थान सरस्वती को प्राप्त है जो अप्रधान देवताओं के मध्य रक्खी गयी हैं। पृथ्वी को छोड़कर बहुत कम ऐसी देवियाँ हैं जिनपर एक सारा सूक्त कहा गया हो। उनमें से एक रात्रि है। अपनी बहिन उषस् के साथ-साथ उसका वर्णन द्यौः की पुत्री के रूप में किया गया है। रात्रि के स्वरूप की कल्पना में वह एकदम तमस्विनी नहीं है; परन्तु तारकित उज्ज्वल रात्रि रूप है। इन युगल देवियों की तुलना करते हुए ऋषि ने कहा है " एक ताराओं से सुशोभित है तो दूसरी सूर्य की आभा से "। रात्रि-सूक्त के निम्नलिखित मन्त्र उल्लेखनीय हैं: —

रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः ।
विश्वा अधि श्रियोऽधित ॥ १ ॥
ओर्वप्रा अमर्त्यानिवतो देव्युद्वतः ।
ज्योतिषा बाधते तमः ॥ २ ॥
निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती ।
अपेदु हासते तमः ॥ ३ ॥
सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि ।
वृक्षे न वसतिं वयः ॥ ४ ॥
नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः ।
नि श्येनासश्चिदर्थिनः ॥ ५ ॥
यावया वृक्यं वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये ।
अथा नः सुतरा भव ॥ ६ ॥

---

१. रात्रि होने पर, देवी अनेक स्थानों पर अपनी आँखों के द्वारा चमकती हैं: सर्व प्रकार से द्युतिमती उस देवी ने अपने आप को सुशोभित किया है । (ऋ. १०-१२७-१)

२. वह अमर देवी चारों ओर दूर-दूर घाटियों एवं ऊँचे स्थानों पर छा जाती है : वह प्रकाश को अन्धकार से घेर लेती है । (ऋ. १०-१२७-२)

३. और अब रात्रि देवी के प्रकट होते ही उसने अपनी बहिन उषा को हटा दिया है : दूर तक अन्धकार व्याप्त हो गया है । (ऋ. १०-१२७-३)

४. इस प्रकार यह देवी आज हमारे निकट आयी है; जिसके आते ही हम अपने घर ठीक वैसे ही चले जाते हैं जिस प्रकार पक्षी पेड़ पर अपने घोंसले में घुस जाते हैं । (ऋ. १०-१२७-४)

५. ग्रामीण विश्राम करने के लिये गये हैं और पशु भी अपने पैर से, तथा पक्षी अपने पंखों से विश्राम करने लगे हैं : क्षुधित श्येन पक्षी भी स्वयं शान्त है । (ऋ. १०-१२७-५)

६. रात्रि देवि ! नर एवं मादा भेड़िया से तथा तस्कर से हमारी रक्षा करो : और हमें अन्धकार से सुरक्षित ले जाओ । (ऋ. १०-१२७-६)

देवताओं की पत्नीरूप देवियों का और भी गौण स्थान है। उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत नहीं है। नामोल्लेख के सिवा उनके सम्बन्ध में और तो कुछ वर्णन प्रायः नहीं मिलता। उनके नाम भी केवल अपने पतियों के संज्ञा-पद में स्त्रीप्रत्यय लगाकर बने हैं।

युगल देवता — वैदिक उपाख्यानों की एक विशेषता है कि उनमें कुछ युग्म देवताओं की भी स्तुति है जिनके नाम द्वन्द-समासान्त हैं। पूरे-पूरे सूक्त में लगभग छः युगल देवताओं का वर्णन मिलता है। सबसे अधिक संख्या में मित्रावरुण के नाम पर सूक्त हैं, परन्तु उनसे भी अधिक बार उल्लेख द्यावापृथ्वी का है। इसमें सन्देह नहीं कि द्यावापृथ्वी की युग्म देवता ने ही इतर युगल देवताओं की कल्पना को प्रसूत किया। इसका कारण यह है कि द्यावापृथ्वी के युग्म की कल्पना अतिप्राचीन है। भारोपीय युग में भी हम इसे पाते हैं और यह आख्यायिका इतनी सहज और प्राकृतिक है कि इनके दाम्पत्य-भाव ने प्रागैतिहासिक मानव-समाज में सर्वत्र प्रसार पाया।

सामूहिक देवता — युगल देवताओं के अतिरिक्त कुछ सामूहिक देवताओं का भी वर्ग पाया जाता है जो किसी न किसी देवताविशेष के सदा सहचर हैं। इस वर्ग के मुख्य देवता मरुत है जो सदा इन्द्र के साथ युद्ध के समय रहते हैं। उसी तरह रुद्रों का भी एक मण्डल है जो अपने पिता रुद्र के साथ समय-समय पर रहते हैं। आदित्यों का छोटा सा समूह सर्वदा अपनी माता अदिति के साथ रहता है। इनमें मुख्य देवता वरुण है। ऋग्वेद के दो सन्दर्भों में आदित्यों की संख्या सात या आठ बताई है। परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में नियमित रूप से वे १२ माने गये हैं। सामूहिक रूप से इनकी स्तुति ऋग्वेद के आठ-दस सूक्तों में पाई जाती है। एक सूक्त की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत हैं जिसमें विशेषकर रक्षा के लिए उनसे सहायता माँगी गयी है।

पक्षावयो वथोपरि व्यस्मे शर्म यच्छत ॥ १ ॥
परि णो वृणजन्नघा दुर्गाणि रथ्यो यथा ॥ २ ॥

---

१. जिस प्रकार पक्षी अपने छायेंदार पंख फैलाता है उसी प्रकार आप भी हमारी रक्षा करें। (ऋ. ८-४७-२)

२. जिस प्रकार सारथि खराब सड़क से बच कर निकल जाते हैं उसी प्रकार कष्ट हमारे पास से निकल जाँय। (ऋ. ८-४७-५.)

युष्मे देवा अपिष्मसि युध्यन्त इव वर्मसु ॥ ३ ॥
आदित्या अव हि ख्यताधि कूलादिव स्पशः ।
सुतीर्थमर्वतो यथानु नेषथा सुगमनेह ॥ ४ ॥

वसु — पूर्वोक्त देवताओं से न्यूनतर महत्त्व का एक और तीसरा देवसमूह वसु का है जिन्हें प्रायः ऋग्वेद में इन्द्र के साथ और इतर वेदों में अग्नि के नेतृत्व में उपस्थित बताया है। उनके स्वरूप का स्पष्ट वर्णन नहीं है। वेद में न उनके व्यक्तिगत नाम ही दिये हैं और न निश्चित संख्या। ब्राह्मण-ग्रन्थों में उनकी संख्या आठ है।

विश्वेदेव — अन्तिम एक और वर्ग है विश्वदेवों का, जिनकी स्तुति में लगभग साठ सूक्त सम्बोधित किए गये हैं। यह एक कल्पित देवताओं का वर्ग है जिनके आह्वान से समस्त हिन्दू देवता उपस्थित हो जाते हैं और सर्वदेव के प्रति अर्पित बलि ग्रहण कर लेते है। यह एक विचित्र सी बात है कि कहीं-कहीं विश्वेदेव की कल्पना बहुत संकीर्ण रूप में पाई जाती है और उन्हें वसु तथा आदित्यों के समकोटि समझा गया है।

देवतात्मा — उच्चकोटि के देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में कई ऐसे कल्पित रूप भी हैं जिनका देवत्व पूर्ण रूप से अथवा प्रारम्भ से नहीं माना गया है। इस कोटि में ऋभु हैं। यह तीन देवतात्माओं का वर्ग है। ऋग्वेद में इन्हें ग्यारह सूक्त सम्बोधित हैं। निजी विशेषताओं के नाते ये चतुरता और हस्तकौशल के लिये विख्यात हैं। उन्होंने अपने अद्भुत कौशल के कारण ही देवत्व प्राप्त किया है। वे कला-कौशल में त्वष्टा के सफल प्रतियोगी माने जाते हैं। उनके पाँच पराक्रम अद्भुत हैं। उन्होंने देवताओं के लिये पानपात्र तथा चार चमकीले प्याले बना दिये हैं। सम्भवतः इनका यह अमृतपात्र चन्द्र रूप होगा और चार प्याले उसकी कलायें हैं। ऐसा भी माना जाता है कि ये चार प्याले चार ऋतुएँ हैं। यह भी कहा जाता है कि ऋभुओं ने

---

३. देवताओं! आप में विश्वास रख, हम उन मनुष्यों की तरह हैं जो कि कवच के कारण सुरक्षित होकर लड़ते हैं। (ऋ. ८-४७-८)

४. आदित्यों! हमारी ओर ऐसे देखो जिस प्रकार गुप्तचर किनारे से देखते हैं। हमें आनन्दकारी मार्ग पर वैसे ही ले जाओ जिस प्रकार सूत घोड़ों को सुगम नदी के छिछले स्थान पर ले जाते हैं। (ऋ. ८-४७-११)

अपने माता पिता को पुनः यौवन प्रदान किया है। सम्भवतः ये द्यावापृथ्वी हैं। इस अद्भुत कार्य के साथ एक और कथानक संलग्न है। उन्होंने सूर्य के घर में (अगोह्य[1]) बारह दिन विश्राम किया। सूर्य के घर में ऋभुओं की यह यात्रा सम्भवतः उत्तरायण की ओर संकेत करती है। ये बारह दिन चान्द्र वर्ष में इसलिए जोड़ दिये गये हैं ताकि वह सौर वर्ष के बराबर हो जाँय। ये बारह दिन दिनमान की अभिवृद्धि से पूर्व, सन्धि काल में रखे गये हैं। चान्द्र वर्ष तीन सौ चौवन दिन का होता है और सौर वर्ष तीन सौ छाछठ दिन का। सारांश यह है कि ऋभु वास्तव में भूमि या वायुमण्डल की परियाँ थीं। उनकी कला-कौशल ने उनके सम्बन्ध में अनेक रोचक कथाएँ प्रचलित की हैं।

अप्सराएँ — ऋग्वेद के कुछ प्रकरणों में कतिपय स्वर्गीय जल-देवियों का भी उल्लेख है। ये जल में घूमती रहती हैं। अत एव उनका नाम अप्सरा है (अप्सु सरन्ति ताः अप्सरसः)। वे गन्धर्व की अर्धाङ्गिनियाँ समझी जाती हैं। ऋषियों के शब्दों में ये अप्सराएँ स्वर्ग के उच्चतम स्थान पर अपने प्रियतमों के साथ विनोद करती रहती हैं। अप्सराओं की संख्या एक से अधिक है। परवर्ती वेदों में बताया है कि वे भूमण्डल पर भी विहार करती रहती है। वे विशेषतः वृक्षों पर रहती हैं जो उनकी बाँसुरी और कर्ताल की ध्वनि से सङ्गीतमय हो जाते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वे सौन्दर्य की प्रतिमाएँ हैं और नृत्य, वाद्य तथा गीत में परम निष्णात हैं। वेदोत्तर साहित्य में वे इन्द्र-सभा की गणिकाएँ हैं। अप्सराओं के साथ प्रेम, न केवल गन्धर्व ही करते, पर कभी-कभी मानवों का भी उनसे स्नेह हो जाता है। एक अप्सरा उर्वशी है। ऋग्वेद के एक अपरिचित से सूक्त में (१०—९५) उर्वशी का अपने पार्थिव प्रिय पुरूरवा के साथ सम्वाद मिलता है, उसकी उक्ति है :—

यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः ॥[2]

उसका वह प्रणयी पुनः समागम के लिए प्रार्थना करता है परन्तु उसकी यह याचना अस्वीकृत की जाती है। तथापि टिटोनस के समान वह भी अमरत्व का वरदान पाता है। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रणय-कथा का वर्णन

---

१. अगोह्य अर्थात् जो छिपाये नहीं जा सकते।

२. मैं एक अन्य ही रूप में मर्त्यलोक में विचरती रही; मैंने वहाँ चार शरद ऋतुएँ बिताईं और मैं कई रात वहीं रही। (ऋ. १०-९५-१६)

अधिक विशद एवं सुसम्बद्ध रूप में मिलता है। उर्वशी पुरूरवा से प्रेम करती है; परन्तु इस संयोग की अवधि एक अनुबन्ध पर निर्भर है। ईर्ष्यालु गन्धर्वों के द्वारा कपटपूर्वक उस अनुबन्ध का भङ्ग करवाया जाता है, और वह अप्सरा तुरन्त ही अपने प्रणयी की दृष्टि से लुप्त हो जाती है। उसके विरह से उन्मत्त हो, पुरूरवा उसका अन्वेषण करते वन वन में क्रन्दन करता है और अन्त में वह उसे एक पुष्करणी में इतर अप्सराओं के साथ जलचर पक्षी के रूप में तैरती हुई पाता है। उर्वशी उसके सामने प्रकट होती है और उसकी भूरि याचना के प्रत्युत्तर में एक वर्ष के पश्चात् सकृत् उससे मिलने का अभिवचन देती है। इसी उपाख्यान के आधार पर लौकिक साहित्य में कालिदास द्वारा विक्रमोर्वशी की रचना हुई है।

गन्धर्व — मूलतः गन्धर्व की कल्पना एक ही व्यक्ति के रूप में हुई थी— ऐसा प्रतीत होता है। कारण, ऋग्वेद में प्रायः सर्वत्र 'गन्धर्व' पद का एक-वचन में ही प्रयोग मिलता है। अवेस्ता में भी इसी प्रकार 'गन्डरेवा' का भी उल्लेख एकवचन में ही पाया जाता है। ऋग्वेद के अनुसार वह अप्सरा का प्रेमी है और आकाश मण्डल में सीधा खड़ा रहता है और वायु के अगाध परिसर में निवास करता है। वह द्रिव्य वनस्पति सोम का संरक्षक है; कहीं-कहीं उसका सम्बन्ध जल से भी बताया है जो अवेस्ता के अनुरूप है। परवर्ती वेदों में गन्धर्वों की एक जाति है और अप्सराओं के साथ उनका संसर्ग एक सन्तत उल्लेख का विषय है। वेदोत्तर काल में वे दिव्य गायक बताये गये हैं। वे सदा पवन-वासी हैं। यह धारणा लौकिक संस्कृत में 'गन्धर्वपुरी' इस पद में प्रतिबिम्बित है, जो मृगतृष्णा का वाचक है।

मनु — ऋग्वेद में अनेक प्राचीन पुरोहितों और वीरों का उल्लेख है जिनमें मनु मुख्य है। वे प्रथम यजमान थे और मानव जाति के मुख्य पुरुष। ऋषियों ने उन्हें पिता कह कर सम्बोधित किया है और समग्र यजमान मानव कहे गये हैं। मानव जाति के इतिहास में मनु का, शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार, वही स्थान है जो नोहा का है।

ऋग्वेद में **'अङ्गिरसः'** नाम का एक प्राचीन पुरोहितों का वर्ग है जिनका उल्लेख प्रायः इन्द्र के साथ गो-ग्रहण के उपाख्यान में उपलब्ध होता है। इसी तरह **भृगु** भी प्राचीन पुरोहितों का एक मण्डल है जिनके पास भारतीय प्रोमोथियस, **मातरिश्वा** ने स्वर्ग से अन्तर्हित अग्नि को लाकर दी। इसका मुख्य कार्य पृथ्वी पर यज्ञिय अग्नि की स्थापना और प्रसार था।

निश्चित संख्या में कुछ पूर्वजात पुरोहित हैं जिनका ऋग्वेद में बहुत ही कम वार उल्लेख पाया जाता है। ये सप्तर्षि हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंके अनुसार सप्तर्षि-मण्डल में सात नक्षत्र माने जाते हैं। कहा जाता है — पूर्व ये भालू के रूप में थे। ऋग्वेद के सप्तर्षियों की सात नक्षत्रों के साथ तादात्म्य की कल्पना निश्चय ही संख्यागत समानता के कारण हुई है। कारण, ऋग्वेद में 'ऋच्छ' शब्द भालू और नक्षत्र दोनों का ही वाचक है।

दैवी पशु — वेद के उपाख्यानों तथा धार्मिक धारणाओं में पशु-वर्ग का भी भाग अनल्प है। पशुजाति में वे पशु विशेषतर उल्लेखनीय हैं जो देवताओं के रथों का परिवहन करते हैं। सूर्य के साथ तो अश्व का सम्बन्ध और भी सविशेष है। वैदिक कर्मकाण्ड में 'वाजी' सूर्य और अग्नि का प्रतीक माना गया है। ऋग्वेद के दो सूक्त[1] अश्व के विषय में वर्णन करते हैं जिससे यह पता चलता है कि भारत में प्राचीनतम युग से अश्वमेध की परम्परा प्रचलित थी।

ऋग्वेद में सबसे अधिक महत्त्व गो को दिया है। निःसन्देह इसका कारण यह था कि भारतीय जीवन के अतिप्रारम्भिक युग से ही इस प्राणी की महत्ता अपनी सर्वोत्कृष्ट उपयोगिता के कारण सिद्ध थी।

उषःकाल की किरणें तथा मेघ को गोरूप माना है। पृश्नि नामक पर्जन्य देवता गोरूप हैं और वह मरुत् नामक देवों की जननी है। प्रचुर वर्षा करने वाले मेघों पर ही भारत की रिद्धि निर्भर थी अत एव उन्हें विविध वर्णों की गौओं का पूर्व रूप मानना उचित ही है। मेघों को अथर्ववेद में स्वर्ग से सकल कामना को पूर्ण करने वाली गौ कहा है। वास्तव में यही धारणा वेदोत्तर काल में प्रचलित कामदुघा की पुरोगामिनी है। ऋग्वेद के ऋषियों ने बहुधा उर्वी को भी गोरूप माना है। इसका प्रमाण है एक सूक्त, जिसमें ऋषि ने गौ को अदिति और देवता के रूप में सम्बोधित किया है। इससे श्रोतागण पर यह प्रभाव होता है कि गौ अवध्य है। ऋग्वेद में गऊ को बारम्बार 'अघ्निया' कहा है। यह नाम भी उसकी अवध्यता ही प्रमाणित करता है। अवेस्ता से भी यही प्रमाणित होता है कि गौ के प्रति पूज्य भाव हिन्द-इरानियन युग में भी प्रचलित था। अथर्ववेद में तो गोपूजा पूर्णरूप से स्वीकृत हो चुकी थी, और शतपथ ब्राह्मण में गोमांस-भक्षण

1. ऋ. मण्डल 1, सूक्त 162-163।

के महापातक पर बहुत ही बल दिया है। गौ के प्रति यह प्रीति-भाव न केवल आज तक चला आ रहा है अपितु कालक्रम से वह अत्यन्त दृढ़ और रूढ़ हो चुका है। भारतीय गदर के समय घृताक्त (चिकने) कारतूसों ने जो उत्तेजना दी है वह इसी गो-श्रद्धा का परिचायक उदाहरण है। वास्तव में मानव और किसी पशु का इतना ऋणी नहीं जितना गौ का। इस ऋण का भारतवर्ष ने अपरिमेय पूज्य भावना के द्वारा पूर्णरूप से अपाकरण किया है जो विश्व के किसी अन्य देश में अविज्ञात है। भारतीय जीवन और विचार में धेनु की इतनी महत्ता है कि प्राचीनतम काल से उसके प्रभाव का पूर्ण विवरण दिया जाय तो वह संस्कृति के इतिहास में अवश्य ही एक महत्त्व का अध्याय बनेगा।

नाग-पूजा — ऋग्वेद के भयावह जन्तुओं में सर्प सबसे प्रथम उल्लेखनीय है। ऐसा कहा जाता है कि इन्द्र का शत्रु बलिष्ठ दैत्य सर्परूप ही था। परन्तु सर्प एक देवता के रूप में भी वर्णित है। इस रूप में सर्प का नाम है अहिर्बुध्न्य, जिसका वासस्थान पवन के गम्भीरतम अन्तस्थल में माना है और सम्भवतः वह वृत्र नामक सर्प के भले रूप का प्रतीक हो। परवर्ती वेदों ने गन्धर्व आदि के साथ सर्पों का भी उल्लेख देवयोनि के अन्तर्गत किया है। सूक्तों में तो उन्हें बलि देने का विधान भी मिलता है। हमें परवर्ती ग्रन्थों में सबसे पहले नागों का वर्णन मिलता है जो वास्तव में सर्प थे; परन्तु उनका रूप मानव था। वेदोत्तरकाल में नागपूजन समग्र भारतवर्ष में प्रचलित रहा। ऋग्वेद में कहीं भी नागपूजा का लक्षण नहीं दीखता, जो भी यह तो आर्येतर भारतीयों में सर्वत्र प्रचलित है। अतः इस धारणा के लिए आधार मिलता है कि जब आर्य जाति नागों के इस भारत देश में फैली, और उसने पाया कि यहाँ के अधिवासियों में यह सम्प्रदाय सर्वत्र प्रचलित है तो उसने भी नागपूजा को अपना लिया।

देवरूप वनस्पति — कई स्थलों पर वनस्पतियों को भी देवता के रूप में सम्बोधित किया है। ऐसा वर्णन विशेषकर वहीं मिलता है जहाँ उनकी परिगणना, जलाशय, नदी, पर्वत, द्यौः और पृथ्वी के साथ की है। एक समग्र सूक्त[1] औषधि के स्तुति में कहा है। इस सूक्त में औषधि की स्वास्थ्यप्रद विशेषताएँ वर्णित हैं। परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में वनस्पतियों की पूजा भी है

१. ऋ. मं. १०-सू. ९७।

और इन्हें भी अर्घ्य आदि दिये जाते हैं। वर-यात्रा के समय तो महावृक्षों की पूजना विहित है। ऋग्वेद के एक सूक्त[1] में वन को समष्टि रूप से 'अरण्यानी' कहकर उसकी महत्ता दिखाई है। इसे वनों की कल्पित देवता (आत्मा) माना है। प्रकृति के सुन्दर दृश्यों का वर्णन करते हुए वन के भयावह दृश्य और चीत्कार तथा अन्धकार में निर्जन स्थानों का निम्नलिखित पंक्तियों में वर्णन है :—

उत गावइवादन्ति उत वेश्मेव दृश्यते ।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥ क ॥
गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत् ।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ॥ ख ॥
न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते ॥ ग ॥
आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥ घ ॥

सामान्यतः, वनस्पति और वनदेवियों का कार्य-भाग ऋग्वेद में बहुत ही स्वल्प है।

---

१. ऋ. मं. १० -सू. १४६ ।

क. चरती हुई गाय जैसी ध्वनि सुनाई देती है, निवास-स्थान अस्पष्ट से दृष्टिगोचर होते हैं और वन-देवी अरण्यानी सन्ध्या समय में गाड़ी की तरह चरचराहट करती है। (ऋ. १०-१४६-३)

ख. यहाँ एक ओर, कोई अपनी गाय को अपने पास बुला रहा है, दूसरी ओर निर्जन जंगल है; जो भी वन में घूमता है वह सोचता है, "मैंने एक चिल्लाहट सुनी।" (ऋ. १०,१४६-४)

ग. अरण्यानी किसी को भी चोट नहीं पहुँचाती जब तक कोई उसके अत्यन्त निकट नहीं जाता : जब वह स्वेच्छा से मधुर फल खा लेती है तब वह विश्राम करती है। (ऋ. १०-१४६-५)

घ. मधुर सुगन्धित, औषधि से सुरभित, भोजन से परिपूर्ण, यद्यपि खेती से रहित, पशुओं की माता, वन-देवी का मैंने प्रशंसा से यशोगान किया है। (ऋ. १०-१४६-६)

अतिप्राचीन युग की एक विचित्र धार्मिक धारणा यह है कि मानव ने स्वरचित वस्तुओं को भी उपयोगिता के कारण पूज्य-भाव प्रदान किया है और उनमें देवत्व की कल्पना की है। ऐसी वस्तुओं में मुख्यतः यज्ञिय उपकरण हैं। उदाहरणार्थ, तृतीय मण्डल के अष्टम सूक्त में यूप को वनाधिपति कह कर सम्बोधित किया है। दशम मण्डल के तीन सूक्तों में सोम रस को निकालने वाले पाषाणों की देवरूप में गणना की है। कुछ मन्त्रों में हल को भी देवरूप कहा है। एक समग्र सूक्त में[1] युद्ध के विविध शस्त्रास्त्र की स्तुति है। अथर्व वेद के एक सूक्त में[2] पटह का भी गुणगान किया है।

असुर — ऋग्वेद में असुरों का बहुधा वर्णन है। इनकी दो जातियाँ हैं— एक वह, जो गगनवासी देवताओं के विपक्षी हैं। प्राचीन दृष्टि से एक ही देवता और एक ही असुर के बीच युद्ध की कल्पना है। क्रमशः यह धारणा देवों और दानवों के बीच दो प्रतिपक्षी सेनाओं के मध्य व्यूहरचित युद्ध के रूप में परिणत हुई। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इस वैमनस्य का निरन्तर वर्णन है। वायु-मण्डल में संचार करने वाले देव-शत्रुओं का सामान्य नाम असुर है। इस शब्द की व्युत्पत्ति उल्लेखनीय है। ऋग्वेद में तो असुर शब्द प्रधानतः देवों का ही नाम है। अवेस्ता में इसका रूप 'अहुर' है, जो जरथोस्त मत में सर्वोच्च देव हैं। ऋग्वेद के पिछले भागों में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने पर यह पद दानव का वाचक हुआ। अथर्ववेद में तो इस पद का यही एकमात्र अर्थ है। देववाची यह शब्द किस तरह जातीय विरोध के कारण दानवार्थक बन गया—यह समझाने का एक असफल प्रयत्न किया गया है। कहा जाता है कि वेद-बाह्य जातियों के असुर नामक देवता भारतीय वैदिक विचारों में ठीक उसी तरह दानव हुए जैसे वैदिक देवता अवेस्ता में दानव बन गये। इस मत के समर्थन में किसी भी परम्परा का साक्ष्य या प्रमाण नहीं है। इतना ही नहीं, परन्तु ऋग्वेदकालीन भारतीय के लिए असुर सामान्यतः देववाचक ही रहा और विशेषकर अपने सर्वोत्कृष्ट देवता वरुण का विशेषण। सम्भवतः इस शब्द ने ऋग्वेद में ही, कालक्रमानुसार, अर्थगत परिवर्तन सहन किया हो। प्रारम्भ से ही ऋग्वेद में असुर शब्द "गूढ़-शक्ति-सम्पन्न" इस अर्थ में प्रयुक्त होता रहा। इसी आधार पर क्रमशः वह शक्तिशाली प्रति-

---

१. ऋ. मं. ६–सू. ७५।

२. अ. वे. ५–२०।

पक्षियों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। ऋग्वेद के एक सन्दर्भ में[1] असुर शब्द का प्रयोग देव और दानव इन दोनों अर्थ में मिलता है। ऋग्वेदकाल के समाप्त होते-होते देवता के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अप्रचलित सा होने लगा। इस प्रवृत्ति को सम्भवतः प्रतिपक्षी दानवों की शक्ति को बोधित करने वाले शब्दविशेष की आवश्यकता ने और अधिक प्रेरित की। फलतः, 'असुर' शब्द में नञर्थक उपसर्ग को पाकर, सामान्य व्युत्पत्ति के निर्बल आधार पर अ-सुर को सुर के प्रतिद्वन्द्वी अर्थ में रूढ़ कर, देववाचक एक नये शब्द 'सुर' का आविष्कार किया, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग उपनिषदों में मिलता है।

गगनचारी दानवों का एक और वर्ग है जो मुख्यतः इन्द्र का शत्रु है। ये **पणि** नामक दानव हैं। इस शब्द का ठीक मतलब तो कृपण है जो विशेपकर यज्ञिय दक्षिणा से सम्बन्ध रखता है। इसी अर्थ के बल 'दानव' शब्द का पौराणिक अर्थ, सादृश्य के आधार पर, रूढ़ हुआ; कारण, वे स्वर्ग की निधि को चुराकर अपने पास रखना चाहते थे। दास अथवा दस्यु वास्तव में भारत के काले आदि-वासियों का नाम था। गौराङ्ग विजेता द्वारा आर्यों के रङ्गभेद के कारण इन आदि-वासियों के लिये प्रयुक्त दस्यु शब्द दानव के अर्थ में प्रचलित हुआ।

व्यक्तिगत रूप में ऋग्वेद के **वृत्र** नामक गगनचारी दानव को ही सबसे भयावह बताया है। इसका रूप सर्प जैसा है और इसकी संज्ञा का अर्थ "घेरने वाला" है। उस जैसा एक और **बलि** नामक दैत्य है जिसका वर्णन बहुधा मिलता है। यह उस कल्पित गुफा का मूर्त रूप है जिसमें दिव्य धेनु बन्दीकृत थीं। वेदोत्तर साहित्य में ये दोनों भाई इन्द्र के द्वारा निहत हुए। इन्द्र के शेष शत्रुओं में बहुधा निर्दिष्ट एक और दानव है जिसका नाम **शुष्ण** अर्थात् सुखाने वाला या सूँ सूँ करने वाला है। कहीं-कहीं **स्वर्गभानु** नामक दैत्य का निर्देश मिलता है। वह अपने अन्धकार से सूर्य का ग्रास करता है। लौकिक साहित्य में वही राहु रूप से वर्णित है जो ग्रहण काल में सूर्य और चन्द्रमा को ग्रसित करता है।

दानवों की दूसरी जाति **भूतों** की है, जो पृथ्वी पर मानवों को असुर की तरह सताते हैं और देवताओं को वायुमण्डल में सन्त्रस्त करते हैं। इस जाति का नाम राक्षस है। इनका स्वतन्त्र रूप से कहीं उल्लेख नहीं है। इनका वर्णन प्रायः उसी सन्दर्भ में मिलता है जहाँ किसी न किसी देवता की स्तुति

---

१. ऋ. मं. १०, सू. १२४

इनके विनाश के लिए की है। ये राक्षस हर किसी प्राणी का अथवा मनुष्य का रूप धारण कर लेते हैं। इनके स्वरूप का वर्णन पूर्णरूप से अथर्ववेद में है। अथर्ववेद में इनका रूप बहुत ही विकृत है : कोई नीला, कोई पीला तो कोई हरा। ऋग्वेद के अनुसार ये नरमांस या अश्व के मांस के शौक़ीन हैं और सदैव अपनी क्षुधा की शान्ति के लिए उन्हीं पर आक्रमण करते हैं। ये रात में आक्रमण करते हैं और विशेषकर यज्ञ ध्वंस करने के लिए टूट पड़ते हैं। यह धारणा कि राक्षस सदा यज्ञध्वंस के लिये उत्सुक रहते हैं वेदोत्तर युग में अत्यन्त प्रचलित है। एक और जाति **पिशाचों** की है जिसका वर्णन ऋग्वेद में तो उतना नहीं मिलता जितना इतर वेदों में है। ये शव खाते हैं और प्रेतात्माओं से अधिक सम्बन्ध रखते हैं।

ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों में मृत्यु और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा-सा उल्लेख मिलता है। सम्भवतः वैदिक काल के आशावादी, कर्मशील भारतीय ने परलोक के सम्बन्ध में कहीं इतना विचार प्रस्तुत नहीं किया जितना आगे चलकर उनकी सन्तति ने किया है। जो भी कुछ ज्ञान इस सम्बन्ध में हमें ऋग्वेद में मिलता है वह अन्तिम मण्डल के यम-सूक्त में ही है जिसमें इस मान्यता को प्रकट किया है कि अग्नि शरीरमात्र का नाश करती है, पर मृत की आत्मा तो अमर है। आत्मा शरीर से पृथक् है। इसका अस्तित्व केवल मृत्यु के पश्चात् ही नहीं, अपितु सुषुप्ति की अवस्था में भी माना है।[1] ऋग्वेद में, अथवा अन्य वेदों में कहीं भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर संकेत नहीं मिलता; यद्यपि बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व, ईसापूर्व छठवीं शताब्दी में यह बद्धमूल हो गया था। ऋग्वेद का एकमात्र अंश, जहाँ आत्मा को जल अथवा वनस्पतियों की ओर प्रयाण करते हुए बताया है, पुनर्जन्म के सिद्धान्त का बीज कहा जा सकता है।

---

1. ऋ. मं. १०, सू. ५८

अध्याय ५

ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व

वैदिक मतानुसार प्रेतात्मा शाश्वत प्रकाशमय दिव्यधाम की ओर प्रस्थान करता है। वह उसी मार्ग से जाता है जिससे उसके पूर्वज गये थे। वह सर्वोच्च लोक में परेतपति यमराज के साथ आनन्द करते और देवताओं के साथ प्रीतिभोज में सम्मिलित होते हुए पितरों से मिलता है।

पितृसूक्त में प्रेतात्माओं को सम्बोधित करते हुए कहा है —

"प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥"[1]

वहाँ एक विशाल वृक्ष है जिसमें अनेक शाखाएँ हैं। उसकी छाया में यमराज देवताओं के साथ सोमपान करते हैं। वहाँ वंशी बजती रहती है और गीत सुनाई देते हैं। स्वर्ग का जीवन सब त्रुटियों से मुक्त है, न वहाँ शारीरिक दुर्बलता है और न कोई विपत्ति। वहाँ भौतिक आनन्द से परिपूर्ण सुखी जीवन है जिसकी कल्पना वीरों ने नहीं, अपितु ऋत्विजों ने कल्पित की है। स्वर्ग उन वीरों का पुरस्कार है जिन्होंने रण-यज्ञ में आत्म-बलिदान किया है। सबसे अधिक सुन्दर वह स्थान, विशेष कर, उनके लिये है जिन्होंने यज्ञ में उदारता के साथ दान दिया है।

यद्यपि अथर्ववेद में मृत्यु के पश्चात् दण्ड भोगने के स्थान की कल्पना अवश्य की गई है तथापि यत्र-तत्र प्राप्त प्रमाण के आधार पर ऋग्वेद से केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि नास्तिक जन मृत्यु के पश्चात् पाताल में अन्ध तामिस्र में डाल दिये जाते हैं। इस विषय पर ऋषियों ने इतने स्वल्प एवं अस्पष्ट वचन कहे हैं कि आचार्य रोट के अनुसार ऋग्वेद की धारणा यह थी कि दुष्टों का सर्वनाश मृत्यु के पश्चात् ध्रुव था। मृत्यु के पश्चात् पापियों को

---

१. हे मेरे पिता! अनादिकाल से पूर्वज जिस मार्ग से जाते रहे हैं उसी मार्ग से आप भी सिधारें और परलोक में अमृत पान करते हुए देवताओं के मध्य प्रमोद करते हुए यमराज एवं वरुणदेव से जाकर मिलें। (ऋ० १०-१४-७)

दण्ड होता है—यह कल्पना धीरे-धीरे विकसित हुई। यहाँ तक कि वेदोत्तर काल में तो नरकों का एक जटिल व्यूह विस्तृतरूप से कल्पित है।

ऋग्वेद में कुछ प्रकरण ऐसे हैं जिनमें पितृमार्ग और देव-मार्ग में भेद बताया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि बलिदान और दाह की पद्धति भिन्न-भिन्न है। ब्राह्मण ग्रन्थों में पितृलोक और देवलोक अलग-अलग हैं; पितृलोक और देवलोक में तारतम्य है।

पितरों में प्रमुख यम है जिनके नाम पर पूरे तीन सूक्त ऋग्वेद में हैं। यम को राजा कहा है, जो प्रेतात्मा पर शासन करता है और उन्हें एकत्र अवस्थित करता है। वही प्रेतात्माओं को विश्राम-स्थान देता है, और उनके लिये लोक-निर्धारण करता है। यम ही प्रथम व्यक्ति है जिसने लोकान्तर का पथ ढूँढ निकाला —

"परेयिवांसं प्रवतोमहीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषो दुवस्य ॥"[1]

यद्यपि यम का मार्ग मृत्यु है और इसी कारण वह भयावह भी, तथापि अथर्ववेद और पुराणों की भाँति ऋग्वेद में यम मृत्यु का देवता नहीं है। जहाँ-तहाँ बताया गया है कि कपोत और उलूक उसके दूत हैं। परन्तु उसके निश्चित दूत तो दो कुक्कुर हैं जो परलोक की यात्रा करने वाले प्रेतात्मा के पथ की सुरक्षा करते हैं। पितृसूक्त में कुक्कुरों के लिये निम्नलिखित मन्त्र सम्बोधित हैं —

"अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा ।
अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥"[2]

---

१. हे यजमान ! तुम हवि के द्वारा पितरों के स्वामी यमराज की पूजा करो। वह वैवस्वत के पुत्र हैं। इन्होंने ही भूतल से बहुत ऊपर जाकर नये लोक का अन्वेषण किया और लोगों के लिये उसका मार्ग ढूँढ निकाला। (ऋ० १०–१४–१)

२. हे अग्नि ! आप सीधे इस प्रेतात्मा के साथ, सरमा के पुत्र, चार आँख वाले काले-सफेद रंग के दो कुक्कुरों से पहिले, पितरों के पास यमलोक पहुँचे, जहाँ सुविदित पितर यमराज की सभा में प्रमुदित हो रहे हैं। (ऋ. १०-१४-१०)

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥[1]

ऋग्वेद में कहीं-कहीं 'यम' पद का प्रयोग 'युगल जोड़ा' इस अर्थ में मिलता है परन्तु प्रेतों के अधीश के रूप में एक समग्र सूक्त[2] (१०—१०) दिया है जिसमें यम और उसकी बहिन यमी का संवाद बहुत कवित्वपूर्ण एवं सुन्दर है। यमी यम को अनुरक्त करना चाहती है पर यम इन शब्दों के साथ उसकी विभ्रममयी चेष्टाओं को अस्वीकृत करता है :—

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्यम् त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥[3]

इस सूक्त का मुख्य विषय इन दोनों का प्रेम-प्रसंग है जो ऋग्वेद के उच्चतर नैतिक स्तर के विरोधी होते हुए भी आदिम युग से मानव जाति की उत्पत्ति-कथा के प्रचलित स्वरूप का प्रतीक है। यह सन्दर्भ निस्सन्देह भारतीय-इरानी युग से चला आ रहा है। कारण, परवर्ती अवेस्ता साहित्य में भी यिमेह यम की बहिन कही गयी है। यम के पिता का नाम भी उसी युग से प्रचलित है, अवेस्ता में भी ठीक उसी तरह यिम को विह्वनवन्त का पुत्र बताया है जिस तरह ऋग्वेद में यम को विवस्वत का पुत्र कहा है।

ऋग्वेद में अधिकांश सूक्त देवताओं को अथवा देवकल्प वस्तुओं को सम्बोधित हैं। इनके अतिरिक्त स्फुट वर्णन भी हैं जो विशेष कर दशम मण्डल में मिलते हैं। इनमें दस-बारह कथानक सम्वाद रूप हैं जो अस्पष्ट

---

१. ये बड़ी नाक के भूरे-भूरे दो कुक्कुर यम के दूत हैं जो प्रेतात्मा के पीछे उनके प्राण के लोभ से दौड़ रहे हैं। हम प्रार्थना करते हैं कि वे कृपाकर हमें आज के दिन सूर्य के साक्षात्कार के लिये हमारे भद्र प्राणों को पुनः लौटा दें। (ऋ. १०-१४-१२)

२. ऋ० मं. १०, सू. १० ।

३. हे यमी ! यहाँ चारों ओर देवताओं के गुप्तचर सतत सञ्चार कर रहे हैं, वे न कहीं ठहरते हैं और न आँख बन्द करते हैं। अत एव तुम अन्य किसी युवा के पास पहुँचो, लता से समाश्लिष्ट पादप की भाँति वही अविरल आलिङ्गन के द्वारा तुम्हारी सम्भावना करेगा।
[ऋ. १०-१०-८ (अ), १४ (अ)]

एवं त्रुटित रूप से पुरातन घटनाओं का वर्णन करते हैं। सम्भव है कि मूलरूप में वे गद्यात्मक कथानक हों जिनके द्वारा तात्कालिक वस्तु-स्थिति का समूचा रूप सामाजिकों के सम्मुख रखा गया है, परन्तु उनका यह मौलिक पूर्वरूप ऋग्वेद संहिता के सङ्कलन के पश्चात् लुप्त हो गया ऐसा लगता है।

सम्वाद-सूक्त

सम्वाद सूक्तों में एक प्रकरण इन्द्रवरुण-सम्वाद का है[1] जिसमें प्रत्येक देवता अपनी-अपनी प्रमुखता का दावा करता है। इससे भी अधिक सुन्दर काव्यमय एक और सूक्त है[2] जिसमें वरुण तथा अग्नि की उक्ति-प्रत्युक्तियाँ पर्याय से कही गई हैं। ऐसा ही, अग्नि देव का इतर देवताओं के साथ सम्वाद सूक्त भी मिलता है[3] जिसमें अग्नि यज्ञ-कर्म के सम्पादन से विरत होना चाहते हैं, परन्तु देवताओं के आग्रह पर वह अपना कार्य करते रहना स्वीकार करते हैं।

एक और कुछ अप्रसिद्ध सा गद्यमय सूक्त[4] मिलता है जिसमें इन्द्र-इन्द्राणी का सम्वाद है। विषय है एक बानर, जिस पर इन्द्राणी कुपित हो गई है। अन्यत्र वर्णनीय प्रसङ्ग अति सुन्दर कविता में प्रस्तुत है[5] जिसमें चुराई गईं गौओं का पता इन्द्रदूत सरमा ने लगाया और उन्हें पणियों से लौटा देने के लिए कहा।

ऐसा एक और सन्दर्भ है[6] जो उर्वशी और पुरूरवा की कथा का वर्णन करता है। सम्वाद वहाँ से प्रारम्भ होता है जब वह अप्सरा अपने मानव प्रियतम से सदा के लिये विदा चाहती है। इसका महत्त्व बड़ा है—इसलिये नहीं कि भारोपीय प्रेम-साहित्य में यह एक पुराना उपाख्यान है वरन् इसलिए कि भारतीय साहित्य में उसके पीछे एक लम्बा इतिहास आधारित है। हम बता चुके हैं कि यम-यमी सम्वाद[7] तो इससे भी

१. ऋ.–मण्डल ४, सूक्त ४२।

२. ऋ.–मण्डल १०, सूक्त ५१।

३. ऋ.–मण्डल १०, सूक्त ५२-५३।

४. ऋ.–मण्डल १०, सूक्त ८६।

५. ऋ.–मण्डल १०, सूक्त १०८।

६. देखो पीछे पृ. ९५।

७. देखो– ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १०।

अधिक पुरातन है। वस्तुतः ये कल्पित गीत (यदि ऐसा कहा जाय तो) परवर्ती युग के महाकाव्य एवं नाटक साहित्य के पूर्वाभास हैं।

यन्त्र-मन्त्र

ऋग्वेद में बहुत ही कम ऐसे सूक्त हैं जो देवताओं अथवा देवतात्माओं को सम्बोधित नहीं हैं। सब मिलाकर ऐसे सूक्त तीस से अधिक न होंगे। दशम मण्डल में दस-बारह मन्त्र ऐसे हैं जिनमें यन्त्र-मन्त्र की चर्चा है। वास्तव में यह भाग अथर्ववेद के दायरे का है। दो छोटे-छोटे सूक्त[1] शकुनशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें शुभशकुन के पक्षियों से मङ्गल स्वर निनादित करने के लिए प्रार्थना की गयी है। एक सूक्त ऐसा है जो

---

१. कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्त्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभिमा विश्व्या विदत्॥ १॥
मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मा त्वा विददिषुमान्वीरो अस्ता।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह॥ २॥
अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते।
मा नः स्तेन ईशत माघशंसो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ३॥
(ऋ. मण्डल २, सू. ४२)

प्रदक्षिणिदभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः।
उभे वाचौ वदति सामगाइव गायत्रञ्च त्रैष्टुभञ्चानु राजति॥ १॥
उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्रइव सवनेषु शंससि।
वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद।
विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद॥ २॥
आवदँस्त्वं शकुने भद्रमा वद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः।
यदुत्पतन्वदसि कर्करिर्यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ ३॥
(ऋ. मण्डल २, सू. ४३)

विष उतारने के लिये विहित है[1] और दूसरा राजयक्ष्मा से विमुक्त होने के लिये उपदिष्ट है[2]। मृत्यु-शय्या पर स्थित रोगी के जीवन की रक्षा के लिये दो स्थानों पर मन्त्र मिलते हैं।[3]

उदाहरणार्थ दो मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

"यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥"क

१. ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १९१। स्मरण रहे, यही विषहर सूक्त 'मधु-विद्या' के नाम से प्रसिद्ध है।

२. ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त १६३।

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामि ते ॥ ३ ॥
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भंससो वि वृहामि ते ॥ ४ ॥
मेहनाद्वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ५ ॥
अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

३. ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ५८ तथा सूक्त ६०, मन्त्र ७-१२।

(क) जिस तरह रथ जोतने के लिये सारथि जूड़े को चमड़े के पट्टे से बाँध देता है, उसी तरह मैंने तुम्हारे प्राणों को बाँध दिया है ताकि तुम जीवित रहो, तुम्हारे देह का अवसान न हो और तुम सदा स्वस्थ एवं सुदृढ़ रहो। (ऋ. १०-६०-८)

"न्यग्वातोऽव वाति न्यक्तपति सूर्यः ।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः ॥" ख

पाँचवें मण्डल के ५वें सूक्त में बालक को सुलाने के लिये कुछ मन्त्र दिये हैं जिनमें से एक है :—

य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः ।
तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥[1]

इस निद्रा-गीत के पहले तीन पदों के अन्त में ध्रुवपद है **'नि षु स्वप'** (गहरी नींद तुम्हें प्राप्त हो)।

एक सूक्त[2] ऐसा भी है जिसका उद्देश्य अपत्य-प्राप्ति है; और एक[3] तो सन्तान के घातक राक्षस के दमन के लिये उद्दिष्ट है। दशम मण्डल के १६६वें सूक्त[4] में शत्रु-नाश के लिये आभिचारिक मन्त्र हैं। उसी मण्डल के

(ख) जिस तरह वायु द्युलोक से नीचे की ओर बहता है, सूर्य (गगन में सञ्चार करता हुआ भी) नीचे की ओर अपनी मयूखमाला विकीर्ण करता है और धेनु अपने थन से नीचे दूध टपकाती है, उसी तरह तुम्हारी यह व्याधि नीचे गिरती जाय।

(ऋ. १०-६०-११)

१. प्रत्येक व्यक्ति की—जो भी यहाँ बैठा हो, चलता-फिरता हो, या देखता-भालता हो—आँखें हम मींच दे रहे हैं और वह सब कोई इस स्थावर भवन की भाँति निश्चल हो जाय। (ऋ. ७-५५-६)

२. अपश्यं त्वा मनस ।दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम् ।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥

(ऋ. १०-१८३-२)

इसी तरह अगला सूक्त (सं. १८४) प्रजाप्राप्ति के लिये ही है।

३. ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त १६२ (जिसका अन्तिम पद है—"प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि")।

४. यही 'सपत्नघ्न-सूक्त' के नाम से ख्यात है; इसमें 'ऋषभं मा समानानाम्……' आदि ५ मन्त्र हैं।

१४५वें सूक्त में ऐसे मन्त्र हैं[1] जिनके द्वारा नारी सपत्नी-मर्दन कर सकती है; और तत्पश्चात् अपने मनोरथ पूर्ण होने पर विजेत्री महिला के द्वारा गाया जाने वाला विजयगीत भी १५९वें सूक्त में दिया है :—

"उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः ।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषा सहिः ॥[2]
मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥[3]
समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी ।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥"[4]

सप्तम मण्डल में, सूक्त सङ्ख्या १०३ की शैली लौकिक साहित्य जैसी है। इसी कारण उसकी मौलिकता में सन्देह होता है। वर्षा के प्रारम्भ में मण्डूकों को जागरित करने का वर्णन इतनी स्पष्टता से किया है कि उसकी सुन्दरता का अनुभव केवल वे ही कर सकते हैं जो भारत में रह चुके हैं।

---

१. इस सूक्त में ६ ऋचायें हैं, सूक्त की देवता इन्द्राणी हैं। इसे 'सपत्नी-बाधन-सूक्त कहते हैं; इसका अन्तिम मन्त्र है —
'उप तेऽधां सहमानामभि त्वाधां सहीयसा ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु॥' (ऋ. १०-१४५)
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में (९-५-८) इस सूक्त को लेकर सपत्नी-मर्दन का समग्र प्रयोग बताया है।

२. सूर्य का उदय हो गया है, साथ ही साथ अब मेरे भाग्य का भी उदय हो; मैंने भी अपने सफल उपायों द्वारा अपने पतिदेव पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। (ऋ. १०-१५९-१)

३. मेरे पुत्र शत्रुहन्ता वीर अब बने हैं, मेरी पुत्री अब तो राजकुमारी है, मैं सर्वथा विजयिनी हूँ, मेरा नाम मेरे पति के हृदय में सर्वोपरि है। (ऋ. १०-१५९-३)

४. मैं ने सर्वथा अपने सपत्नियों को परास्त कर दिया है, मैं अब सब से कहीं उच्च हूँ—ऐसी कि, मैं अपने वीर पति पर और सब लोगों पर प्रशासन कर सकती हूँ (ऋ. १०-१५९-५)

मण्डूकों के स्वर का वहाँ सोममदिरा पान कर आनन्दविभोर ऋत्विजों के गीत से, और गुरुकुल में गुरु के शब्दों का अनूच्चारण करते हुए शिष्यों के कल-कल से साम्य बताया है :—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यं जिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥[1]

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः ।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु ॥[2]

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः ।
संवत्सरस्य तदहः परिष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ॥[3]

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ॥[4]

---

१. पूरे एक वर्ष तक व्रती विप्रों की भाँति विश्राम कर लेने के पश्चात् पर्जन्य के प्रारम्भ होते ही, उत्तेजित हो मण्डूकों ने अपनी ध्वनि शुरू कर दी है। (ऋ. ७-१०३-१)

२. अपने गुरु के शब्दों की पुनरावृत्ति जिस तरह शिष्यगण करते हैं उसी तरह ये मण्डूक भी जब एक दूसरे की आवाज़ को दोहराने लगते हैं, तब मालूम होता है कि तुम्हारा प्रत्येक अङ्ग उत्साह से फूल जाता है और तुम सरोवर के बीच ज़ोर से रट लगाने लगते हो। (ऋ. ७-१०३-५)

३. जिस तरह पुरोहितों का वृन्द सोमयाग के समय सोमरस से परिप्लुत विशाल पात्र के आस-पास जमा हो जाता है, ठीक उसी तरह तुम भी, साल भर में, आज के दिन वर्षागम के समय, सरोवर के मध्य एकत्र हो रहे हो। (ऋ. ७-१०३-७)

४. ये पुरोहित सोमरस को लिये मन्त्रघोष करते हुए परिवत्सर याग को ठीक समय पर करते हैं और ये अध्वर्यु घर्मपात्र को लिये प्रस्विन्न होते दिखाई दे रहे हैं—इनमें से कोई छुपा हुआ नहीं है। (ऋ. ७-१०३-८)

देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते ।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् ॥[1]

यह सूक्त ब्राह्मणों के ऊपर व्यङ्ग्योक्ति के रूप में है। यदि यही तात्पर्य हो, तो यह समझ में नहीं आता कि इसे ऋग्वेद जैसी संहिता में क्योंकर स्थान मिला। यदि मान भी लिया जाय कि संहिता की रचना ऋत्विजों ने नहीं की तथापि यह निश्चित है कि उन्होंने इसका सम्पादन अवश्य किया था। सम्भवतः मण्डूकों की ब्राह्मणों के साथ तुलना वैदिक युग के भारतीय की समझ में व्यङ्ग्योक्ति न हो। ऋग्वेद की वर्णन-शैली से परिचित पाठक वैसी उपमाओं से भलीभाँति परिचित हैं जैसी हम लोगों के द्वारा उपयोग में लायी जाँय तो अवश्य ही जुगुप्साकारक अथवा उपहासास्पद होंगी। परन्तु उनका प्रयोग प्राचीन भारतीय कवियों ने बड़ी अच्छी तरह किया है। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में धन-प्रदान एवं दिनों की दीर्घता के लिये मण्डूकों से प्रार्थना की है। इससे प्रतीत होता है सम्भवतः मण्डूक-स्तुति का लक्ष्य यह है कि स्तुति से प्रसन्न हो मण्डूक अपनी आन्तरिक शक्ति के द्वारा वर्षा को प्रेरित करें।

ऐहिक-सूक्त

अब कोई बीस सूक्त ऐसे कहे जाते हैं जिनका प्रतिपाद्य विषय बहुत कुछ ऐहिक है। सामाजिक रीतियों, दाताओं की उदारता, नैतिक प्रश्न, जीवन की कुछ समस्याओं तथा जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध में कतिपय विचार इन मन्त्रों में दिये हुए हैं। भारतीय विचार परम्परा एवं सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से कुछ मन्त्र तो निश्चय ही बड़े महत्त्व के हैं। भारतवर्ष में सामाजिक प्रथाएँ सदा धार्मिक भावनाओं से प्रभावित रही हैं। अत एव स्वाभाविक है कि तत्सम्बन्धिनी रचनाओं में धार्मिक एवं पौराणिक पुट सर्वत्र पाया जाय।

---

१. ये वार्षिक याग को सम्पन्न करते हुए दैवी प्रशासन का परिपालन करते हैं, ये प्रति ऋतु पर्व पर किये जाने वाले कर्म से कभी परिच्युत नहीं होते। साल भर में जब वर्षा समय का प्रारम्भ होने लगता है ये घर्मपात्र—वर्ष भर तपते हुए—अब सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं। (ऋ. ७-१०३-९)

विवाहसूक्त

इसी भाँति की एक रचना है विवाह सूक्त[1] जिसमें ४७ मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में रचनागत एकवाक्यता का अभाव है। तथापि वर्गों में मन्त्र इस प्रकार सङ्कलित हैं जो विवाह संस्कार सम्बन्धी कुछ विषयों को शिथिलता के साथ एकत्र उपस्थित करते हैं। पहले पाँच मन्त्रों में दिव्य सोम का चन्द्रमा के साथ गम्य-साम्य स्थापित किया है। इसके पश्चात् सोमरूप चन्द्र का सूर्यकुमारी सूर्या के साथ विवाह-प्रसंग वर्णित है।[2] अन्यत्र अश्विन् उसके प्रिय बताये गये हैं पर इस सूक्त में उनकी स्थिति बहुत साधारण सहचरों में दी गई है। वे सोम की ओर से सूर्या के पिता सवितृदेव से सूर्या के पाणिग्रहण की प्रार्थना प्रस्तुत करते हैं। इस प्रस्ताव को सवितृदेव स्वीकार करते हैं; और उक्त विवाह के लिये संस्तुत अपनी कन्या को शाल्मली वृक्ष से निर्मित द्विचक्र रथ में बिठाकर अपने पतिगृह के लिए बिदा करते हैं। वह रथ किंशुक के रक्तपुष्पों से विभूषित तथा सफ़ेद बैलों की जोड़ी से प्रेरित था।

सूर्य-चन्द्र, जो मानव जगत् में विवाह के प्रतीक हैं, सदा सहचर साथी बताये गये हैं।

पूर्वापरञ्चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परियातोऽध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः॥[3]

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।

---

१. ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ८५।

२. ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ८५, मन्त्र ६-१७।

३. कोई आगे और कोई उसके पीछे अपनी योगमाया से सञ्चार करते हुए और शिशु की तरह क्रीड़ा करते हुए ये सूर्य और चन्द्रमा यज्ञ के चारों ओर भ्रमण करते रहते हैं—इनमें से एक (सूर्य) समस्त प्राणि-जगत् का अवेक्षण करता है और दूसरा ऋतु-काल का परिच्छेद करते हुए कभी घटता है तो कभी बढ़ता है।

(ऋ. १०-८५-१८)

भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥[1]

तत्पश्चात् वरयात्रा के लिये मङ्गल कामना प्रस्तुत की गई है जिसमें यह शुभाशंसा की जाती है कि नवोढ़ दम्पति दीर्घायु, धनधान्य सम्पन्न, नीरोग एवं पुत्रपौत्रादि सौभाग्य से सम्पन्न हो। (२०—३३)

अगले दो मन्त्रों में (३४—३५) वधू के परिधान के सम्बन्ध में वर्णन है। इसके पश्चात् छः मन्त्र (३६—४१) विवाह विधि का वर्णन करते हैं जिसमें सूर्या के विवाह का पुनः उल्लेख है। वर अपनी वधू से निम्नलिखित आशंसा प्रकट करता है :—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥[2]

साथ ही साथ अग्निदेव का आवाहन होता है :—

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥[3]

---

१. यह चन्द्रमा प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ता हुआ नया होता रहता है; और वह (सूर्य) तिथियों का निर्धारण करता हुआ दिनारम्भ का अग्रगामी बन प्रतिदिन उदित होता है और अपने आविर्भाव के साथ-साथ वह देवताओं का भाग प्रकल्पित कर देता है; और चन्द्रमा दीर्घ आयु को प्रदान करता है।

(ऋ. १०-८५-१९)

२. हे वधु ! अपने सौभाग्य की वृद्धि के लिये मैं तुम्हारा पाणिग्रहण करता हूँ, तुम मेरे साथ वार्धक्य को प्राप्त करो, भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि—इन देवताओं ने तुम्हें मुझे दिया है ताकि मैं तुम्हारे साथ रह कर गृहपति बनूँ। (ऋ. १०-८५-३६)

३. हे अग्नि ! गन्धर्वों ने सूर्या को वैवाहिक मण्डली के साथ तुम्हारे समक्ष उपस्थित किया (और तुमने उसे वर प्रदान किया); इसी तरह तुम प्रत्येक पति को पत्नी प्रदान करो और उससे प्रजावान् होने का आशीस दो। (ऋ. १०-८५-३८)

अन्तिम मन्त्रों में (४२–४७) आशीर्वाद के वचन हैं। ये वधू-प्रवेश के बाद विवाहित दम्पति को सम्बोधित कर कहे गये हैं।

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥[1]

इनका अन्तिम मन्त्र वर भी साथ-साथ बोलता है :—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ॥[2]

अन्त्येष्टि

ऋग्वेद के दशम मण्डल में ५ सूक्त हैं जो अन्त्येष्टि संस्कार से सम्बन्ध रखते हैं। एक को छोड़कर शेष सब ही भाविजन्म से सम्बन्ध रखनेवाले देवताओं की प्रार्थनाओं से युक्त हैं। पहला सूक्त यम को, दूसरा पितरों को, तीसरा अग्नि को, चौथा पूषा को, और अन्तिम सरस्वती को सम्बोधित हैं। वास्तव में अन्तिम सूक्त ही सचमुच अन्त्येष्टि सूक्त है। इसकी रचनाशैली और विषय दोनों ही लौकिक हैं। इसमें किसी देवता का वर्णन नहीं है। इसकी भाषा प्रौढ़, भावोद्बोधक तथा गम्भीर एवं उदात्त है। इस सूक्त में हमें सर्वाधिक परिचय उस युग की अन्त्येष्टि-पद्धति के सम्बन्ध में मिलता है।

इन सूक्तों से ऐसा लगता है कि वैदिक काल के भारतीयों में अग्निदाह तथा भूप्रवेश दोनों ही तरह शव बर्ताया जाता था। सप्तम मण्डल में वरुण-सूक्त के निर्माता ने मृत्यु के सम्बन्ध में मृत्तिका निर्मित गृह का उल्लेख किया है। तथापि अधिकतर प्रचलित प्रथा शव-दहन की ही थी। और आगे चलकर वैदिक संस्कार में अग्निदाह ही विहित है। केवल यतियों और दो

---

१. हे दम्पति! आप दोनों इसी लोक में रहो, कभी तुम्हारा वियोग न हो और तुम पूर्णायु हो, पुत्र-पौत्रादि से क्रीड़ा करते हुए अपने परिवार में आमोद-प्रमोद करते रहो। (ऋ. १०-८५-४२)

२. हे विश्वेदेव! समस्त देवगण हम दोनों के हृदयों को परस्पर समासक्त कर सकल क्लेश से अस्पृष्ट बनाये रखो, मातरिश्वा हमारी बुद्धि को एक दूसरे के अनुकूल बनावे, तथा सकल अभीप्सित प्रदान करने वाली धात्री सरस्वती हमारी सन्धि को सदा दृढ़ रखे। (ऋ. १०-८५-४७)

वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिये भूमिसंस्कार बताया है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में भी विचार प्रकट किए हैं। उदाहरणार्थ– अग्नि प्रेतात्मा को परलोक ले जाता है जहाँ देव-पितर वास करते हैं। शवदाह के समय एक बकरे का बलिदान दिया जाता था; अथर्ववेद के अनुसार[1] वह बकरा प्रेतात्मा के आगे-आगे चलता और उसके आगमन की सूचना पितरों को देता है ठीक उसी तरह जैसे ऋग्वेद में मेध्य अश्व के आगे-आगे बलिदान में दिया बकरा अग्रदूत बन कर देवताओं को सूचना देता है।[2] उत्तरकालीन वैदिक पद्धति में प्रेतसंस्कार करते समय अज अथवा वृषभ का बलिदान विहित है।

प्राचीनकाल से चली आई परम्परा के अनुसार आज भी प्रेतात्मा के अगले जन्म के उपयोगार्थ कुछ आभूषण तथा परिधान अर्पण किये जाते हैं।

ऋग्वेद के अनुसार अन्त्येष्टि के समय मृत व्यक्ति की स्त्री अपने पति के साथ सती हो जाती थी। मृत वीर के हाथ से उसका धनुष हटा लिया जाता था, ये दोनों प्रथाएँ इस ओर संकेत करती हैं कि प्राचीन काल में ये दोनों ही प्रेतात्मा के साथ दूसरी दुनियाँ तक जाते थे। अथर्ववेद में तो एक ऐसा मन्त्र है जो विधवा के सती होने की प्रथा को पुरातन घोषित करता

---

१. आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥
(अथर्व. ९-५-१)

प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥
(अथर्व. ९-५-३)

२. 'एष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।
अभिप्रियं यत्पुरोळाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति॥'
और (ऋ. १-१६२-३)

'उप प्रागाच्छसनं वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यानः।
अजः पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यान्ति रेभाः॥'
(ऋ. १-१६३-१२)

है। मानव-विकास-शास्त्र यह प्रमाणित करता है कि सती-प्रथा प्रायः सर्वत्र सेनानायकों के अन्त्य संस्कार के समय प्रचलित थी। यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह प्रथा भारोपीय युग से चली आ रही है।

अन्त्येष्टि सूक्त का आठवाँ मन्त्र सती को सम्बोधित करता है जिसमें उसे चिता से उठकर अपने नये पति के साथ पाणिग्रहण के लिये आदेश है। वह नया पति निश्चित ही मृत पति का भाई होता था। इस प्रकार की प्रथा बहुत पुरानी है —

उदीर्ष्व नार्यभिजीव लोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसम्बभूथ॥[1]

इसके पश्चात् प्रेतात्मा को सम्बोधित कर कहा जाता है :—

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वास्पृधो अभिमातीर्जयेम॥[2]

उपसर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात्॥[3]

---

१. हे नारी! उठो और पुनः सांसारिक जीवन को अपनाओ। तुम व्यर्थ ही अब इस निष्प्राण व्यक्ति के निकट लेटी हुई हो—आओ—अब तुमने अपने इस पति का पत्नीत्व स्वीकार किया है जो तुम्हारा हाथ पकड़े हुए हैं और जो तुमसे स्नेह करता है (सायण का अभिप्राय है कि—'आओ अब तुम उठो, कारण पाणिग्रहण करने वाले पति से गर्भाधान के निमित्त तुम्हारा जाया सम्बन्ध हुआ था जिसकी वजह से तुमने उसके साथ मरने का निश्चय किया था)। (ऋ. १०·१८·८)

२. मैं इस मृत पुरुष के हाथ से धनुष उठा ले रहा हूँ, कारण इसके द्वारा हमें राज्य, शक्ति एवं कीर्त्ति प्राप्त हो; हम इसी लोक में रहें और वीर सन्तान प्राप्त कर अपने शत्रुओं को परास्त करें। (ऋ. १०-१८-८)

३. हे प्रेत पुरुष! मातृ स्वरूप भूमि के अन्तर में तुम प्रवेश प्राप्त करो—यह भूमि बहुत विस्तीर्ण एवं सुखप्रद है। सर्वदा यौवन से सुशोभित यह भूमि दानी के लिये ऊन की तरह कोमल है, यह प्रलयङ्कर मृत्यु देवता के समक्ष तुम्हारी रक्षा करे। (ऋ. १०-१८-१०)

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा निबाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥[1]

तत्पश्चात् श्मशान में उपस्थित व्यक्तियों को निम्नलिखित मन्त्र सम्बोधित हैं :—

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥[2]
यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथा ऋतव ऋतुभिर्यान्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥[3]

दान-स्तुति

ऋग्वेद में कुछ लौकिक मन्त्र ऐसे हैं जिनमें ऐतिहासिक सन्दर्भ निहित हैं। इन्हें दान-स्तुति कहते हैं। ये स्तुतियाँ ऋत्विजों के द्वारा अपने राजाओं के उन उदार दानों की प्रशंसात्मक हैं जो यज्ञ के अवसर पर दिये गये थे। उनमें काव्य शैली की दृष्टि से चमत्कार कम है। ऐसा लगता है कि वे कुछ बाद की रचना हों; कारण, ऐसे सूक्त केवल संहिता के प्रथम और दशम मण्डल में

---

१. हे पृथिवि ! तुम उच्छ्वसित होओ, तुम इस पुरुष को ज़ोर से न दबाओ, तुम इसके लिये सुगम होओ और दयापूर्ण सहायता देकर इसका अभिनन्दन करो; जिस तरह माता अपनी सन्तति को दामन में ढक लेती है उसी तरह, हे पृथिवि, तुम इसे अपने अन्तर में समा लो। (ऋ. १०-१८-११)

२. (मृत पुरुष के परिवार के) हम जीवित पुरुष मृत पूर्वजों से पृथक् रहें, और (अशौच निवृत्ति के पश्चात्) हमारे द्वारा क्रियमाण पितृमेध यज्ञ के अवसर पर देवताओं का आवाहन कल्याणकारी हो। अब हम नृत्य एवं हास्य के लिये एकत्र हुए हैं, हम दीर्घायु होकर अपने परिवार के साथ आमोद-प्रमोद करते रहें। (ऋ. १०-१८-३)

३. जिस तरह एक दिन के बाद दूसरा दिन होता है, एक ऋतु के बीतने पर दूसरी ऋतु का आरम्भ होता है और जिस तरह अपने से पूर्व उत्पन्न हुए (पिता) को बाद में जन्म लेने वाला (पुत्र) छोड़ कर नहीं जाता, उसी तरह, हे धाता ! हमारे जीवन को तुम सुघटित करो। (ऋ. १०-१८-५)

तथा अष्टम मण्डल के बालखिल्य भाग में ही मिलते हैं। इस प्रकार की स्तुतियों में दो या तीन ही मन्त्र हैं और ये आठवें मण्डल के इतर विषय पर दिये हुये सूक्तों के परिशिष्ट रूप में पाये जाते हैं। यद्यपि इन सूक्तों का मुख्य विषय दानीय वस्तु तथा प्रदत्त राशि का उल्लेखमात्र हैं तथापि प्रसंगवश उसमें दाताओं के कुल एवं वंश-परम्परा-सम्बन्धी तथा वैदिक जातियों के नाम और घर का भी वर्णन मिलता है, जो ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करता है। दान की राशि कहीं-कहीं पर अत्युक्तिपूर्ण है; जैसे, एक दाता ने षष्टि सहस्र गोदान किया था। तथापि हम यह मान सकते हैं कि दान बहुत अधिक होता था और वैदिक युग के राजाओं के पास अतुल धन-सम्पत्ति होती थी।

हितोपदेश-सूक्त

ऐहिक सूक्तों में चार-सूक्त नीतिपरक हैं। ऐसे उपदेशात्मक सूक्तों में 'द्यूतकार का विलाप' नामक सूक्त[1] एक करुण कहानी है। ध्यान में रखते हुए कि इस प्रकार की रचना का यह एक प्रथम निदर्शन है हमें कहना होगा कि साहित्यिक दृष्टि से यह एक अपूर्व कृति है। इसमें जुआरी द्यूत के आनन्द से वञ्चित होना अपने लिये दुःसाध्य समझ कर वह अपनी स्थिति पर विलाप करता है। वह देखता है कि अपने और अपने परिवार के नाश का वही मूल है :—

नीचा वर्त्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ता शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥[2]
स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतञ्च योनिम्।

---

१. ऋ. मण्डल १०, सूक्त ३४।

२. ये पासे नीचे गिरते हैं और ऊपर उठते हैं; इनके हाथ नहीं हैं मगर ये हाथवाले द्यूतकर को पराजित कर अभिभूत कर देते हैं। क्रीड़ापट पर कोयले के जादूभरे टुकड़ों की भाँति ये दिव्य पासे शीतल होते हुए भी हृदय को दग्ध कर देते हैं। (ऋ. १०-३४-९)

पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥[1]

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥[2]

उस समय खेल के पासे (अक्ष) विभीतक[3] वृक्ष के फल से बनते थे। और आज भी यह वृक्ष इस उपयोग में भी आता है।

इस वर्ग के तीन अन्य सूक्त उस काल की रचना के पुरोगामी हैं जो प्रचुर मात्रा में आगे चल कर लौकिक साहित्य में लोकप्रिय बनी। उनमें से एक में केवल चार ही मन्त्र हैं जिनमें परिहास के साथ मानव की स्वार्थ-परायण प्रवृत्ति पर नैतिक उपदेश व्यक्त किया है।

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम् ।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥[4]

---

१. अपने घर को फूहर तथा अपनी पत्नी को सदा दुःखी पाता हुआ जुआरी दूसरे के घर को सुसज्जित और उसकी पत्नी को सुखसम्पदा से समृद्ध देखकर सदा सन्तप्त रहता है। वह नित्य पूर्वाह्ण में अपने भूरे घोड़ों को हाँकता है, और सायंकाल शीत से व्याकुल हो कुकर्मी वह आग के सहारे पड़ा रहता है। (ऋ. ११-३४-११)

२. हे कितव ! पासे से खेलना छोड़ दे, खेतीबाड़ी कर, कृषि आदि सद्व्यवसाय से उपार्जित धन के द्वारा सुखपूर्वक जीवन यापन कर; ये तेरी गाय हैं, यह तेरी पत्नी है। यह सदुपदेश परम कृपालु सविता ने मुझे दिया है। (ऋ० १०-३४-१३)

३. बेहड़ा।

४. (हे सोम !) इस संसार में लोगों की नाना प्रकार की बुद्धि होती है, वे विविध व्यवसाय करते हैं; बढ़ई लकड़ी चीरना चाहता है, वैद्य रोगों की चिकित्सा करता है, ब्राह्मण सोम रस निकालते हैं और मैं इन्द्र के लिये तुम्हारा रस निचोड़ना चाहता हूँ……।

(ऋ. ९-११२-१)

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गाइव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥[१]

दूसरे सूक्त में कुछ सूक्तियों का सङ्ग्रह है जो परोपकार और दान के आदर्श उपस्थित करता है।

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥[२]

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥[३]

इस वर्ग के चौथे सूक्त में सदुक्ति की प्रशंसा है। इसमें ११ मन्त्र हैं, जिनमें से ये चार उद्धृत किए जाते हैं:—

---

१. मैं स्तोम का रचयिता कवि हूँ, मेरे पिता चिकित्सक हैं और माता चक्की चलाती है। धन की कामना से नाना प्रकार के धन्धे करनेवाले हम लोग गौ की तरह सब की परिचर्या करते रहते हैं। (ऋ. ९-११२-३)

२. धनी पुरुष ने अर्थी को सदा दान देना चाहिये; उसे अगले जन्म का सदा ध्यान रखना चाहिये। धन-सम्पत्ति सर्वदा स्थिर हो एक ही के पास नहीं रहती, वह गाड़ी के चाक की तरह सदा इधर-उधर घूमती रहती है। (ऋ. १०-११७-५)

३. कृषि करनेवाला अपना कृषि-फल प्राप्त करता है, जब अपने पैर चलाता है वह मंजिल तय कर लेता है: शास्त्र के तत्त्व का प्रवचन करनेवाला पुरोहित मौनी की अपेक्षा कहीं अधिक उपार्जन करता है; दानी पुरुष कृपण की अपेक्षा कहीं अधिक प्रिय बन जाता है। (ऋ. १०-११७-७)

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥[1]

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥[2]

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोह ब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥[3]

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः ॥[4]

---

१. जहाँ धीर धीमान् पुरुष चलनी से छाने हुए सत्तू की तरह परिशोधित वाणी का प्रयोग करते हैं वहाँ समकोटि के बड़े विद्वान् उनके गुणों को पहिचान कर सहज मित्र बन जाते हैं, कारण, उनकी वाणी में मंगलमयी लक्ष्मी सदा निवास करती है। (ऋ. १०-७१-२)

२. जिस अध्येता ने अपने प्रिय सखा (स्वाध्याय) का परित्याग कर दिया है उसकी वाणी में विद्वज्जन के द्वारा निषेवणीय कोई अंश नहीं रहता, और जो व्यक्ति इस प्रकार के व्यर्थ वचनों का श्रवण करता है वह भी सुकृत के पथ से अनभिज्ञ ही कहा जाता है। (ऋ. १०-७१-६)

३. जब ब्राह्मण-मण्डली याग के लिये प्रस्तुत हो एकत्र होती हैं और हृदय से अभिप्रेरित हो बड़े उत्साह के साथ वेदार्थ का निरूपण करती हैं, तो क्वचित् ही पुरुष वेद-विज्ञान से वञ्चित रह जाता है और जो निष्णात हैं वे ब्राह्मण तो स्वेच्छानुरूप वेदार्थ के सम्बन्ध में निश्चयात्मक विवेचन करते हैं। (ऋ. १०-७१-८)

४. (याग के प्रसङ्ग पर) एक ऋत्विज वेद के मन्त्रों का बड़ी पुष्टि के साथ उच्चारण करता है तो दूसरा शक्वरी मन्त्रों का ऊँचे स्वर से गायन करता है; तीसरा गुरु की तरह प्रयोग विधि का उपदेश करता रहता है, और चौथा यज्ञिय क्रियाकलाप का मापतौल करता है। (ऋ. १०-७१-११)

साधारण सूक्तों में भी कनक-कामिनी के सम्बन्ध में उपदेशात्मक वचन पाये जाते हैं। इस प्रकार की उक्तियाँ प्रायः वैदिकोत्तर साहित्य में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, एक स्थान पर कहा है कि ललनाएं अपने प्रियतम के स्नेह का पात्र केवल अपनी भव्य सम्पत्ति के कारण होती हैं।[1] किसी ने गो को सम्बोधित कर कहा है कि तुम दुर्बल को मेदस्वी, कुरूप को सुरूप बना देती हो।[2] अन्यत्र कहा है 'इन्द्र स्वयं कहते हैं कि नारी के चित्त को समझना बहुत ही कठिन है। उसकी बुद्धि बहुत अल्प होती है।[3] किसी सूक्तकार ने कहा है 'नारी और स्नेह सम्भव नहीं, उसका हृदय तो लकड़बग्घा सा होता है।[4] एक कवि ने इतना अवश्य कहा है कि 'कई स्त्रियाँ नास्तिक एवं कृपण पुरुष से कहीं अच्छी होती हैं।[5]

नैतिक सूक्तों जैसी कुछ और रचनाएँ काव्यरूप हैं— यथा, प्रहेलिका। ऋग्वेद में कम से कम दो संग्रह ऐसे भी मिलते हैं। सबसे सरल संग्रह अष्टम मण्डल के २९वें सूक्त में मिलता है। इसमें १० मन्त्र हैं जिनमें भिन्न-भिन्न देवताओं का वर्णन उनकी विशेषता के साथ किया है, परन्तु उनके नाम का

---

१. कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥
(ऋ. १०-२७-१२)

२. यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥
(ऋ. ६-२८-६)

३. इन्द्रश्चिद्धा तदब्रवीत् स्त्रिया अशास्यं मनः।
उतो अह क्रतुं रघुम्॥ (ऋ. ८-३३-१७)

४. न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति।
सालावृकाणां हृदयान्येताः॥ (ऋ. १०-९५-१५)

५. उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी।
अदेवत्रादराधसः॥ (ऋ. ५-६१-६)

उल्लेख नहीं है। पहेली सुनने वाले को नाम का पता लगाना होता है। यथा विष्णु के सम्बन्ध में कहा है :—

त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे। यत्र देवासो मदन्ति ॥[1]

इससे कहीं अधिक कठिन पहेलियों का समूह प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त में है। इनमें ५२ मन्त्र हैं जिनमें किसी का साक्षात् वर्णन नहीं है, भाषा साङ्केतिक एवं रहस्यवादी है। कई स्थानों पर तो सङ्केत इतने गूढ़ हैं कि उनका अर्थ समझना भी सम्भव नहीं है। कहीं-कहीं पहेली प्रश्नरूप में है। एक स्थान पर तो उस पहेली में ही उसका उत्तर भी है। कहीं-कहीं सूक्तकार ने ऐसी प्रहेलिका प्रस्तुत की है जिसका उत्तर शायद वह स्वयं न जानता हो। प्रायः ये वस्तुतः संक्षिप्त उक्तियाँ हैं। लगभग एक चतुर्थांश मन्त्र तो सूर्य के सम्बन्ध में है; ६–७ मन्त्र विद्युत् एवं वर्षा की ओर लक्षित हैं। ३–४ मन्त्र अग्नि और उसके विविध रूप से सम्बन्ध रखते हैं। दो जगत्-सर्ग की ओर संकेत करते हैं, एक का अभिप्राय परम पुरुष से है। उषःकाल, द्यावा-पृथ्वी, छन्दो-देवता, वाग्देवी जैसे दुरूह कतिपय विषय हैं जिन पर एक-एक या दो-दो ऋचाएं पायी जाती हैं। सबसे सीधी पहेली वह है जिसमें वर्ष को एक ऐसा चक्र बताया है जिसमें १२ महीने, ३६० दिन होते हैं :—

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥[2]

तेरहवाँ महीना, जिसे अधिक मास कहते हैं, युग्म बताया गया है और उसकी ओर छुपा हुआ संकेत दिया है 'युग्मों में सातवाँ इकेल है। ऋषियों

१. उनमें से (देवता) प्रशस्त कीर्त्ति का एक ऐसा है जिसने तीन पद-क्रमों से त्रिभुवन को माप डाला जहाँ देवता (यजमान द्वारा प्रदत्त हविष्यान्न को पाकर) मस्त रहते हैं। (ऋ. ८-२९-७)

२. सत्यस्वरूप भगवान् आदित्य का चक्र गगनमण्डल में सन्तत चलता रहता है, उस चाक में १२ (मेष, वृष आदि राशि रूप) अवयव हैं। वह चाक कभी भी जीर्ण नहीं होता। हे अग्नि! उस चक्र में स्त्री और पुरुष के रूप में वर्त्तमान मिथुन की ७२० (३६० दिन और ३६० रात) सन्तति है। (ऋ. १-१६४-११)

ने ६ यमलों को दिव्य बताया है।'[1] इस उक्ति का उत्तरार्ध इस ओर संकेत करता है कि अधिक मास की कल्पना मानव ने की है। परवर्ती वैदिक युग में इस प्रकार के चुटकुले बनाने का अभ्यास पाया जाता है। इन्हें ब्रह्मोद्य चर्चा कहते हैं। वह प्रायः बौद्धिक उत्कर्ष को राजसभा में, अथवा ब्राह्मणमण्डली में स्थापित करने का एक प्रकार रहा होगा।

पहेलिकाओं जैसे ही रहस्यमय कुछ दार्शनिक सूक्त भी हैं। ऋग्वेद में ऐसे ६–७ सूक्त हैं जो जगदुत्पत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। जगत् के प्रादुर्भाव का जो प्रश्न इनमें प्रतिपादित हैं उसका आधार जनता के धार्मिक एवं पौराणिक धारणाएँ हैं। यद्यपि इन सूक्तों में विचार स्पष्ट नहीं हैं तथापि आगे के युग में प्रचलित विविध दार्शनिक धाराओं के मूलस्रोत होने के कारण ये बड़े महत्त्व के हैं। इनमें से प्रायः सभी जगदुत्पत्ति के विषय को ईश्वरवाद की दृष्टि से वर्णित करते हैं। केवल एक ही सूक्त ऐसा है जो विशुद्ध अध्यात्मवाद प्रस्तुत करता है। प्राचीन महर्षियों के मत से समस्त देवताओं ने मिलकर जगत् की उत्पत्ति की; परन्तु यह दृष्टि उस धारणा के साथ असमञ्जस लगती है जिसमें द्यावा-पृथ्वी को देवताओं के माता पिता बताया है। यों कहना होगा कि इस विषय में ये ऋषिगण कुछ ऐसी बातें परस्पर विरोधी कह गये हैं जैसे पुत्र अपने पिता का जनक हो। उदाहरणार्थ, स्पष्ट शब्दों में बताया गया है कि इन्द्र के माता-पिता स्वयं इन्द्र की शरीर से प्रादुर्भूत हुए।[2] इस प्रकार की उत्प्रेक्षायें पुरोहितों की कल्पना के लिये एक रोचक विषय बन जाता था। इनमें बड़ी खींचातानी से अर्थ निकालने पड़ते हैं। नासदीय सूक्त में इस प्रकार जन्यजनकभाव अनेक स्थानों पर हैं। दशम मण्डल में कहा है दक्ष अदिति से पैदा हुए और यह भी कहा है अदिति दक्ष से पैदा हुई।[3]

---

१. अथेमे अन्य उपरे विचक्षणम्।
सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम्॥ (ऋ. १-१६४-१२)

२. क उ नु ते महिमनः समस्यास्मत् पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः।
यन्मातरञ्च पितरञ्च साकमजनयथास्तन्व १: स्वायाः॥ (ऋ. १०-५४-३)

३. भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥ (ऋ. १०-७२-४)

पुरुष-सूक्त

पुरुष — ऋग्वेद में प्रतिपादित धार्मिक विचारों के विकास का परिणाम यह हुआ कि सब देवताओं से श्रेष्ठ एक परम पुरुष की कल्पना प्रसूत हुई। उसका वर्णन नासदीय सूक्तों में पुरुष, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ और प्रजापति के नाम से दिया है। प्राचीन मत में जगत् की सृष्टि एक प्राकृतिक उत्पत्ति मानी गई है। जगत् का अभिधान 'जायते' इस क्रिया पद से किया है। परन्तु इन सूक्तों में जगत् को किसी आधारभूत मौलिक तत्त्व से विकसित अथवा प्रादुर्भूत माना है। पुरुष सूक्त में[1] देवता केवल सहायक उपकरण हैं; और उपादान कारण, जिससे जगत् की उत्पत्ति हुई, वास्तव में पुरुष का शरीर है। वह पुरुष सहस्र-शीर्ष तथा सहस्रपात् है। वह समस्त पृथ्वी को व्याप्त करने पर भी शेष है।[2] इस महापुरुष से जगत् सर्ग की मूल भावना, वास्तव में, बहुत पुरातन है। इसका उल्लेख कई प्राचीन कथाओं में मिलता है। तथापि इस सूक्त में जिस तरह इस भावना को अभिव्यक्त किया है, वह बहुत कुछ अर्वाचीन प्रतीत होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु यज्ञ स्वरूप हैं और जगदुत्पत्ति यज्ञिय विधि है। मूल पुरुष वहाँ बलि के रूप में स्थापित हैं;[3] उसके विभिन्न अवयव आलम्भन के पश्चात् जगत् के विभिन्न भाग बन गये हैं—कहा जाता है 'उसका मस्तक आकाश बना, उसकी नाभि वायु, उसके चरण पृथ्वी बने। उसके मन से चन्द्रमा की, चक्षु से सूर्य की, तथा निःश्वास से पवन की सृष्टि हुई। इस प्रकार देवताओं ने त्रिलोकी का निर्माण किया'।[4] यह सूक्त एक उत्तरकालीन रचना है। उसका एक चिह्न बहुदेववाद है। इस सूक्त में कहा

---

१. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषञ्जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ (ऋ. १०-९०-७)

२. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ (ऋ. १०-९०-१)

३. देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥ (ऋ. १०-९०-१५) (ख)

४. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥ (ऋ. १०-९०-१४)

है—'पुरुष ही जगत् है, जो पहले था और भविष्य में होगा;[1] उसके एक चतुर्थांश मर्त्यलोक के प्राणी हैं और उसका तीन चतुर्थांश स्वर्गवासी अमरों का लोक है।'[2] ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरुष और प्रजापति एक हैं। उपनिषदों में वह जगत्-रूप है; और आगे चल कर द्वैतवादी सांख्यदर्शन में पुरुष आत्मा का ही नाम है जो प्रकृति से पृथक् है। पुरुष-सूक्त में एक आत्मा विराज रूप है जिसकी उत्पत्ति पुरुष से मानी गई है।[3] यही पुरुष उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त दर्शन में उपाधि रूप से जगत्-स्रष्टा है जो सर्वव्यापी ब्रह्म से भिन्न है। अत एव पुरुष-सूक्त भारतवर्ष के बहुदेववादी साहित्य का सबसे प्राचीन कल्प है। साथ ही साथ यह भी सिद्ध है कि ऋग्वेद की यह सबसे अन्तिम रचना है; कारण, यह प्राचीन वेदत्रयी से परिचित है जिनका नामोल्लेख इसमें मिलता है।[4] यही एक ऐसा सूक्त है जिसमें पहले पहल और अन्तिम बार चार वर्णों का कण्ठतः उल्लेख है। कहा है, ब्राह्मण पुरुष के मुख है, राजन्य उसके बाहु, वैश्य उसके उरू, और शूद्र उसके चरण हैं।[5]

जगत्-सृष्टि से सम्बद्ध लगभग सब ही सूक्तों में प्रजापति को ही प्रायः कर्ता बताया गया है। देवताओं की समष्टि को कर्तृरूप नहीं माना है। अन्य सूक्तों में कई सन्दर्भ ऐसे हैं जिनमें ऋषियों ने जगदुत्पत्ति का मुख्य कर्ता सूर्य बताया है। उसे सकल जगत् की आत्मा कहा है[6] और यह भी कहा है कि

---

१. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। (ऋ. १०-९०-२क)

२. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। (ऋ. १०-९०-३ख)

३. तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः। (ऋ. १०-९०-५क)

४. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (ऋ. १०-९०-९)

५. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ (ऋ. १०-९०-१२)

६. आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।
(ऋ. १-११५-१ख)

वह एक होते हुए भी उसके नाम अनेक हैं।[1] यह उक्ति इस बात को प्रकट करती है कि उस समय प्रजापति के रूप में सविता सूर्य की कल्पना निर्माण की प्रक्रिया में थी। सम्भवतः विश्वकर्मा (सबका निर्माता) के प्रादुर्भाव का यही कारण है जिसे सम्बोधित कर नासदीय सूक्तों में से दो सूक्त[2] कहे गये हैं। प्रथम सूक्त के सात मन्त्रों में से तीन मन्त्र उल्लेखनीय हैं :—

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥[3]

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥[4]

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥[5]

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ. १-१६४-४६)

२. ऋ. मण्डल १०, सूक्त ८१, ८२।

३. (जगत् की सृष्टि के समय) ईश्वर का स्थान कहाँ था, उसे निर्माण की सामग्री कहाँ से मिली, किस तरह रचना शुरु हुई। उस विश्वकर्मा ने किस समय पृथ्वी बनाई और कब आकाश ? क्या सर्वद्रष्टा ईश्वर ने इस सारे जगत् की रचना अपनी महिमा से की ? (ऋ. १०-८१-२)

४. [उत्तर] जगत्स्रष्टा ईश्वर की चारों ओर आँखे हैं, चारों ओर मुँह हैं, चारों ओर भुजाएँ है और चारों ओर पैर हैं। वही एक ईश्वर, द्यौः और पृथ्वी का निर्माण अपने दो हाथ और पंख से करता है। (ऋ. १०-८१-३)

५. कृपा कर हमें यह बताइये कि कौन सा तो वह वन था और कौन सी वह लकड़ी जिससे ईश्वर ने द्यावा-पृथ्वी को घड़ डाली ! आप महर्षि हैं, आप मनीषी हैं—सोच विचार कर हमें यह बताइये वह ईश्वर किस आधार पर खड़ा था जब उसने भुवनों की रचना की। (ऋ. १०-८१-४)

यह रोचक साम्य है कि इस सूक्त में प्रयुक्त 'काष्ठ' शब्द (wood) ग्रीक दर्शन में भी मूलप्रकृति (hūlē) के अर्थ में प्रयुक्त है।

अगले सूक्त (१०-८२) में यह सिद्धान्त और भी विशद रूप से रखा गया है। कहा है, 'आप' से समस्त वस्तु का बीज उत्पन्न हुआ और वही जगत् का और देवताओं का मूल है :—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥[1]

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥[2]

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥[3]

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ॥[4]

१. वह कौन परमेश्वर है जो हमारा पालन करने वाला पिता है, जन्म देने वाला जनक है, जो विधाता है, जो सकल स्थानों का ज्ञाता है, जिसने अखिल भुवनों का निर्माण किया, जिसने देवों को जन्म दिया, उनके अलग-अलग नाम रखे और जिसका मुँह समस्त भूत-जात तकते हैं ? (ऋ. १०-८२-३)

२. वह कौन परमेश्वर है जो द्युलोक से परे है, जो इस पृथ्वी से भी परे हैं, जो देवताओं और असुरों से भी परे है, किस आदि गर्भ को जल तत्व ने धारण किया जिसमें समस्त देवताओं ने अपने आप को एकत्र सङ्गत पाया ? (ऋ. १०-८२-५)

३. [उत्तर] जल ने सर्व प्रथम उसी विश्वकर्मा को गर्भ में धारण किया और वहीं समस्त देवता सङ्गत हुए। उसी अजन्मा (छाग[1]) के नाभि-मण्डल में एक अण्ड की स्थापना हुई, और उसी ब्रह्माण्ड में सकल भुवन अवस्थित हैं। (ऋ. १०-८२-६)

४. तुम उस विश्वकर्मा परमेश्वर को पहिचान नहीं सकते; वह परम आत्मा उससे भिन्न है जो तुम्हारे निकट है। (ऋ. १०-८२-७क)

१. सम्भवतः यहाँ सूर्य की ओर सङ्केत है।

परम सुन्दर सूक्त है हिरण्यगर्भ का। हिरण्यगर्भ का तात्पर्य है सुवर्ण का बीज, जिसकी कल्पना निश्चय उदीयमान सूर्य के आधार पर की गई है। यहाँ भी अग्नि के जनक जल-तत्त्व को ही जीवनाधार बताया है :—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[1]

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[2]

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[3]

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[4]

---

१. सबसे पहिले एक सोने का गर्भ (हिरण्यगर्भ) उत्पन्न हुआ और वही समस्त भूतवर्ग का अधिपति हुआ, उसी ने इस पृथ्वी और इस आकाश को धारण किया — तो बताईये कौन वह देव है जिसे हम हवि समर्पण कर आराधित करें। (ऋ. १०-१२१-१)

२. वह प्रजापति है जिसने आत्मा का आविर्भाव किया, जिसने जीवन तत्त्व तथा बल प्रदान किया, जिसकी सारा विश्व उपासना करता है, जिसके ही अंशभूत समस्त देवता हैं, जिसकी छाया ही अमृत है, मृत्यु है — बताइये वह कौन देव है जिसे हम हवि समर्पण कर प्रसन्न करें। (ऋ. १०-१२१-२)

३. वही महान् जल तत्त्व (आपो-देवता) जिसने हिरण्यगर्भ को धारण कर अग्नि को जन्म दिया और उसी से सकल देवताओं में प्राण सञ्चार हुआ — वह एक कौनसा देव है जिसे हवि प्रदान कर हम सन्तुष्ट करें। (ऋ. १०-१२१-७)

४. जिसने अपनी महिमा से जल को अपने आस-पास फैला हुआ देखा, जिसने इस अखिल जगत् को प्रसारित करने वाले (दक्ष) को तथा यज्ञ को जन्म दिया, ऐसा समस्त देवताओं का अधिदेवता वह कौन है जिसे हम हवि समर्पण कर प्रीणित करें। (ऋ. १०-१२१-८)

इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र का ध्रुव-पद है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' जिसका उत्तर १० वें मन्त्र में है। सम्भवतः यह बाद में जोड़ा गया है। इस मन्त्र में प्रश्न का उत्तर है कि 'जिस देवता को हवि प्रदान किया जाय वह प्रजापति है।'[1]

जगत् की सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले दो सूक्त और हैं जो दार्शनिक दृष्टि से जगत् को असत् से सद् रूप में विकसित बताते हैं। कुछ अस्पष्ट से रूप में दिए वर्णनों से (१०-७२) सृष्टि की तीन अवस्थाएँ पृथक्-पृथक् प्रतीत होती हैं :—

पहले जगत् की रचना, बाद देवताओं की, और अन्त में सूर्य की। यहाँ भी सृष्टिवाद के साथ विकासवाद ओतप्रोत है :—

ब्रह्मणस्पतिं रेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥[2]

इससे भी सुन्दर रचना है सृष्टिगीत (१०-१२९)

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥[3]

---

१. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋ. १-११५-१ घ); ऋ. मण्डल १०, सूक्त ७२।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। (ऋ. १-१६४-४६ ग)।

२. ब्रह्मस्पति ने लुहार की भाँति सकल सामग्री को एकत्र तपाकर अखिल प्रपञ्च का निर्माण किया। देवताओं के सर्जन से भी पहिले, जहाँ कुछ भी न था वहाँ पुरोदृश्यमान इस चराचर जगत् की सृष्टि की। (ऋ. १०-७२-२)

३. उस समय न असत् ही था और न सत् ही; न उस समय रज (लोक) ही थे और न था आकाश, न उस समय कोई गति थी और न कोई स्थान था और न कोई प्रेरणा देने वाला था — क्या कहीं जल था, क्या कहीं अगाध अन्तर था! (ऋ. १०-१२९-१)

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्च नास ॥[1]

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥[2]

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥[3]

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥[4]

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥[5]

---

१. न मृत्यु थी, न था अमरत्व, न रात न दिन का कहीं नाम ओ निशान था। वही एक परमेष्ठी अपनी अन्तश्चेतना के बल निर्वात अवस्था में शान्त रूप वर्त्तमान था, उसके सिवाय कहीं, कुछ न था। (ऋ. १०-१२९-२)

२. तिमिर ही तिमिर से आवृत था, यह अखिल संसार अव्यक्त था, तरल था। यह सब तुच्छ अज्ञान से अभिभूत था, सर्वत्र शून्य ही शून्य था, तब तेज की महिमा से एक का प्रादुर्भाव हुआ। (ऋ. १०-१२९-३)

३. उस एक तैजस विभूति में इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ, वही (सृष्टि की) कामना भावि प्रपञ्च के बीजरूप में परिणत हुई। मनस्वियों ने अपने हृदय में समाहित बुद्धि से विचार कर यह तत्त्व समझा कि प्रस्तुत चराचर जगत् पूर्व कुछ भी नहीं (असत्) था। (ऋ. १०-१२९-४)

४. सचमुच क्या था कौन जानता है, और कौन बता सकता है, वह स्वयं कहाँ से उत्पन्न हुआ और कहाँ से सृष्टि की प्रसूति हुई। क्या देवताओं का आविर्भाव सृष्टि के साथ हुआ या पश्चात्—कौन जानता है कब क्या कहाँ से हुआ। (ऋ. १०-१२९-५)

५. यह सृष्टि जहाँ से उत्पन्न हुई, अथवा उसका कोई आधार है या नहीं—यह सब कुछ वही जानता हो जो परम व्योम में सर्वत्र व्याप्त है—अथवा, हो सकता है वह भी न जानता हो। (ऋ. १०-१२९-७)

न केवल साहित्यिक गुणों की दृष्टि से ही यह सूक्त महत्त्व का है, वरन् इससे भी अधिक इसकी महत्ता उन प्रौढ़ विचारों के कारण है जिनका प्रतिपादन आज से इतने प्राचीन युग में पाया जाता है। परन्तु यहाँ भी भारतीय दर्शन के कतिपय प्रमुख दोष दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें स्पष्टता तथा एकवाक्यता का अभाव है, और विचारों में तर्क प्रायः शब्दमात्र पर अवलम्बित हैं। परन्तु ऋग्वेद में यही एक अंश ऐसा है जिसमें सुसम्बद्ध दार्शनिक विचार आद्योपान्त मिलते हैं। यों कहना चाहिए कि प्राकृतिक दर्शन का यह प्रारम्भ बिन्दु है जिसका अङ्कुर आगे चलकर विकासवादी सांख्य-दर्शन में पल्लवित हुआ। यह सूक्त आर्यों के दार्शनिक विचारों का एक नमूना है और इसी कारण यह सदा अपने महत्त्व को बनाये रखेगा। सृष्टिगीत में प्रतिपादित इस सत्कार्यवाद के अनुसार जल की सृष्टि सबसे पहले हुई और उसके पश्चात् तैजस तत्त्व के बल महत्तत्त्व का विकास हुआ। परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों में दिए सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त उक्त विचार-धारा से सहमत हैं। इनमें भी असत् ही सद्रूप हुआ और प्रथम सत्ता जल की ही थी। इस जल पर हिरण्यगर्भ तैरता रहा। हिरण्यगर्भ विश्वरूप सुवर्णाणु है और उससे वह शक्ति उत्पन्न हुई जिसके द्वारा प्रजापति जगत् का निर्माण कर सके। इतना अवश्य अन्तर है कि प्रजापति पहले, फिर वह शक्ति। यह मौलिक विसंवाद सृष्टिवाद का विकासवाद के साथ संमिश्रण करने से हुआ है; और उसका निराकरण सांख्य दर्शन में, पुरुष को एक कूटस्थ द्रष्टा के रूप में मानते हुए केवल प्रकृति को ही विकास की विभिन्न दशाओं में परिणत होते बतला कर किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के नासदीय सूक्त न केवल भारतीय दर्शन के ही अग्रदूत हैं वरन् पुराणों के भी, जिनके मुख्य लक्षणों में एक लक्षण सर्ग-वर्णन भी है।

अध्याय ६

ऋग्वेदीय युग

पूर्वतन अध्यायों में विवेचित ऋग्वेद संहिता का स्वरूप यह प्रदर्शित करने के लिये सम्भवतः पर्याप्त होगा कि अतिप्राचीन काल के इस अद्वितीय ग्रन्थ में न केवल ऐतिहासिक रूप ही है, अपितु काव्यगत सौन्दर्य का भी अनल्प प्रदर्शन है। इस दृष्टि से प्रत्येक साहित्यानुरागी के लिए उसका समग्र नहीं, तो कम से कम अंशतः अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। प्राचीन युग की धार्मिक भावनाओं का चित्र पूरी तरह चित्रित करने में यह ग्रन्थ सर्वथा अप्रतिम है। जो भी लौकिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले सूक्त बहुत ही कम हैं तथापि उल्लिखित प्रकरणों के आधार पर भारत के प्राचीन आर्यों की सामाजिक स्थिति के सविस्तर अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री समग्र ग्रन्थ में संकलित है। इस कारण ऋग्वेद का महत्त्व मानव सभ्यता के इतिहास में और भी अधिक कहा जा सकता है।

ऋग्वेद में नदियाँ

पहली बात तो यह है कि वैदिक काल की जातियों का आदिम निवास-स्थान कहाँ था इसका पता हमें सूक्तों में उल्लिखित भौगोलिक विषयों से उपलब्ध होता है। उनके आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि आक्रमणकारी आर्य सम्भवतः हिन्दुकुश की पश्चिमी घाटियों से समतल मैदान में उतर आये और भारतवर्ष के ऐशान्य भाग, जिसे फारसी में पंजाब[1] कहते हैं, वहाँ आ बसे। ऋग्वेद के सूक्तों में कुल २५ नद-नदियों का उल्लेख है जिनमें से दो तीन को छोड़कर सभी सिन्ध नदी से सम्बद्ध हैं। उनमें से पाँच नदियाँ पंजाब को सींचती हुई आगे जाकर सिन्धु नदी के साथ बहने लगती हैं। वे नदियाँ वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाव), परुष्णी [इरावती (अर्थात् श्रमनाशी >रावी)] और विपाश् (व्यास), और सबसे बड़ी एवं अधिकतर पूर्व की ओर बहने वाली शुतुद्री (सतलज)। कुछ वैदिक कालीन जातियाँ फिर भी सिन्धु से सुदूर भागों में अवस्थित रहीं जो सिन्धु के पश्चिमी सहायक नदियों की तलहटियों

---

१. इस पद का अवयवार्थ है संस्कृत का पञ्च (पाँच) + आप (जल)।

में रहती थीं। कुछ लोग उत्तर की ओर बड़े वेग से बहने वाली कुभा (क़ाबुल) तथा सुवास्तु (= रहने का सुन्दर स्थान; आधुनिक नाम स्वत) से लगाकर सुदूर दक्षिण में क्रुमु (कुरुम) तथा गोमती (= प्रभूत गौ वाली; आधुनिक नाम गोमन) तक वे जातियाँ रहती थीं। ऋग्वेद की कतिपय नदियाँ सूक्तों में दो-तीन बार से अधिक वर्णित हैं। अधिकतर नदियों का बहुधा उल्लेख अनेक बार है, तथापि सिन्धु और सरस्वती नदियों का बहुत्र वर्णन है। एक समग्र सूक्त (१०–७५) सिन्धु की प्रशंसा में ही कहा गया है जहाँ १८ और नदियों का, जिनमें अधिकांश उसकी सहायक ही हैं, वर्णन केवल दो ही मन्त्रों में है। सम्भवतः इस महानदी ने सूक्तकार के मन पर गम्भीर प्रभाव किया है। उस नदी को सबसे अधिक वेगवाली तथा जलाशय में सब नदियों से बढ़कर बताया है। अन्य नदियाँ तो उसमें इस प्रकार जाकर मिलती हैं जिस तरह रम्भाती गौवें अपने बछड़ों के पास दौड़कर जाती हैं। नदी के वेग एवं गम्भीर कल्लोल का वर्णन निम्नलिखित ऋचा में बड़ी भावुकता के साथ किया है।

दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।
अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत् ॥[1]

सिन्धु पद का संस्कृत में अर्थ नदी-सामान्य है परन्तु यहाँ नदी-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त है। वह आदि आर्यों के निवास की पश्चिमी सीमा है और सर्व प्रथम आर्यों के साथ सम्पर्क में आने वाली प्राचीन जाति की जनता ने सिन्धु नदी जहाँ बह रही है उस सारे प्रदेश को सिन्धु अर्थात् सिन्ध यह नाम दे दिया। सिन्धु शब्द का ही ग्रीक रूपान्तर करने पर 'इन्डोस' बना, और सिन्धु नदी के देश का यही ग्रीक नाम 'India' का प्रवर्तक है। फ़ारस के पुराने लोगों ने सिन्धु नदी का नाम हिन्दु कहा, और हिन्दू यह शब्द अवेस्ता में देशवाचक है। आधुनिक फ़ारसी नाम 'हिन्दुस्तान' (सिन्धु नदी की भूमि) कहीं अधिक सही है, और वास्तव में वह इस महान् देश

---

१. भूमण्डल के ऊपर परिवर्तमान सिन्धु का यह तुमुल निनाद गगनमण्डल की ओर आगे आगे बढ़ कर व्याप्त रहा है, वह सिन्धु अपने अनन्त प्रवाह को भानु की देदीप्यमान मयूखों से सङ्गत कर रही है, और घन-घोर घटा से वृष्टि की गर्जना हो रही है — यह सिन्धु वृषभ के समान उच्च निनाद करती हुई बह रही है। (ऋ. १०-७५-२)

के उस भू-भाग के लिए सर्वथा उचित है जो हिमाद्रि और विन्ध्य-पर्वत के मध्य स्थित है।

ऋग्वेद में बहुधा 'सप्त सिन्धवः' अर्थात् सात नदियों का उल्लेख है। यह पदावली कम से कम एक प्रकरण में तो निश्चित रूप से भारतीय आर्यों की बस्ती के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। यह एक रोचक वस्तु है कि अवेस्ता में भी 'हप्त हिन्दु' का प्रयोग मिलता है। परन्तु वहाँ उसका अर्थ कुछ संकीर्ण है। वह केवल भारत के उतने ही हिस्से को बोधित करती है जो पूर्वी क़ाबुलिस्तान के अन्तर्गत कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में 'सप्त' यह पद यदि निश्चित संख्या का वाचक है तो सात नदियों से तात्पर्य क़ाबुल, सिन्धु और पंजाब की पाँच नदियाँ हैं, जोभी आगे चलकर क़ाबुल के स्थान पर सरस्वती नदी का समावेश कर लिया गया है। कारण यह है कि सरस्वती ऋग्वेद की एक परम पवित्र नदी है जिसका बहुधा उल्लेख देवी के रूप में किया है, और किसी अन्य नदी की अपेक्षा अधिक भावना के साथ उसकी स्तुति की गयी है। वैदिक ऋषियों ने प्रायः ऐसा वर्णन बड़ी नदी का ही किया है। अत एव अध्यापक रोट तथा अन्य प्रसिद्ध विद्वानों ने यह निर्णय किया कि ऋग्वेद के सूक्तकारों ने सिन्धु नदी का ही पवित्र नाम सरस्वती रख दिया है। इसके विपरीत यह भी ध्यान देने योग्य है कि कुछ सूक्तों में 'सरस्वती' निश्चय ही किसी छोटी नदी का बोधक है, जो सतलज और यमुना के बीच बहती रही है और जो आगे चलकर दृषद्वती के साथ मिलकर ब्रह्मावर्त नामक पवित्र प्रदेश की पूर्वी सीमा निर्धारित करती है। ब्रह्मावर्त अम्बाला से दक्षिण कोई साठ मील पर स्थित सिमला के दक्षिण की ओर प्रारम्भ होने-वाला प्रान्त है।

यह छोटी नदी रेगिस्तान की सैकत भूमि में अब लुप्त हो गयी है। परन्तु पुरातन नदी प्रवाह के चिह्न इस मान्यता के समर्थक हैं कि सरस्वती शुतुद्री की एक सहायक नदी रही हो। अत एव यह असम्भव नहीं कि वैदिक युग में यह समुद्र तक पहुँची हो और अपने आज के रूप से कहीं अधिक लम्बी रही हो। सरस्वती को प्राप्त विशेष पवित्रता की ओर ध्यान देते हुए, यदि उस छोटी सी नदी की भी सिन्धु जैसी महानदी के अनुरूप प्रशंसाएँ कर दी जाँय तो किसी तरह अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती। यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'दृषद्वती' = पथरीली (आधुनिक घोग्रा या घग्गर) ऋग्वेद में एक ही बार उल्लिखित है; और उस प्रकरण में भी उसका नाम सरस्वती के साथ लिया

गया है। वहाँ यह बताया है कि इन्हीं दो नदियों के किनारे अग्नि प्रज्ज्वलित की जाकर उसका आवाहन किया जाता था। इससे यह संकेत मिलता है कि ऋग्वेद के समय में सिन्धु नदी के प्रवाह की पूर्वतम सीमा पर वर्तमान प्रदेश ने उस पुनीत भाव को प्राप्त कर लिया था जिस हेतु वह वेद-विहित यज्ञयागादि कर्मकाण्ड के लिए परमोपयोगी स्थान माना जाता था। इस बात का भी संकेत मिलता है कि कम से कम ऋग्वेद युग के समाप्त होते-होते कतिपय आक्रमणकारी आर्य इस प्रान्त को पार कर गङ्गा के प्रवाह की पश्चिम सीमा पर पहुँच चुके थे। कारण, उत्तर प्रदेश में वर्तमान गङ्गा के सुदूर पश्चिम भाग में मिलने वाली यमुना तीन प्रकरणों में उल्लिखित है जिनमें से दो सन्दर्भ तो यह सिद्ध करते हैं कि यमुना के तट पर आर्यों ने अपनी बस्ती डाल दी थी। निश्चय ही, वह युग गङ्गा से परिचित था; कारण, ऋग्वेद के एक सूक्त में साक्षात् तथा एक और सूक्त में पारम्परिक रूप से गङ्गा का उल्लेख है। गङ्गा का नाम इतर वेदों में कहीं नहीं पाया जाता।

जिस समय ऋग्वेद के सूक्तों की रचना हो रही थी उस समय आक्रमण-कारी आर्यों का दक्षिण की ओर जाना पंजाब की नदियों का सिन्धु के साथ संगम के स्थान से अधिक आगे न बढ़ पाया था। सम्भवतः सागर के विषय में ज्ञान तथाकथित ही माना जा सकता है; कारण, सिन्धु नदी के अनेक मुहानों का कहीं वर्णन नहीं पाया जाता और छोटी सिन्धु के तट पर विशेषतः आजकल प्रचलित मत्स्यजीवी व्यवसाय का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इतना अवश्य है कि मत्स्य शब्द का प्रयोग एक बार तो ऋग्वेद में हुआ है जहाँ अन्य पशु-पक्षी एवं कीट का उल्लेख कई बार है। मत्स्य के प्रति यह उपेक्षा पंजाब और पूर्वी क़ाबुलिस्थान की नदियों के स्वरूप के सर्वथा अनुकूल है जिसमें मछलियाँ बहुत कम होती हैं। इस अंश में ऋग्वेद का यजुर्वेद से वैलक्षण्य है। यजुर्वेद ने मत्स्य-ग्रहण के सम्बन्ध में अत्यधिक परिचय प्रकट किया है। यजुर्वेद उस समय की रचना प्रतीत होती है जब आर्य लोग सुदूर पूर्व तक, तथा निश्चय ही दक्षिण तक फैल चुके थे। समुद्र (सम + उद्र) जो आगे चलकर सागर के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, वस्तुतः ऋग्वेद के समय में अपने शाब्दिक अर्थ 'महाजलाशय' में प्रयुक्त होता था। इससे उनका तात्पर्य सिन्धु नदी के मुख्य प्रवाह से है जो पंजाब के नदियों के संगम के कारण इतना चौड़ा हो जाता है कि मध्यप्रवाह में बहती हुई नौका तट पर से दीख नहीं पड़ती। हाल ही यह भी पता चला है कि उस प्रान्त के निवासी वहाँ की नदी सिन्ध को सागर ही कहते हैं; सच तो यह है

कि ऋग्वेद में सिन्धु शब्द का प्रयोग कई जगह सागर के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद में ऐसी कोई उपमाएँ अथवा रूपक नहीं पाये जाते जो समुद्र से परिचित जनता में अक्सर प्रचलित हों। जलतरण के अर्थ में केवल इतना ही संकेत मिलता है कि नौकाओं में पतवार लगा कर नदी के उस पार जाया जाता था। पारगमन के काम ने संस्कृत साहित्य को एक अत्यन्त प्रचलित रूपक प्रदान किया है। ऋग्वेद के एक सूक्तकार ने अग्नि की स्तुति करते हुए कहा है 'हमें सब शोक और विपत्तियों से उसी तरह पार ले जाओ जैसे नाविक नाव के द्वारा नदी के पार ले जाते हैं'। परवर्ती साहित्य में तो जिस किसी व्यक्ति ने अपना ध्येय सिद्ध कर लिया है अथवा शास्त्र का पूर्ण अध्ययन कर लिया है उसे 'पारग' ही कहते हैं। अथर्ववेद में अवश्य ऐसे कतिपय अंश है जिनसे सिद्ध होता है कि अथर्ववेद के रचयिता समुद्र से परिचित थे।

पर्वत

ऋग्वेद में पर्वतों का उल्लेख अनेक जगह हुआ है और साथ ही साथ यह भी बताया गया है कि नदियाँ उनसे निकल कर बह रही हैं। हिमालय, जिसका शाब्दिक अर्थ हिम का निवास स्थान है, उस पर्वत श्रेणी का बोधक है, जो सृष्टि कर्त्ता से अधिष्ठित है। किसी ख़ास चोटी का वर्णन नहीं है। पारम्परिक रूप से केवल मूजवत् शिखर का उल्लेख मिलता है जहाँ सोमवल्ली प्राप्त होती है। उत्तरकालीन वैदिक साहित्य से यह पता चलता है कि मूजवत् क़ाबुल की घाटी के निकट स्थित है। सम्भवतः यह काश्मीर के नैऋत्य कोण में स्थित है। अथर्व वेद में हिमालय के दो और शृंगों का उल्लेख है: एक का नाम त्रिककुद जिसे आगे चलकर त्रिकूट बताया है। यहाँ से असिक्नी (चिनाव) नदी बहती है; दूसरा शृंग है नाव-प्रभ्रंशन, जिसका शाब्दिक तात्पर्य है, नाव को डुबाने वाला। यह वही पहाड़ है जिसे महाभारत में नौबन्धन कहा है, तथा शतपथ ब्राह्मण में मनोरथ-सर्पण। कहा जाता है इसी स्थान पर प्रलय काल में महाराज मनु की नौका आगे रुक गयी थी। ऋग्वेद में विन्ध्य पर्वत का उल्लेख नहीं है। यह वह पहाड़ है जो दक्षिण को उत्तर भारत से विभक्त करता है। ऋग्वेद में नर्मदा का भी उल्लेख नहीं मिलता जो विन्ध्यपर्वत के दक्षिण[1] भाग में पर्वतश्रेणी के समानान्तर बहती है।

---

१. वस्तुतः संस्कृत 'दक्षिण' शब्द का अर्थ है दाहिना, परन्तु चूंकि भारतीय जनता उदीयमान सूर्य के अभिमुख हो दिग्भाग का परिचय करती है, अत एव उनके दाहिने दिग्भाग की संज्ञा 'दक्षिण (दक्खिन)' है।

ऋग्वेद्-कालीन आर्यों का निवास-स्थान

उपर्युक्त विषयों के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि ऋग्वेद के सूक्तों के निर्माण के समय आर्य लोग देश के वायव्य भाग पर अपना अधिकार जमा चुके थे। यह भाग मानचित्र पर पंखे के आकार में दिखाई देता है। इस प्रदेश की पश्चिमी सीमा सिन्धु नदी के द्वारा, पूर्वी सीमा सतलज के द्वारा तथा उत्तर की हिमालय के द्वारा आबद्ध है। इनका पड़ाव कुछ पूर्व और पश्चिम की ओर भी उपर्युक्त सीमा से बाहर जमा हुआ था। वर्तमानकालीन पंजाब एक बहुत बड़ा सूखा मैदान है जहाँ रावलपिण्डी को छोड़ कर न कोई पहाड़ है जिससे टकराकर मेघ-मण्डल वर्षा कर सकें। इस प्रदेश में प्रकृति के भौतिक संघर्ष से जन्य कोई सुन्दर चित्र नहीं है। वर्षा ऋतु में यहाँ बहुत हल्की सी बरसात होती है और यहाँ के सूर्योदय की छटा इतनी भव्य होती है जितनी उत्तर भारत में अन्यत्र कहीं नहीं पाई जाती। सम्भवतः इसी आधार पर अध्यापक हॉप्किन्स ने यह समझा कि वरुण और उषस् सूक्तों जैसे पुरातन सूक्त ख़ास पंजाब में रचे गये और शेष की रचना सरस्वती के निकट पवित्र भूमि में हुई जहाँ ऋग्वेद में उल्लिखित सब ही स्थितियाँ उपलब्ध हैं। परन्तु यह कहीं अधिक सम्भव है कि वैदिक काल से आज पंजाब की जलवायु बदल गयी हो।

ऋग्वेद के समय में पूर्वोक्त प्रदेश ही आर्यों का निवास-स्थल था—यह बात ऋग्वेद में वर्णित पशु-पक्षी, फल-फूल और अन्य उपज के द्वारा अधिक प्रमाणित होती है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद का मुख्य पदार्थ सोम है। सोम के विषय में कहा गया है कि वह पहाड़ों पर उगता है और निश्चय, यहीं वह बहुतायत से उपलब्ध होता होगा। उसका उपयोग आह्निक कर्मकाण्ड में प्रचुर मात्रा में किया जाता था। ब्राह्मण-काल में सोम दूर-दूर से लाया जाता था और उसके अनुपलब्ध होने पर अनेक द्रव्य प्रतिनिधि रूप में ग्रहण किए जाते थे। फल यह हुआ कि असली सोम की पहचान भारत में न रही। आजकल जो सोम के रूप में प्रयुक्त है वह तो कोई भिन्न ही पदार्थ है, कारण उसके रस पीने से जी घबराने लगता है और उसका स्वाद ऋग्वेद में वर्णित सोमरस के स्वाद से बिल्कुल भिन्न है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पारसी लोग होमा याग के लिए पारस से जिस वल्ली को मँगवाते हैं वह कहीं ऋग्वेद का सोम ही है। यह भी स्मरण रहे कि परवर्ती वेदों में बहुधा उल्लिखित तथा जीवन के परम उपयोगी साधन 'व्रीहि' का उल्लेख

ऋग्वेद में कहीं भी नहीं है। चाँवल आग्नेय दिशा में बहुतायत से पैदा होता है जहाँ वर्षा अधिक तथा सतत होती है। सम्भवतः, चाँवल की उपज सिन्धु नदी की तलेटियों में न होती होगी जब कि ऋग्वेद की रचना हुई, यद्यपि आगे चलकर सिंचाई के द्वारा चाँवल का उत्पादन समस्त भारत में सम्भव हो गया था। ऋग्वेदकालीन कृषकगण धान्य अवश्य पैदा करते थे जिसका उल्लेख यव शब्द से किया जाता है। परन्तु सम्भवतः उस समय 'यव' शब्द धान्य-सामान्य का बोधक हो, न कि 'जौ' के संकीर्ण अर्थ का, जो आगे चलकर इस अर्थ में सीमित हो गया।

ऋग्वेद-काल के वृक्ष

ऋग्वेद में उल्लिखित महावृक्षों में सबसे महत्त्व का वृक्ष है अश्वत्थ उसका फल (पिप्पल) मधुर बताया गया है जिसे पक्षी-गण खाते हैं। इसकी पवित्रता उपयोगजन्य है। कारण, इसका काष्ठ सोमपान के लिए काम में लाया जाता था और त्रेताग्नि के उत्पादन के लिए भी पिप्पल काष्ठ का प्रयोग किया जाता था जिसे वेद में प्रमन्थ कहा है। परवर्ती वेद में उल्लेख है कि देवता तीसरे स्वर्गीय लोक में अश्वत्थ के नीचे बैठते हैं। वास्तव में यह वही वृक्ष है जिसे ऋग्वेद में 'बहुपलाश' वृक्ष कहा है। आज भी पीपल उतना ही पवित्र माना जाता है। कोई भी हिन्दू उसके पास खड़ा होकर मिथ्या भाषण करने से डरता है। पर ऋग्वेद में कहीं भी न्यग्रोध (= नीचे की तरफ़ उगने वाला) नहीं है। इसका उल्लेख अथर्ववेद में केवल दो बार आया है। यह भारत में सबसे बड़ा वृक्ष होता है जिसका घेरा दुनिया के और किसी देश के वृक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। इसका विशाल शिखर पत्तों से सघन होता है जिसमें सूर्य की किरणें प्रवेश नहीं कर पातीं और वह शिखर पेड़ के छोटे-छोटे अनेक तनों से खम्भों की तरह आश्रित होता है। इस वृक्ष का स्वरूप एक विशाल हरे भरे मन्दिर की तरह लगता है जिसे स्वयं प्रकृति ने रचा है। जिस तरह इङ्गलैण्ड के गाँव गाँव में ओक वृक्ष होता है उससे भी कहीं अधिक महत्त्व भारत के ग्रामवासियों के लिए इस वट वृक्ष का है जिसके आस पास कृषि-प्रधान भारत देश में कृषकों की बस्ती पाई जाती है।

पशु

वन्य पशुओं में ऋग्वेद के सूक्तकारों को सबसे अधिक परिचय सिंह से था। उन्होंने बताया है सिंह घने जङ्गल के पहाड़ी प्रदेश में

रहता है। वह जाल के द्वारा पकड़ा जाता है। उसकी वह विशेषता, जिसका अधिकतर वर्णन किया गया है, गर्जना है। सिन्धु नदी तथा सतलज की पूर्वी तलेटी में भारत का ऐसा भू-भाग है जो सिंह के लिए स्वाभाविक निवास योग्य स्थान है। प्राचीन काल में निश्चय ही इस प्रदेश में सिंह अधिकतर उपलब्ध होता होगा, परन्तु आज केवल गुजरात के दक्षिण भाग में स्थित पहाड़ी प्रदेश में सिंह पाया जाता है। मृगराज यह पशु भारतीय साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है; यहाँ तक कि कई हिन्दू व्यक्तियों के नाम में 'सिंह' का प्रयोग भी किया जाता है। ऋग्वेद में कहीं भी व्याघ्र का वर्णन नहीं है। उसकी जन्म भूमि बंगाल के दलदल में रही है मगर आज तो भारत के हर जङ्गल में वह पाया जाता है। इतर वेदों में व्याघ्र ने सिंह का स्थान ग्रहण कर लिया है। व्याघ्र एक भयावह श्वापद है। शुक्ल यजुर्वेद में किसी ख़तरनाक काम करने को सोये व्याघ्र को जगाने के तुल्य बताया है; और अथर्ववेद में व्याघ्र को पुरुषाद (= मनुष्यों को खाने वाला) कहा है। वेदों में उपलब्ध सिंह और व्याघ्र के सम्बन्ध को देखते हुए एक सुन्दर प्रमाण प्राप्त होता है कि वैदिक युग में आर्य लोग क्रमशः उत्तर से पूर्व की ओर फैल रहे थे।

लगभग ऐसी ही स्थिति हाथी की भी है। उसका नामतः उल्लेख ऋग्वेद में केवल दो ही स्थान पर मिलता है। उसका नाम हाथ वाला पशु (मृग) अर्थात् हस्तिन् दिया है। इससे सिद्ध होता है कि ऋषियों के अभिप्राय में तब तक भी यह कोई अद्‌भुत सा प्राणी था। ऋग्वेद युग के समाप्त होते होते हाथी के सम्बन्ध में एक संदर्भ ऋग्वेद में पाया जाता है। जो भी हो, जंगली हाथी को पकड़ने की पद्धति ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के समय चल पड़ी थी— यह बात मेगस्थनीज़ के संस्मरणों के आधार पर सिद्ध होती है। अथर्ववेद और यजुर्वेद में हाथी बिल्कुल परिचित सा प्राणी है। न केवल उसका बहुधा उल्लेख ही है अपितु हस्ती यह विशेषण मात्र ही हाथी का वाचक बन चुका था। उत्तर भारत में हिमालय की तराई में हाथी का जन्म-स्थान रहा जिसकी सीमा पूर्व की ओर बढ़ते बढ़ते कानपुर के अक्षांश पर पहुँच गयी।

सिंह की अपेक्षा कहीं अधिक उल्लेख ऋग्वेद में वृक का है। वराह का वर्णन भी बहुत पाया जाता है, उसके पीछे कुत्ते धावा करते हैं। सूक्तकारों को महिष, घरेलू एवं वन्य, दोनों ही प्रकार के विदित थे। कई स्थानों पर उसके मांस को पका कर खाने का वर्णन मिलता है। ऋच्छ का नाम एक ही स्थान पर लिया गया है। केवल एक परवर्ती सूक्त (१०–९६) में ही कपि का

उल्लेख है। वर्णन के ढङ्ग से पता चलता है कि उन दिनों भी वह पालतू प्राणी था। कपि की साधारण संस्कृत संज्ञा 'वानर (=वन का जीव)' वर्तमान देश भाषा में प्रयुक्त होता है; और रुडयार्ड किप्लिङ्ग के पाठकों को उसके साथ परिचय 'बन्दर लोग' इस उक्ति में मिलता है।

पालतू प्राणी

ऋग्वेद में कथित पालतू पशुओं में साधारण महत्त्व के पशु मेष, अज, रासभ एवं कुक्कुर हैं। यह प्रतीत होता है कि कुक्कुरों का उपयोग आखेट तथा गृह-रक्षा एवं पशु-चारण के हेतु किया जाता था। रात के समय पहरा देने का काम भी कुक्कुरों से लिया जाता था। ऋग्वेद में प्रधान स्थान दुधारु मवेशी का है। गो तो मुख्य रूप से धन ही समझा जाता था। यज्ञानुष्ठान के लिए शुल्क को दक्षिणा कहा है जिसमें पूर्व पद गो लुप्त हो गया है जिसका अर्थ शरीर अथवा मूल्यवान् होता है। वैदिक-कालीन भारतीय के नयनों को इससे अधिक प्रिय कोई दृश्य न था जैसा जंगल से लौटती हुई गाय का, आते ही रस्सी से बँधे हुए अपने वत्स को लालन करने का हुआ करता था। पयस्विनी गौ के रम्भाने के स्वर से कहीं अधिक मधुर स्वर उनके कानों के लिये न था। अत एव इस उक्ति में कोई अजीब बात नहीं, जब सूक्तकार यह कहते हैं 'जैसे गोष्ठ के निकट गोवृन्द अपने वत्सों के पास पहुँच कर रम्भाते हैं उसी तरह हम भी अपनी स्तुतियों के द्वारा इन्द्र की प्रार्थना करें', अथवा 'हे वीर इन्द्र ! हम भी अपनी पुकार तुम्हारे पास उसी तरह ऊँचे स्वर से करते हैं जैसे विना दूही गउएँ करती हैं'। वन से लौटने के पश्चात् रात में सुरक्षा के लिए गउओं को गोशाला में बन्द कर दिया जाता था और पुनः प्रातः वे छोड़ दी जाती थीं। यद्यपि शुक्ल यजुर्वेद में गोवध के लिये मृत्यु दण्ड विहित है, ऋग्वेद में गोवध का नितान्त प्रतिषेध नहीं पाया जाता; कारण विवाह सूक्त में विशेष महोत्सवों पर गो का आलम्भन विहित है और वृषभों की वलि इन्द्र को अर्पित करने का प्रकरण कई जगह वर्णित है। जब गायें बन चारण के लिए जाया करतीं उस समय दिन में वृषभों द्वारा हल चलाने और गाड़ी खींचने का भी वर्णन मिलता है।

मवेशी के बाद मूल्यवान् प्राणी घोड़ा माना जाता था। गोधन के साथ साथ वाजिधन की भी प्रार्थना सतत की जाती थी। युद्ध में सतत संलग्न जाति के लिए घोड़ा अवश्य ही रथवाहन के हेतु विशेष महत्त्व का प्राणी

हुआ करता था। रथ-प्रतियोगिता के लिए भी अश्व एक अनिवार्य प्राणी था; कारण, वैदिक समय के भारतीयों को रथों की दौड़ लगाने का शौक़ था। इतना अवश्य है कि उस समय अश्वारोहण प्रचलित न था। अश्वमेध यज्ञ तो पशुयागों में सबसे उत्कृष्ट एवं समर्थ समझा जाता था।

पक्षी

ऋग्वेद में उल्लिखित पक्षियों में से हम यहाँ उन्हीं का विवरण देंगे जिनका कोई ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक महत्त्व है। लौकिक साहित्य के सबसे प्यारे हंस का संहिता में अनेक बार उल्लेख मिलता है। हंस जल में तैरते और कतार बाँध कर उड़ते हुए बताए गये हैं। शुक्ल यजुर्वेद में सोम को जल से विभक्त करने की शक्ति हंस में बतायी है जिस तरह परवर्ती साहित्य में नीर-क्षीर-विभाग के लिए हंस की महिमा गायी गयी है। वास्तव में यह शक्ति तो शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार क्रौंच पक्षी में होती है।

वेदोत्तर काल में पारस्परिक स्नेह के लिए चक्रवाक आदर्श माना गया है, उसका केवल एक ही बार उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। कहा है कि अश्विन चक्रवाक के मिथुन के रूप में प्रातः आया करते थे। अथर्ववेद में इस पक्षी को दाम्पत्य स्नेह का आदर्श माना है। ऋग्वेद में मयूरी विषहरण के लिए प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में शुक का रंग पीला कहा है। यजुर्वेद के समय शुक को घर में पालने की प्रथा पाई जाती है। वहाँ यह भी बताया है कि शुक मानुषी वाक् का प्रयोग करता है।

अनुपलब्धि को प्रमाण मानने के ख़तरे का एक उदाहरण यह है कि ऋग्वेद में परमोपयोगी खनिज लवण का कहीं भी उपयोग नहीं है। तथापि उत्तरी पंजाब भारत का वह हिस्सा है जहाँ नमक बहुतायत से मिलता है। सिन्धु और झेलम के बीच की तट-भूमि पर इतना नमक होता है कि स्ट्रैबो के अनुसार सिकन्दर के ग्रीक साथी बताते थे कि वह समग्र भारत के उपयोग के लिए पर्याप्त है।

खनिज

खनिज द्रव्यों में सबसे अधिक बार ऋग्वेद में उल्लेख स्वर्ण का है। सम्भवतः वायव्य दिशा में बहने वाली नदियों के आस-पास की भूमि में स्वर्ण अधिक मिलता था। कहा जाता है आज भी उस प्रदेश में बहुत सा स्वर्ण है। ऋग्वेद के सूक्तकारों ने सिन्धु को स्वर्णमय बताया

है। ऋग्वेद में ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि राजाओं के पास बहुत स्वर्ण होता था। एक सूक्तकार ने अपने आश्रयदाता राजा की दान-स्तुति में कहा है कि यजमान ने अनेक उपहारों के अतिरिक्त दस स्वर्ण निष्क भी दिये थे। कुण्डल एवं अंगद आदि विविध प्रकार के स्वर्ण आभूषण का उल्लेख बहुत्र मिलता है। सोने के अतिरिक्त ऋग्वेद में 'आयस'[1] का वर्णन अनेक स्थानों पर है। यह निश्चित नहीं कि आयस लोहे का पर्याय है। कई प्रकरणों में यह पद केवल धातुमात्र का बोधक है। धातुविशेष का संकेत तो इस पद से क्वचित् ही प्राप्त होता है। परन्तु ऋग्वेद में वर्णित आयस के रंग पर विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि आयस लोहा नहीं है परन्तु लालिमा लिए हुए 'निकल' जैसा कोई खनिज द्रव्य है। अथर्ववेद में कालायस एवं लोहितायस ऐसे दो प्रकार के आयस वर्णित हैं। इससे प्रतीत होता है कि ताम्र एवं निकल में भेद बहुत दिनों बाद हुआ होगा। साथ ही साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि विश्व-सभ्यता में निकल का प्रयोग सर्वत्र लोह से पूर्व प्रचलित हुआ। तथापि यह कहना एक प्रगल्भ उक्ति होगी कि वैदिक युग के प्रारम्भ में भारतीय जनता लोह से बिल्कुल अपरिचित थी। हाँ, यह कुछ सम्भव सा प्रतीत होता है कि उस युग के आर्यों को रजत से परिचय न था; कारण, रजत का उल्लेख ऋग्वेद में कहीं नहीं है। स्मरण रहे कि रजत एवं लोह का परिचय प्रायशः समकाल ही होता है; कारण, परस्पर सम्मिलित रूप से ही रजत और लोह की उत्पत्ति होती है। जो भी कुछ हो, ये दोनों ही धातुएँ किसी भी मात्रा में भारत के वायव्य भाग में उपलब्ध नहीं होतीं।

भारत के आदिवासी

भारत में स्थित स्थानों की ओर संकेत के आधार पर तथा जलवायु और उत्पाद्य वस्तुओं के साक्ष्य से यह प्रमाणित होता है कि ऋग्वेद के रचयिता भारत के वायव्य कोण में बसे हुए लोग थे। यह भाग क़ाबुल नदी से लगाकर यमुना तक का प्रदेश था। वे उस समय आदिवासियों के साथ संघर्ष में जुटे हुए थे, कारण आदिवासी के पराजय का वर्णन कई जगह मिलता है। कहा जाता है इन्होंने अपने मित्रों के लिए तीस हज़ार विपक्षियों को मारा और एक हज़ार को क़ैद किया। विजेता जाति नये-नये प्रदेश को हस्तगत करने में सन्नद्ध थी। यह बात—'आगे बढ़ने में नदियाँ

---

१. लैटिन पर्याय है aes. (>अयस)।

भारी रुकावट डालती हैं'—इस उक्ति के द्वारा प्रतीत होती है। आक्रमणकारी जाति अनेक अवान्तर जातियों में विभक्त अवश्य थी परन्तु उनमें धर्म और वर्गीय भावना में एकत्व अवश्य था। वे अपने आपको आर्य (बन्धु) कहकर उन आदिवासियों से पृथक्त्व स्थापित करते थे जिन्हें वे दस्यु अथवा दास कहा करते थे। आगे चलकर तो इस दस्यु जाति को अनार्य भी कहा है। इन दो जातियों में दैहिक विभेद वर्णगत था। आदिवासी को काले रंग का (अर्थात् दासों के रंग का) बताया है और अपना रंग आर्य (गौर) वर्ण घोषित किया है। निःसन्देह भारत में जातिभेद का मूलकारण यही रंग का भेद है। वास्तव में जाति का वाचक रूढ शब्द ही वर्ण है।

पराजित जाति के लोग जो पहाड़ियों में जाकर छिप न सके विजेताओं के द्वारा बन्दीकृत कर लिये गये। उदाहरणार्थ, एक प्रस्तोता को अपने आश्रय-दाता राजा से भेंट में १०० गर्दभ, १०० मेष और १०० दास प्राप्त हुए थे। परवर्ती संस्कृत में दास यह शब्द भृत्य या बन्दी के लिये प्रयुक्त होता है—ठीक उसी तरह जैसे 'बन्दी स्लाव' जर्मन भाषा में आगे चल कर (Slave) का वाचक बन गया। भारत के आदिवासी जब आक्रमणकारियों से अभिभूत हो सर्वथा उनके अधीन हो गये तब वे दस्यु नहीं कहे जाते थे परन्तु उनका वर्ग एक चौथा बना दिया गया जिसे शूद्र कहते हैं। ऋग्वेद में दस्यु यज्ञ न करने वाले नास्तिक अधार्मिक बताए गये हैं। निश्चय ही दो सूक्तों में लिङ्ग-पूजकों के नाम से उन्हीं का संकेत किया है। परन्तु समय बीतने पर आर्यों ने भी उक्त सम्प्रदाय को अपना लिया। महाभारत में अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि महाभारत के रचनाकाल में लिङ्ग के स्वरूप में शिव की अर्चा प्रचलित थी। आजकल भारत में सर्वत्र लिङ्ग-पूजन प्रचलित है विशेषकर दक्षिण भारत में। प्रतीत होता है दस्यु प्रचारकों की एक जाति थी; कारण उनके पास बड़ी तादाद में पशु होते थे जिन्हें विजेता आर्य लोग पकड़ कर ले जाया करते थे। आक्रमणकारियों से बचने के हेतु ये दस्यु सुरक्षित स्थान खोज लिया करते थे। ऐसे दस्युओं के दुर्ग को पुर कहा है। ये पुर अनेक अवश्य होंगे कारण, इन्द्र ने अपने मित्रों के लिए सैकड़ों पुरों का ध्वंस किया यह ऋग्वेद में उल्लिखित है।

ऋग्वेद में आर्यों के भी विभिन्न दल बताये गये हैं। सुदूर वायव्य दिशा में रहने वाले गन्धारी कहलाते थे जो प्रायः मेषपाल हुआ करते थे। आगे चलकर वे गन्धार अथवा गान्धार इस नाम से ख्यात हुए। अथर्ववेद में

गान्धारियों की निकटवर्ती मूजवत् जाति का उल्लेख है। निश्चय यह मूजवत् पर्वत के निकट रहने वाली जाति का नाम था। इससे यह सिद्ध होता है कि वायव्य भाग में आर्यों के निवास की अन्तिम सीमा गन्धार से मूजवत् तक रही हो।

ऋग्वेद में 'पञ्च जाति का' वर्णन बहुधा मिलता है। भारतीय आर्यों का अधिकांश इन्हीं के अन्तर्गत रहा हो। ये जाति पुरु, तुर्वश, यदु, अनु और द्रुह्यु नामक थीं। कहा गया है अन्तरजातीय संघर्ष अक्सर हुआ करते थे। कुछ और दलों के साथ मिलकर इनमें से चार जातियों ने दश राजाओं के साथ सन्धि कर त्रित्सुओं के नायक सुदास के साथ विग्रह किया था। दोनों दल परुष्णी नदी के तट पर युद्ध में जुटे जहाँ 'दस राजाओं का विग्रह' हुआ था। परुष्णी के प्रवाह को पार करते समय दस राजाओं के दल को त्रित्सुओं ने मार भगाया और बड़ी क्षति पहुँचाई।

पुरु जाति के लोग सरस्वती के उभय तट पर बसे हुए थे परन्तु उनका एक दल अवश्य ही बहुत पीछे पश्चिम में ही रह गया हो ऐसा ज्ञात होता है। कारण, सिकन्दर के समय पुरु जाति के लोग परुष्णी के तट पर पाये गये थे। ऋग्वेद में अनेक जगह कहा है कि पुरुओं के राजा पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु था और उसका वंशज 'तृक्षि' एक प्रतापी राजा हुआ था। तुर्वशों का उल्लेख ऋग्वेद में बहुत अधिक है, उसी सन्दर्भ में यदुओं का भी उल्लेख मिलता है जिनमें कण्व गोत्र के पुरोहित भी रहते थे। ऋग्वेद के एक उद्धरण से अनुमान होता है कि अनु जाति के लोग परुष्णी के तट पर जा बसे थे। उनका सम्बन्ध द्रुह्यु जाति के साथ सविशेष निकट था। ऋग्वेद के एक मात्र सूक्त में मत्स्यों का भी वर्णन मिलता है जो त्रित्सु जाति के शत्रु थे। महाभारत में मत्स्यों का निवासस्थान यमुना का पश्चिमी तट बताया है।

सुदास के शत्रुओं में प्रमुख नाम भरतों का है। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के तैंतीसवें सूक्त में बताया है कि विपाश् और शुतुद्री के तट पर विश्वामित्र के साथ भरत जाति के लोग पहुँचे। ५२वें सूक्त में दिया है कि विश्वामित्र पहले सुदास के पुरोहित थे; उनकी तपस्या के फलस्वरूप इन नदियों का पानी अब पार करने लायक हो गया था। सम्भवतः यह वह प्रसंग है जिसका उल्लेख सप्तम मण्डल के ३७ वें सूक्त में मिलता है। वहाँ कहा है कि सुदास और उसके साथी त्रित्सुओं ने भरतों को पराजित

किया। उस समय सुदास की सेना को वसिष्ठ के मन्त्र-बल की सहायता थी। वसिष्ठ विश्वामित्र के प्रतिद्वन्द्वी थे तथा विश्वामित्र के बाद सुदास के कुल-पुरोहित हुए थे। ऋग्वेद में यज्ञ-यागादि अनुष्ठान से भरतों का सम्बन्ध सविशेष बताया है; कारण, अग्नि का नाम भारत तथा यज्ञदेवी का नाम भारती कहा है।

भारती का प्रायः समन्वय सरस्वती से किया जाता है। ये दोनों ही संज्ञाएँ भरत शब्द से व्युत्पन्न हैं। अग्निसूक्त (३-२३) में कहा है कि भरत जाति के दो पुरुष, देवश्रवा और देववात ने दृषद्वती, आपया और सरस्वती के तट पर यज्ञिय अग्नि को प्रज्ज्वलित किया था। यह वही प्रदेश है जो आगे चलकर ब्राह्मण-धर्म का पवित्र केन्द्र, ब्रह्मावर्त और कुरुक्षेत्र के नाम से ख्यात हुआ। विश्वामित्र जिस गोत्र के थे वह कुशिक वंश भरतों के साथ निकट रूप से सम्बद्ध था।

प्रतीत होता है त्रित्सु जाति परुष्णी के किसी पूर्वी भाग में जा बसी थी। परुष्णी के पश्चिम तट पर सुदास ने अपना दल दस राजाओं के युद्ध में एकत्र किया था और वहीं पश्चिम तट से उक्त नदी को पार करने का प्रयास किया था। पञ्चजाति के लोग, जिसका उल्लेख और आगे कभी नहीं पाया जाता, उस महायुद्ध में सुदास के साथी थे। स्यात् सृञ्जयों ने भी उनका साथ दिया था; कारण, वे भी त्रित्सुओं की भाँति तुर्वशों के शत्रु बताये गये हैं।

कुछ और जातियाँ हैं जिनके सम्बन्ध में हमें ऋग्वेद में नाममात्र से परिचय होता है। परन्तु उन जातियों का उल्लेख परवर्ती युग में भी हुआ है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में सकृत् उल्लिखित कुशीनरों का ऐतरेय ब्राह्मण के रचना-काल में उत्तर भारत के मध्य भाग में निवास पाया जाता है; और उसी तरह एक ही वार कथित चेदियों का भी वर्णन महाभारत युग में मिलता है जो मगध अर्थात् दक्षिणी बिहार में जा बसे थे। वैसे ही क्रिवि किसी उस जाति का बोधक है जो वायव्य दिशा में सिन्धु एवं असिक्नी के आस-पास बसती थी। शतपथ ब्राह्मण में यह उन्हीं पाञ्चालों का पुराना नाम है जो वर्तमान देहली से उत्तर की ओर बसे हुए थे।

अथर्ववेद में न केवल गन्धारी एवं मूजवतों का ही उल्लेख है अपितु मगध एवं अंग आदि दूरस्थ जातियों का भी वर्णन है। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अथर्ववेद के रचनाकाल तक आर्य जाति गंगा के मुहाने तक फैल गयी थी।

दोनों वेद में से किसी में भी पाञ्चालों का वर्णन नहीं मिलता। पारम्परिक रूप से दो या तीन समासान्त अथवा तद्धितान्त पदों में कुछ जाति का संकेत अवश्य मिलता है। उनका सर्व-प्रथम उल्लेख शुक्ल यजुर्वेद ने किया है। कहना होगा कि उन दिनों, कुरु और पाञ्चालों की दो जातियाँ सविशेष महत्व रखती थीं। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद-काल की प्रमुख जातियाँ— कुरु, तुर्वश, यदु, त्रित्सु आदि ब्राह्मण-युग में लुप्तप्राय हो चली थीं। यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थकारों ने भरतों के प्रति बहुमान प्रकट किया है और उन्हें सत् चरित्र का आदर्श माना है तथापि यह स्पष्ट है कि भरत जाति उन दिनों राजनैतिक दल का कहीं प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों में राजसत्ता को लिए हुए जिस तरह अन्य जातियों का वर्णन मिलता है वैसा भरतों का नहीं पाया जाता। इतना ही नहीं, परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण और मनुस्मृति में जातिगणना के अन्तर्गत भरतों का संकीर्तन नहीं है। बौद्ध साहित्य में तो भरत जाति सर्वथा उपेक्षित है।

ऐसी स्थिति से यह मान लेना सहज है कि वैदिक युग की अनेक जातियाँ जब समतल भूमि पर आकर बसीं तो वहाँ की बदली हुई दशा में वे संगठित हो आपस में घुल मिल गयीं और उन्होंने नया नाम रख लिया। उदाहरणार्थ— भरत जाति के अन्तर्गत कौरवों का राजवंश था अतः कौरवों की युद्ध-गाथा का नाम महाभारत पड़ा। निश्चय ही कुरु जाति में वे घुल-मिल गये थे। महाभारत में उल्लिखित वंशावली के अनुसार पुरु जाति का कुरु जाति से अतिनिकट सम्बन्ध बताया गया है। सम्भवतः पुरुवंश भी कुरु जाति में मिल गया हो। यह भी असम्भव प्रतीत नहीं होता कि ऋग्वेद के बाद जिनका नाम लुप्त हो गया ऐसे त्रित्सु भी कुरु जाति में सम्मिलित हो गये हों।

यह तो पता ही है कि पञ्चाल-जाति पुरातन क्रिवि जाति का ही प्रतीक है। हो सकता है कि पाञ्चालों ने ही अपने वर्ग में अनेक छोटी-मोटी जातियों को आत्मसात् कर लिया हो। ब्राह्मणों में यह उल्लेख मिलता है कि तुर्वश पाञ्चालों में मिल गये थे। महाभारत में यदु नाम अवश्य विशेष पृथक् है जो पैतृक संज्ञा यादव में पाया जाता है। कृष्ण भी इसी वंश के थे। पाञ्चाल शब्द पञ्च का बोधक है। सम्भवतः यह वर्ग कम से कम पाँच जातियों से अवश्य बना होगा।

ऋग्वेद में उल्लिखित कुछ जातियाँ ऐसी अवश्य हैं जिनका व्यक्तित्व

महाभारत युग तक ज्यों का त्यों बना रहा। ये जातियाँ उशीनर, सृञ्जय, मत्स्य और चेदि लोगों की थीं।

यह एक रोचक बात है कि ऋग्वेद में एक धनी या सम्पन्न प्रतापी राजा इक्ष्वाकु का उल्लेख है। महाभारत में भी इसका वर्णन है जहाँ इक्ष्वाकु को गंगा के पूर्वस्थित अयोध्या का प्रतापी राजा तथा सूर्यवंश का मूल पुरुष बताया गया।

आर्यों की नैतिक स्थिति — पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक युग के आर्य अनेक जातियों में विभक्त थे, जिनमें भाषा, धर्म एवं जातीयता में ऐक्य अवश्य था परन्तु उनमें किसी तरह राजनैतिक एकत्व न था। यह अवश्य है कि समय-समय पर वे आपस में सन्धियाँ कर लेते थे परन्तु कई बार वे परस्पर युद्ध करते भी पाये जाते हैं। वास्तव में हर जाति एक-एक राजनैतिक इकाई के रूप में थी, बहुत कुछ उसी तरह जैसे आजकल अफ़गानों में है अथवा टेसिट्स के शासन काल में जर्मनों में पाया जाता था। वैदिक युग में ये विभिन्न जातियाँ 'जन' कहलाती थीं और इनके अवान्तर विभाग का नाम 'विश्' था। विश् के अन्तर्गत भी ग्रामसमूह हुआ करता था। युद्ध के समय दलों की व्यवस्था इन्हीं विभागों पर आधारित रहती थी। गाँवों में प्रायः घर लकड़ी के बने होते थे। यह स्थिति मेगस्थनीज़ के समय में भी पाई जाती थी। प्रत्येक घर के मध्य में अग्निशाला हुआ करती थी। शत्रुओं से तथा नदी की बाढ़ से बचने के लिए कुछ ऊँचाई तक चारों ओर बड़ी दीवार खड़ी की जाती थी जिसे पुर कहते थे।

यह कहीं भी प्रकट नहीं कि वे इन पुरों में रहा करते थे, और वैदिक भाषा में पुर का अर्थ ग्राम या नगर नहीं होता था जैसा आगे चलकर संस्कृत भाषा में समझा जाने लगा। वैदिककालीन समाज का आधार गोत्र एवं वर्ग व्यवस्था रही। अत एव जातिविशेष का प्रशासन स्वभावतः राजत्व से संगठित था। प्रायः राजा वंशपरम्परा से ही हुआ करता था, उदाहरणार्थ— एक ही परिवार के वंशज त्रित्सुओं और पुरुओं के प्रशासक बताए गये हैं। कभी-कभी राजा का चुनाव भी अपनी-अपनी जाति के विश् द्वारा हुआ करता था; तथापि यह स्पष्ट नहीं है कि चुनाव का दायरा राजवंश तक ही सीमित था अथवा अन्य अभिजन भी चुने जा सकते थे। शान्ति के समय राजा का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा की सुरक्षा था; उसके बदले जन उसकी आज्ञा का पालन करते थे और उसके निर्वाह के लिए स्वेच्छा से उपहार

अर्पण किया करते थे। उस समय कोई निश्चित कर देने की प्रथा नहीं पाई जाती। राजा की सत्ता किसी भी तरह स्वेच्छा पर निर्भर नहीं रहती थी, परन्तु अपनी जाति की समिति द्वारा प्रकट किए हुए जनमत पर ही राजा काम कर सकता था। युद्ध-काल में अवश्य राजा सर्व-सत्ताधिकार रखता था। युद्धारम्भ से पूर्व की रात उसे अवश्य ही अपनी जाति की ओर से बलि देना होता था जिसे चाहे वह स्वयं करे अथवा पुरोहितों द्वार कराये।

हर जाति में अवश्य ही एक गायकों का कुल हुआ करता था जो राजसेवा में आसक्त होता था। वह राजा की वीर-गाथाओं का वर्णन करता अथवा यज्ञानुष्ठान के समय देवताओं के स्तोत्रों की रचना कर गान करता था। ये कविगण अपने आश्रय-दाताओं के औदार्य पर निर्भर रहते थे, अत एव यह स्वाभाविक है कि वे अपने स्तोत्रों की महत्ता पर तथा दानस्तुतियों के गौरव पर बल देना कभी न चूकते थे। राजा के द्वारा अपने स्थान पर धार्मिक विधि को निर्वृत्त करने के लिए जिस पुरोहित या ऋत्विज की नियुक्त की जाती थी वह राजपुरोहित कहलाता था। महाराज सुदास के यहाँ वसिष्ठ को यह सम्मान प्राप्त था, और ऋग्वेद के एक सूक्त (७-३३) में वह यह कहे बिना न रह सके कि त्रित्सुओं का विजय उनकी ही स्तुतियों के कारण हुआ था। अपने उदार आश्रय-दाताओं के प्रति श्लाघा के वचन अधिकांश अत्युक्तिपूर्ण हुआ करते थे। अंशतः ये अत्युक्तियाँ निःसन्देह इतर राजाओं को प्रोत्साहित करने के लिए हुआ करती थीं। जो भी कुछ हो, स्वर्ण, गौ, अश्व, रथ एवं वस्त्राभरण के उपहार जो राजाओं के द्वारा अपने मुख्य पुरोहित को दिए जाते थे अवश्य ही बहुमूल्य हुआ करते थे। ऐसे उपहार प्रायः महत्त्व के विजय प्राप्त करने पर दिए जाते थे। परवर्ती युग में जब ब्राह्मण का गौरव सविशेष स्थापित हो चुका था पुरोहितों को दान देना राजा का एक धर्म बन गया था। इतना ही नहीं बल्कि प्रत्येक यज्ञ के लिए दक्षिणा भी निर्धारित हो चुकी थी।

राजाओं के द्वारा यज्ञानुष्ठान में अपने स्थान पर पुरोहितों की नियुक्ति से ही भारतवर्ष में पौरोहित्य-परम्परा का उपक्रम हुआ। यह वह आरम्भ था जिससे क्रमशः विश्व इतिहास में एक अनूठी परम्परा चल पड़ी और जिसके फलस्वरूप समाज में पौरोहित्य वर्ग का सर्वोत्कृष्ट स्थान बना और राज्य एकदम धर्माधिकारी वर्ग पर अवलम्बित हो गया। मध्ययुग में पाश्चात्य देशों में भी कैथलिक चर्च का यही आदर्श बना हुआ था; परन्तु यूरप में यह आदर्श

कभी भी कार्यान्वित न हो पाया जिस तरह भारत में हुआ। पौरोहित्य-परम्परा ने आनुवंशिकरूप ग्रहण किया ज्यों ही भारत में जातिवाद के विकास का श्रीगणेश हुआ। और किसी देश में इस प्रकार की अवस्था कहीं न हो पाई। ऋग्वेद के प्राचीन अंश के रचना-काल में, जब सुदास और वसिष्ठ हुए थे, पौरोहित्य-प्रथा आनुवंशिक न थी; और न कभी वीर भटों के और पुरोहितों के वर्ग पंजाब में बसे हुए आर्यों के साथ जाति-विशेष के रूप में परिणत हो पाये थे। इस बात का प्रमाण हमें महाभारत युग में मिलता है कि मध्य देश के वासी अपने ब्राह्मणत्व के गौरव के कारण देश के वायव्य भाग में रहने वाले लोगों को बर्बरप्राय ही समझते थे।

जाति-व्यवस्था तथा व्यवसाय — इस प्रदेश में रहने वाली तत्कालीन जातियों की समाज-व्यवस्था बहुत सीधी-सादी थी। उनके व्यवसायों में परस्पर पृथक्भाव स्वल्प ही था। हर व्यक्ति सैनिक भी था और असैनिक भी, जैसा आजकल भी हम अफ़गानों में पाते हैं। ये जातियाँ ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर आगे बढ़ीं त्यों-त्यों इनका समाज जटिल होता गया और व्यवसाय भी आनुवंशिक हो गये। जब देश के विभिन्न भागों में आर्य जाति फैल गयी तब यह आवश्यकता हुई कि सहसा आक्रमणों का सामना करने के लिए तथा कभी-कभी एक-एक सिर उठाते हुए अधीन आदिवासियों को दबाने के लिए एक सदा-तत्पर सेना का संगठन किया जाय। सेना का मूल भाग छोटे-छोटे दलों के मुखियों के परिवार से प्राप्त हुआ जो एक सेनानायक के अधीन जुटकर खड़े हो गये। इस तरह कृषक वर्ग एवं औद्योगिक वर्ग निर्विघ्नता से अपने-अपने व्यवसाय को करने में समर्थ हुए। उन्हीं दिनों धार्मिक अनुष्ठान का स्वरूप क्रमशः जटिल होता गया और तज्जन्य सिद्धि शुद्ध प्रयोग पर निर्भर होने लगी। साथ ही साथ प्राचीन सूक्तों की सुरक्षा अत्यधिक आवश्यक प्रतीत होने लगी। अत एव पुरोहित वर्ग को अपना सारा समय एवं सम्पूर्ण शक्ति अपने धार्मिक कार्यों के निर्वाह तथा उस पवित्र परम्परा को अपने वंशजों को सिखाने में लगानी पड़ी।

इन कारणों से आर्य जातियों में ये तीन प्रमुख विभाग अधिकाधिक पृथक् हो गये। किन्तु वे जाति विभाग में किस तरह परिणत हो गये? सामाजिकस्तर किस कारण विभक्त हुए? आनुवंशिकता तथा परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध एवं सहभोज के प्रतिरोध रूप वर्गीय खाइयाँ उनमें क्योंकर पड़ीं? ऐसा लगता है यह कठोर पारस्परिक दुर्भाव पराजित आदिवासियों के प्रति

पृथक् व्यवहार के कारण उत्पन्न हुआ; क्योंकि आर्य धर्म को स्वीकार कर लेने पर भी इन आदिवासियों को आर्यों के समाज में केवल दास-वृत्ति ही उपलब्ध हुई थी। इन दो जातियों में खाई उससे कहीं अधिक न होगी जितनी आज संयुक्त राष्ट्र की जनता में विभेद गोरे और काले हब्शियों के बीच दीख रहा है। जहाँ संयुक्त राष्ट्र में हब्शियों को काले कहकर पुकारा जाता है ठीक उसी तरह वर्णभेद ही भारत में जाति-भेद का मूल हुआ। जाति-भेद वंशोत्पत्ति पर आधारित हो जाने के बाद पुरोहित वर्ग को उच्च एवं पुनीत सामाजिक स्थिति प्राप्त करने में सफलता मिली। इसी कारण उनका सम्मान अनतिक्रम्य हो गया; वे शेष आर्यों से ठीक उसी तरह ऊँचे समझे जाने लगे जिस तरह इतर आर्य दासों से कहीं उच्च समझे जाते थे। यों जब उनकी उत्कृष्टता स्थापित हो गयी तब उन्होंने समाज की शेष जातियों को व्यवस्था में बाँधना शुरू किया और परस्पर पृथक्भाव की प्रथा प्रचलित की। तीन आर्य जातियों में शूद्रों को सम्मिलित करने पर चातुर्वर्ण्य स्थापित हुआ जिसका मूलाधार यजुर्वेद में पाया जाता है। उसी युग में अथर्ववेद का अधिकांश (अध्याय ८-१३) तथा कुछ भाग ऋग्वेद का भी रचा गया जिसमें चतुर्वर्ण का नामतः स्पष्ट उल्लेख मिलता है। तथापि प्रथम वर्ण के व्यक्ति के लिए ब्राह्मण इस पद का प्रयोग ऋग्वेद में विरल है। केवल आठ ही बार ब्राह्मण शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया गया है तथा ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग कोई ४६ बार हुआ है जिसका अर्थ ऋषि तथा प्रधान ऋत्विज होता है।

सामाजिक स्थिति — अब हम ऋग्वेद के युग में प्रचलित सामाजिक स्थिति की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। उस समय का समाज एक कुटुम्ब होता था जिसमें पत्नी के भाई, पति के भाई और बहन आदि सम्बन्धियों के लिए विशेष नाम पाये जाते हैं। पिता घर का मालिक तथा कुटुम्ब का नेता या मुखिया समझा जाता था। उसे गृहपति की संज्ञा दी गयी थी। कन्या से विवाह करने के लिए उसकी अनुमति वर को प्राप्त करनी पड़ती थी जहाँ वह, उसके सम्बन्धी तथा इष्ट-मित्र बड़े ठाठ के साथ आते थे। उस महोत्सव के पर्व पर इन अभ्यागतों का सत्कार किया जाता और गोमांस प्रस्तुत किया जाता था। वर वधू का पाणिग्रहण कर उसके साथ वैवाहिक अग्नि की परिक्रमा करता था। अथर्ववेद में यह और एक विशिष्ट बात दी है कि वर भूतल पर एक पत्थर को रख उस पर पत्नी को खड़े होने के लिए

आदेश देता जो प्रजोत्पत्ति का संकेत है। वैवाहिक विधियों के समाप्त होने पर वधू अभ्यंग स्नान कर उत्सव के योग्य वस्त्राभरण धारण कर अपने पति के साथ रथ में बैठती थी। वह रथ लाल फूलों से सजाया जाता था और उसमें दो सफ़ेद बैलों की जोड़ी लगाई जाती थी। उस रथ में वह यात्रा के रूप में जुलूस के साथ अपने नये घर बिदा होती थी। ३००० वर्ष पूर्व प्रचलित इस विवाह-पद्धति का मुख्य स्वरूप आज भी भारतवर्ष में इसी तरह वर्तमान है।

पुत्र-पौत्रादि की भाँति यद्यपि पत्नी अपने पति के अधीन रहती थी तथापि ब्राह्मण-युग की अपेक्षा ऋग्वेद काल में उसे कहीं अधिक सम्मान प्राप्त था, कारण वह अपने पति के साथ यज्ञानुष्ठान में भाग लेती थी। वह घर की स्वामिनी होती थी और उसका प्रशासन न केवल दासों और सेवकों तक ही सीमित था अपितु वह अपने पति के अविवाहित भाई-बहिनों पर भी अधिकार रखती थी। यजुर्वेद के अवलोकन से हमें ज्ञात होता है कि पुत्र और कन्याओं का विवाह अपने वय के अनुक्रम से ही करना होता था। परन्तु ऋग्वेद में एक से अधिक बार इस बात का उल्लेख मिलता है कि कन्याएँ अविवाहित रह जाती थीं और अपने पितृ-कुल में ही वार्द्धक्य प्राप्त कर लेती थीं। वंशपरम्परा केवल पुत्र-पौत्रादि पर ही अविच्छिन्न रह सकती थी, इसी कारण भूमि तथा गोधन के साथ वहुपुत्रता के लिये सन्तत प्रार्थना की जाती थी तथा नवविवाहित पति अपनी पत्नी से वीरप्रसू होने की आशा करता था। अपुत्रता उतना ही दुर्भाग्य समझा जाता था जितनी दरिद्रता, जिसके होने पर जैसे-तैसे काम चलाने के लिए दत्तक-विधान भी प्रचलित था। कन्या के जन्म के लिए ऋग्वेद में कहीं अभिलाषा प्रकट नहीं की गयी है। अथर्ववेद में कन्या-जन्म की निन्दा की गयी है। यजुर्वेद कन्याओं के वहिष्कार के सम्बन्ध में भी कहता है। वैदिक काल के प्रारम्भिक युगों में पिता निश्चय ही ऐतरेय ब्राह्मण की इस उक्ति की भावना से सहानुभूति रखता था जहाँ यह कहा गया है कि 'कन्या शोक-शंकु है'। कन्याओं के प्रति यह अरुचि आज भी भारत में उतनी ही मात्रा में वर्तमान है।

इस समय नैतिकता का स्तर अपेक्षाकृत कहीं उच्च था। इसका अनुमान इस बात से होता है कि उस समय परस्त्री-सम्पर्क तथा बलात्कार बहुत घृणित एवं गम्भीर अपराध समझे जाते थे और अवैध संतति को छिपाया जाता

था। एक दो स्थानों पर यह संकेत भी मिलता है कि अतिप्राचीन समुदाय में वृद्धों का बहिष्कार ऋग्वेद में अप्रचलित न था।

अपराधों में सबसे अधिक प्रचार डकैती का था। प्रायः रात के समय मवेशियों को खोल ले जाना अधिकतर चोरी का विषय था। चोरों और डाकुओं का कई जगह उल्लेख है। ऋग्वेद में तो कई जगह पर बाहर और यात्राओं में चोरों से सुरक्षा के लिए प्रार्थनायें की गयी हैं। चोर जब पकड़े जाते थे तो उन्हें रस्सी से खम्भे पर बाँध रखने का दण्ड दिया जाता था। ऋण बहुधा हो जाया करता था। प्रतीत होता है कि उसका मूल अधिकतर द्यूत हुआ करता था। ऋग्वेद में ऋण के क्रमशः अपाकरण का उल्लेख मिलता है।

वेष-भूषा के सम्बन्ध में ऋग्वेद में जो भी कुछ संकेत मिलते हैं उनसे पता चलता है कि एक अधोवस्त्र और उत्तरीय पहनने की प्रथा थी। कपड़े भेड़ के ऊन से बुने जाते थे। वे रंग-बिरंगे होते थे और किन्हीं-किन्हीं की बुनावट में सोने का तन्तु भी काम में लाया जाता था। आभूषणों में कण्ठ की मालाएँ, चूड़ियाँ, नूपुर और अवतंस का उल्लेख मिलता है। केशपाश में तेल मला जाता था और कंघी भी की जाती थी। अथर्ववेद में १०० दाँतों की कंघी का उल्लेख है और वहाँ ऐसे भी प्रयोग बताए हैं जो केश को सुदृढ़ बनाते थे। केश कम हो जाने पर उनके पुनः उगने का साधन भी बताया है। स्त्रियाँ अपने केशपाश को द्विधा विभक्त कर वेणी बाँधा करती थीं, और पुरुष कभी-कभी अपने बालों को गूँथ कर जूड़े की तरह बाँध लिया करते थे। देवताओं में रुद्र एवं पूषन् का स्वरूप जटाजूट से युक्त ही वर्णित है। वसिष्ठ-गोत्र के ब्राह्मण अपने बालों को मस्तक के दाहिनी ओर बाँधा करते थे। महोत्सवों पर पुरुष मालाएँ धारण किया करते थे। दाढ़ी मोछ का रखना आम तौर से था परन्तु कभी-कभी क्षौर का प्रसंग भी उक्त है। अथर्ववेद में उस घटना का वर्णन है जब राजा सोम ने अपनी दाढ़ी बनाई थी और उस समय वायु देवता गरम पानी लाए थे और सविता ने बड़ी दक्षता के साथ क्षुर का प्रयोग किया था।

खाद्य-पेय — प्रधान भोज्य दूध था। वह धारोष्ण पी लिया जाता था। उसके साथ धान्य पकाया जाता अथवा सोम उसके साथ मिला कर पी लिया जाता था। उसके बाद महत्त्व का खाद्य घृत था, वह मनुष्यों को अधिक प्रिय होने के कारण देवताओं को भी समर्पित किया जाता था।

धान्य प्रायः चुनकर खाया जाता था अथवा चक्की में पीसकर। उसकी रोटी बनाई जाती और वह दूध व घी के साथ खाई जाती थी। वैदिक युग के भारतीय के नित्य भोजन में विविध प्रकार के शाक और फलफूल का भी प्रयोग होता था। उत्सव के प्रसंग पर त्यौहार होता और तब पशु का वध किया जाता था। देवताओं की बलि में प्रायः बैल का उपयोग होता था। ऐसा लगता है मांसों में गोमांस ही अधिक खाया जाता था। अश्व का मांस प्रायः उपयोग में नहीं आता था; कारण, अश्वमेध तो बहुत कम हुआ करते थे। मांस लोहे की शलाकाओं पर भूना जाता था अथवा बर्तन में पकाया जाता था। इस काम के लिये धातु-निर्मित अथवा मिट्टी के बर्तन होते थे परन्तु जलपान के लिये लकड़ी के बर्तन ही काम में लाये जाते थे।

ऋग्वेद काल के भारतीय दो प्रकार के मद्यों से निश्चित ही परिचित थे। सोमरस उनकी मुख्य मदिरा थी जिसका प्रयोग धार्मिक अवसर पर ही होता था। ज्यों-ज्यों आर्य पहाड़ों से हटकर मैदान में बसने लगे सच्ची सोमलता दुर्लभ होती गयी। साधारण मदिरा को सुरा कहते थे। अतिप्राचीन काल से इसका प्रयोग प्रचलित था। सोम की भाँति सुरा का निर्माण किसी धान्य से किया जाता था जिस तरह आज भी भारत में मदिरा धान्य से बनाई जाती है। पानगोष्ठी और द्यूतक्रीड़ा सदा सहगामी थे। एक सूक्तकार ने कहा है कि क्रोध, द्यूत और सुरा विविध पापों के मूल हैं। अन्यत्र कहा गया है कि मानव सुरापान से उन्मत्त हो देवों की अवहेलना करते हैं। सुरा का प्रयोग अवश्य ही अत्यधिक प्रचलित होगा; कारण वाजसनेयी संहिता के काल में सुराकार के व्यवसाय का स्पष्ट उल्लेख है।

वैदिक युग के भारतीयों के मुख्य व्यवसायों में अवश्य ही एक व्यवसाय युद्ध था। वे पैदल या रथ पर सवार हो लड़ा करते थे। रथ में केवल दो ही व्यक्ति बैठ सकते थे, योद्धा और सूत। यह स्थिति महाभारत-काल तक ठीक ऐसी ही थी जहाँ कृष्ण अर्जुन का सारथ्य करते हुए वर्णित हैं। अश्व-सेना का वर्णन कहीं नहीं मिलता। सम्भवतः उसका उपयोग बहुत ही परवर्ती काल में प्रारम्भ हुआ होगा। सिकन्दर के आक्रमण के समय तो अश्व-सेना भारत की चतुरंगिणी सेना का एक निश्चित अंग हो गया था। ऐसे कुछ संकेत मिलते हैं जिससे पता चलता है कि ऋग्वेद को अश्वारोहण से परिचय अवश्य

था। अथर्व और यजुर्वेद में तो इसका स्पष्ट उल्लेख है। वैदिक युग के वीरभट धातु-निर्मित कवच एवं शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। उनके मुख्य आयुध धनुर्बाण थे। वे बाणों के फलक पर विष का प्रयोग करना भी जानते थे। भाले और कुल्हाड़े का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर मिलता है।

वैदिक भारतीय के लिए निर्वाह का प्रमुख साधन पशु-पालन था। उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा अत्यधिक पशुवृन्द रखने की होती थी। ऋग्वेद में वर्णित असंख्य प्रार्थनाओं में धन-धान्य, स्वास्थ्य एवं सुरक्षा से भी सर्वोपरि पशु के लिए याचना प्रथम की गई है।

वैदिक युग के आर्य कोई पशुपालक जाति न थी। अफ़ग़ानिस्तान की घाटियों को पार करते समय वे अवश्य ही अपने साथ कृषि-विद्या का सामान्य-ज्ञान लेकर आये थे।

इरानी और भारतीय भाषा में 'कृष्' इस धातु का प्रयोग साधारण है और ऋग्वेद के रचना-काल में कृषि तो व्यवसाय ही बन गया था। वह ऐसा उद्योग था जिसका महत्त्व पशुपालन से किसी तरह न्यून न था। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि हल धातु से बनता था और बैलों के द्वारा चलाया जाता था जिससे खेतों की जुताई होती थी। ज़मीन तैयार हो जाने पर बीज बो दिये जाते थे, कारण पानी की नालियों का बहुधा उल्लेख मिलता है। यव पक जाने पर उसे हँसुए से काटा जाता था। तत्पश्चात् गट्ठर बाँध-बाँध कर उसे खलिहान में ले जाया जाता था और पीटकर सूप से पछोना जाता था।

वैदिक-युग के भारतीय यद्यपि कृषि और गो-रक्षा में लगे रहते थे तथापि अधिकतर आखेट भी उनका एक व्यवसाय था। आखेटक धनुर्बाण लेकर पशु का पीछा करता अथवा जाल बिछाकर उसे पकड़ लेता था। पक्षी पकड़ने के लिए भूतल पर प्रायः जाल बिछा दिया जाता था। सिंह और व्याघ्रों के लिए जाल का प्रयोग किया जाता था। गड्ढे खोदकर हरिण पकड़े जाते थे और कुत्तों की सहायता से सूअर का शिकार किया जाता था।

ऋग्वेद के समय जलयान नदियों तक ही सीमित था। नौकाएँ (ग्रीक नौ-स्) भी डांडे से खेते थे। ये डांड़े बहुत मामूली ढंग के होते थे जो उखाड़े हुए वृक्षों के तने से बनते थे। पतवार या लंगर, मस्तूल या पाल का उल्लेख कहीं नहीं है।

उस समय वस्तु-विनिमय के द्वारा व्यापार होता था। मूल्य का माध्यम गौ होती थी जिसके मान से इतर वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जाता था। मुद्रा-प्रयोग के पूर्व स्वर्ण एवं रत्न के आभरणों का प्रयोग प्रचलित था। क्रमशः स्वर्ण का प्रयोग ऋण चुकाने अथवा शुल्क देने के लिए किया जाने लगा। ठीक यही क्रम प्राचीन जर्मन जाति में भी रहा। इसी वजह निष्क, जो ऋग्वेद के समय कण्ठहार का वाचक था, आगे चलकर मुद्रा का नाम बन गया।

वैदिक युग में जीवन की आवश्यकता बहुत ही प्राथमिक एवं स्वल्प हुआ करती थी। अत एव हर व्यक्ति अपनी-अपनी चाह को पूरी करने में स्वयं ही बहुत कुछ समर्थ होता था। तथापि विविध प्रकार के उद्योग एवं व्यापार के प्रारम्भ ऋग्वेद में भली भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। लकड़ी पर काम करनेवाले श्रमिकों का उल्लेख बहुत वार मिलता है। लकड़ी चीरने वाले, उसे जोड़ने वाले, बढ़ई और रथकारों का एक ही जगह उल्लेख है। शकट एवं रथों के निर्माण में विशेष कला की अपेक्षा होती थी, अत एव इसके लिये कुछ व्यक्ति अवश्य अभ्यास करते और शुल्क लेकर रथ और शकट का निर्माण करते थे। सूक्तों की रचना में कुशलता की तुलना बहुधा रथकार के चातुर्य से की गयी है। यत्र-तत्र लोहकार का भी वर्णन है जो भट्ठी में धातु को पिघलाता था और धमनी के स्थान पर अग्नि प्रज्ज्वलित करने के लिये पक्षी के पंख का प्रयोग किया करता था। ऋग्वेद में पशुओं के चाम को निकालने वाले चर्मकारों का भी उल्लेख है। ऐसा लगता है स्त्रियाँ सीना जानती थीं और घास तथा बेत से चटाई भी बुन लेती थीं। उपमा और रूपकों में अनेक बार बुनने की कला का उल्लेख है परन्तु उनका विवरण इतना संक्षिप्त है कि बुनने की कला के प्रकार का हमें कोई दिग्दर्शन नहीं मिलता। अथर्ववेद में अवश्य इस सम्बन्ध में कुछ बातें बताई गयी हैं। एक प्रकरण में कहा है किस तरह 'रात और दिन'—ये दो बहिनों के रूप में ताने और बाने को जोड़कर वर्ष-पट को बुनती हैं। शुक्ल यजुर्वेद के समय तक श्रम-विभाजन की परम्परा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। शुक्ल यजुर्वेद में विविध व्यवसायों तथा व्यापारों का उल्लेख है। रज्जुकार, रथकार, हस्तिपक तथा नटों का भी हमें उल्लेख मिलता है।

मनोरञ्जन — युद्ध-वीर एवं कर्मनिष्ठ वैदिक आर्यों में रथ-प्रतियोगिता एक रोचक मनोरञ्जन था। इस क्रीड़ा से अनेक उपमाओं और रूपकों

का निर्माण हुआ है। महाभारत-युग तक रथसंचालन बहुत ही कुशल-कला मानी जाती थी। परन्तु युद्ध तथा दौड़ के लिए रथ हिन्दुस्तान से क्रमशः लुप्त हो गये। सम्भवतः शीघ्र ही परिश्रान्त कर देनेवाले जलवायु का यह प्रभाव हो; अथवा घोड़ों की कमी से भी ऐसा हो सकता है, कारण सिन्ध देश से ही घोड़े प्राप्त होते थे। पुरुषों का समुदाय जब कभी एकत्र होता तो सामूहिक रूप से मनोरञ्जन का मुख्य साधन द्यूत-क्रीड़ा थी। इसकी ओर आकर्षण कितना अधिकतर था और इसका परिणाम कितना दारुण होता था यह वेद में वर्णित 'द्यूतकार-विलाप' से भली भाँति अवगत होता है। कुछ लोग तो इन क्रीड़ागारों के इतने भक्त थे कि यजुर्वेद ने परिहास के रूप में उन्हें 'सभास्थाणु' कहकर द्यूत-भवन के स्तम्भ बताया है। ऋग्वेद के आधार पर यह खेल किस तरह खेला जाता था नहीं बताया जा सकता था। एक सन्दर्भ से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चार पासों का प्रयोग होता था। यजुर्वेद में एक खेल ऐसा बताया गया है जो पंजे से खेला जाता था। हर पासे के लिये अलग-अलग संज्ञा होती थी। द्यूत-क्रीड़ा में वञ्चना करना ऋग्वेद में महान् अपराध बताया गया है जो अधिकतर प्रचलित था। एक सूक्त में कहा है 'वरुण के प्रशासन के विरुद्ध द्यूत एक महान् अपराध है।' यही कारण है कि खिलाड़ी के लिए ऋग्वेद में प्रयुक्त 'कितव' यह शब्द लौकिक साहित्य में वञ्चक के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। साथ ही साथ शठ-वाचक धूर्त शब्द भी खिलाड़ी का समानार्थक हो चला। मनोरञ्जन का दूसरा साधन नृत्य था जिसमें नर-नारी दोनों ही भाग लेते थे। परन्तु जहाँ कहीं नर्तकों की मण्डली का पृथक् उल्लेख है वहाँ नारी-जाति में प्रायः कुमारिकाओं का ही वर्णन है। उदाहरणार्थ, उषा देवी की प्रतिमा सुन्दर वेशभूषा से विभूषित नर्तकी जैसी बताई है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ७६वें सूक्त की छठी पंक्ति से ज्ञात होता है कि नृत्य खुले प्रांगण में हुआ करता था। कहा है नृत्य करनेवाले पुरुषों की पदाहति से मण्डप धूलि-धूसरित हो गया था।

ऋग्वेद में ऐसे बहुत सन्दर्भ हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उस प्रारम्भिक युग में भी भारतीय विविध प्रकार के संगीत से परिचित थे। हमें तीन प्रकार के गायन का परिचय मिलता है। १—मौखिक (२) पवन-वाद्य और (३) तन्तु-वाद्य, जिसके प्रतीक दुन्दुभि, वेणु (वाण) और वीणा हैं। तब से आज तक वीणा तो भारतीयों का बहुत ही प्रिय वाद्य रहा है। वैदिक काल के

भारतीयों को तन्तु-वाद्य बहुत ही प्रिय थे। इसका अनुमान यों होता है कि यमलोक में जहाँ पितर रहते हैं वहाँ भी वीणावादन का उल्लेख एक ऋषि ने किया है। एक सूक्त में यह भी बताया है कि कुछ धार्मिक विधियों के अनुष्ठान में भी तन्तु-वाद्य का होना आवश्यक था तथा पितृ-यज्ञ के अवसर पर वीणा-वादन विहित है। यजुर्वेद के समय तो अनेक प्रकार के व्यवसायी-गायक हो गये थे। वीणावादन, दुन्दुभकार, वेणुकार और शंख भूकने वालों की व्यवसायों में गणना की गयी है। गायन का भी उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर मिलता है। "उन दिनों भी गायन कला प्रारम्भिक अवस्था से कहीं आगे थी" — यह बात सामगान के लिए विहित जटिल गायन-पद्धति से प्रतीत होती है। सामगान की पद्धति सम्भवतः अतिप्राचीन होगी ; कारण, सोमविधान भारतीय-ईरानी युग से प्रचलित है।

अध्याय ७

परवर्त्ती वेद

सामवेद

शेष तीन वेदों में सामवेद कहीं अधिक मात्रा में ऋग्वेद से सम्बद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से सामवेद का इतना महत्त्व नहीं; कारण, इसमें किसी स्वतन्त्र विषय का प्रतिपादन नहीं है। केवल ७५ मन्त्रों को छोड़ कर सब ही ऋग्वेद से ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं। सामवेद मुख्यतः ऋग्वेद के अष्टम और नवम मण्डलसे उपात्त है। अधिकांश सोमपरक नवम मण्डल से ही उद्धृत है। सामवेद इस अंश में यजुर्वेद से मिलता-जुलता है कि दोनों वेदों की रचना कर्मकाण्ड के प्रयोजन से ही की गई है। सामवेद संहिता में केवल उन्हीं मन्त्रों का सङ्कलन है जिनका गान सोमयाग में विहित है। ऋग्वेद के सन्दर्भ से पृथक् करने पर वे मन्त्र असम्बद्ध रूप में ग्रथित प्रतीत होते हैं, उनका महत्त्व केवल प्रयोग-विशेष से सम्बद्ध होने मात्र में है। सामवेद में इन मन्त्रों का रूप ऐसा प्रतीत होता है मानो वे वाचन या गायन के लिये ही विहित हों। ऋग्वेद में दिये हुए मन्त्रों से उनका रूप-भेद इतने ही अंश में है कि वे ऋग्वेद में उदात्तादि स्वर से अङ्कित पाये जाते हैं। अत एव यह कहना असङ्गत न होगा कि सामवेद उन मन्त्रों का समूह है जिनका गान उद्गाता आदि ऋत्विज सोमयाग के समय करते हैं। इन मन्त्रों का गेयरूप गानसंहिताओं में स्पष्टतया बताया गया है। गान के समय किस वर्ण को दीर्घ करना, किस की आवृत्ति करना अथवा किस वर्ण को मध्य में रखना आदि सङ्केत गानसंहिता में ठीक उसी तरह दिये गये हैं जिस तरह अंग्रेजी ग्रन्थों में गेयसंकेतों के साथ पदपाठ मुद्रित होता है। आजकल चार गानसंहिताएँ उपलब्ध हैं — सामवेद के दो भागों से सम्बद्ध दो-दो संहितायें हैं। भिन्न-भिन्न रागों में एक ही मन्त्र गाया जाता है अत एव सामसङ्ख्या कहीं अधिक बढ़ी हुई प्रतीत होती है।

सामवेद में कुल १५४९ साम हैं जो दो भागों में सङ्कलित हैं। ये भाग आर्चिक कहलाते हैं। रचना का आधार इन दोनों भागों में परस्पर भिन्न है। प्रथम भाग ६ प्रपाठकों में विभक्त है, प्रत्येक प्रपाठक में दस-दस दशक हैं, केवल छठे प्रपाठक में नौ ही दशक हैं। प्रथम बारह दशकों में अग्निदेव को सम्बोधित मन्त्र हैं और अन्तिम ग्यारह दशकों में सोम को सम्बोधित हैं। मध्यवर्त्ती ३६ दशक सोमपीथी इन्द्र को ही प्रधानतः सम्बोधित हैं। द्वितीय भाग में नौ प्रपाठक हैं जो प्रायः दो-दो या कहीं-कहीं तीन-तीन पर्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक पर्याय में मन्त्रों के छोटे-छोटे वर्ग हैं — प्रायः तीन-तीन मन्त्रों का समुदाय है जो परस्पर सम्बद्ध है। प्रत्येक वर्ग का आदिम मन्त्र प्रायशः संहिता के प्रथम भाग में भी उपलब्ध होता है। सामवेद संहिता का द्वितीय भाग गौण एवं परवर्त्ती रचना है; कारण, इसमें प्रथम भाग में संगृहीत मन्त्रों की पुनरावृत्ति है तथा मन्त्रों का पाठ बहुत कुछ ऋग्वेद के पाठ से मिलता है। यह भी उल्लेखनीय है कि द्वितीय भाग में दिये प्रथम भाग के मन्त्रों का पाठ इतर मन्त्रों की अपेक्षा अधिक ऋग्वेद के पाठ के अनुरूप पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रथम भाग के उन मन्त्रों का पाठ जानबूझ कर द्वितीय भाग में स्वीकृत पाठ के अनुरूप किया गया; कारण, द्वितीय भाग साक्षात् ऋग्वेद से उपात्त प्रतीत होता है, तथा प्रथम भाग किसी स्वतन्त्र परम्परा के आधार पर आरचित है।

शतपथ ब्राह्मण से यह पता चलता है कि सामवेद का प्रथम भाग उस समय अस्तित्व में था जिस समय शतपथ ब्राह्मण का उत्तरार्ध रचा जा रहा था। साथ ही साथ यह भी माना जा सकता है कि सामवेदसंहिता यजुर्वेद की तैत्तिरीय तथा वाजसनेयि संहिता से प्राचीनतर है। वाजसनेयि संहिता में कुछ अंश ऐसे हैं जिनका पाठ ऋग्वेद के पाठ की अपेक्षा सामवेद के पाठ से मिलता है। यह विशेषतः ध्यान देने योग्य बात है, क्योंकि इतरत्र वाजसनेयि पाठ अधिकतर ऋग्वेद के पाठ की ओर अधिक झुकता है।

इसके विपक्ष में आचार्य वेबर का मत है कि सामवेद में कई ऐसे पाठभेद हैं जिनमें ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं, और वे ऋग्वेद के वर्त्तमान पाठ से पूर्वतन हैं। परन्तु वेबर महाशय का यह मत निराधार बताया जा चुका है। वस्तुतः सामवेद में पाठान्तर अंशतः गौण परम्परा के कारण और अंशतः प्रयोगविधि के अनुसार रूपान्तरित करने के प्रयास के कारण हो गये हैं।

सामवेद की दोनों ही शाखाएँ — कौथुमी एवं राणायणीय — आज भी प्रचलित हैं। कौथुमी शाखा के अनुयायी गुर्जर प्रान्त में पाये जाते हैं। राणायणीय शाखाध्यायी किसी समय अधिकतर महाराष्ट्र में जा बसे थे और आज भी पूर्वी हैदराबाद में मिलते हैं। इन दोनों शाखाओं में पाठभेद बहुत ही कम है। राणायणीय संहिता कई बार मुद्रित भी हो चुकी है। इसका सर्वप्रथम संस्करण ई० सन् १८४२ में स्टीवन्सन नामक पादरी द्वारा प्रकाशित किया गया था, परन्तु शीघ्र ही बेनफ़ी के संस्करण ने उसे अपास्त सिद्ध कर दिया। बेनफ़ी के उक्त संस्करण में जर्मन अनुवाद तथा शब्दार्थकोश भी दिया है। यह संस्करण ई० सन् १८४८ में प्रकाशित हुआ था। वास्तव में सामवेद ही पहिला वेद है जिसकी पूर्ण संहिता का यथोचित संस्करण सबसे पूर्व प्रकाशित हुआ था। राणायणीय पाठ का आदर करते हुए सामवेद संहिता सायणभाष्य सहित कई दिनों बाद भारत में भी प्रकाशित हुई। कौथुमी शाखा का केवल सातवाँ प्रपाठक ही उपलब्ध है, जो नैगय उपशाखा के अनुसार प्रथम भाग आर्चिक का एक परिशिष्ट है। यह अंश ई० सन् १८६८ में छपा था। सामवेद संहिता के रचयिता तथा तत्प्रतिपादित देवताओं की, नैगेय उपशाखा का अनुसरण करती हुई, दो अनुक्रमणिकाएँ भी प्राप्त हुई हैं जिनके द्वारा कौथुमी शाखा का सामवेद संहिता के सम्बन्ध में कुछ पारम्परिक परिचय प्राप्त होता है।

यजुर्वेद

यजुर्वेद न केवल ऋग्वेद से भिन्न भौगोलिक क्षेत्र से ही हमें परिचित कराता है, अपितु भारतीय धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के एक बिलकुल नये युग की सूचना देता है। अब वैदिक सभ्यता का केन्द्र देश के सुदूरपूर्व भाग में अवस्थित पाया जाता है। अब हमें सिन्धु नदी तथा उसकी सहगामिनी सरिताओं का वर्णन नहीं मिलता; कारण, यजुर्वेद की समस्त शाखाओं के पाठ में उत्तर भारत के मध्यभाग से सम्बद्ध भौगोलिक प्रदेशों का वर्णन मिलता है जहाँ कुरुपाञ्चाल की जनता निवास करती थी। यजुर्वेद संहिता तथा तत्सम्बन्धी ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिस भूमि को परम पवित्र बताया है वह है कुरुक्षेत्र, जो सतलज और यमुना के मध्य स्थित है। इस प्रदेश की सीमा पर दो छोटी नदियाँ दृषद्वती एवं सरस्वती स्थित हैं। यह प्रदेश यमुना की वायव्य सीमा तक प्रसृत है जो आजकल सिरहन्द के नाम से प्रसिद्ध है।

इस भूभाग के पूर्व में स्थित प्रदेश पाञ्चाल था। यह वर्त्तमान मेरठ जिले के वायव्य भाग से इलाहाबाद तक फैला हुआ वह हिस्सा है जो यमुना एवं गङ्गा के प्रवाह से परिपूत 'दोआब' कहलाता है। कुरुक्षेत्र वह प्रदेश था जहाँ ब्राह्मणधर्म तथा तदनुसारिणी सामाजिकी व्यवस्था विकसित हुई और जहाँ से बढ़कर वह सारे भारतवर्ष में फैल गई। कुरुक्षेत्र का महत्व महाभारत में वर्णित कौरव-पाण्डवों की रणभूमि के कारण और भी अधिक हो गया है। यह युद्ध पाञ्चाल एवं मत्स्यप्रदेश के निवासी तथा कुरु और पुराने भरतों के बीच लड़ा गया था। मनुप्रणीत सुप्रसिद्ध धर्मस्मृति में कुरुक्षेत्र के प्रति बड़ा आदरभाव प्रकट किया है। इसे ब्राह्मण-धर्म का केन्द्र बताते हुए ब्रह्मावर्त्त की संज्ञा दी है। पाञ्चाल तथा यमुना के दक्षिण तट पर स्थित मत्स्य (जिसकी राजधानी तब मथुरा थी) और शूरसेन को ब्राह्मण ऋषियों की भूमि कहा है, जहाँ वीराग्रणी भट तथा धर्मनिष्ठ ब्राह्मण रहा करते थे और जिनका आचार एवं जिनकी रूढियाँ प्रमाण मानी जाती थीं।

यहीं यजुर्वेद के अनुयायी विभिन्न शाखाओं में विभक्त हुए, और धीरे-धीरे भारत के विभिन्न भागों में जाकर बस गये। कठशाखा के ब्राह्मण अपने अवान्तर कापिष्ठलों को लेकर ग्रीक आक्रमण के समय पञ्जाब में रहते थे, वहाँ से आगे बढ़कर कुछ लोग काश्मीर में भी जा बसे। इन दिनों कठशाखीय यजुर्वेदी केवल काश्मीर में ही मिलते हैं, कापिष्ठलवर्ग तो लुप्त हो गया है। मैत्रायणीय (जो मूलतः कालाप थे) यजुर्वेदी ही किसी समय नर्मदा की तलेटी में लगभग दो सौ मील समुद्र तट से दूर स्थित प्रदेश में रहते थे। इनकी निवासभूमि दक्षिण में नासिक तथा उत्तर में बड़ौदा तक रही। अब इस शाखा के बहुत ही थोड़े से लोग रहे हैं जो गुजरात के अन्तर्गत नर्मदा के उत्तर भाग में स्थित अहमदाबाद से लगाकर सुदूर पश्चिम में मोरवी तक पाये जाते हैं। हमारे ईसवी सन् के प्रारम्भ काल में इन दो शाखाओं के अनुयायी भारतवर्ष में चारों ओर फैले हुए होंगे। महावैय्याकरण पतञ्जलि ने बताया है कि यजुर्वेद की काठक और कालाप शाखाएँ सर्वत्र विदित थीं और उनके धार्मिक सिद्धान्त गाँव-गाँव में प्रचलित थे। रामायण के आधार पर कहा जा सकता है कि अयोध्या में भी इन दो शाखाओं का बहुमान थी। परन्तु कालक्रम की गतिवश परवर्त्ती शाखाओं ने इन्हें अपास्त कर अपनी सत्ता जमा ली। ये परवर्त्ती दो शाखाएँ हुईं — एक, तैत्तिरीय और दूसरी, वाजसनेय। तैत्तिरीयों का प्रदेश नर्मदा का दक्षिण भाग रहा, जहाँ

वे ईसवी चौथी शताब्दी तक रहे। उन्हीं की अवान्तर शाखा आपस्तम्ब है जिसके अनुयायी आज भी गोदावरी के तटवर्त्ती प्रदेश में मिलते हैं; उनकी दूसरी अवान्तर शाखा हिरण्यकेशी के अनुयायी और आगे दक्षिण तक फैले हुए हैं। वाजसनेयी शाखा ने गङ्गा की तलैटी के निम्न प्रदेश में आग्नेयदिशा में स्थान पाया। आजकल अधिकांश क्षेत्र वाजसनेयि शाखाध्यायियों का ही है जो सारे ऐशान्य प्रदेश तथा मध्य प्रदेश में व्याप्त हैं।

उपर्युक्त चारों शाखाओं ने संहिता का अपना-अपना पाठ सुरक्षित रखा है। मैत्रायणीय संहिता में चार काण्ड हैं जो चौपन प्रपाठकों में विभक्त हैं। इसके संस्करण का सम्पादन आचार्य श्रेडर द्वारा ई० सन् १८८१–८६ में किया गया। वही आचार्य इन दिनों काठक संहिता का संस्करण तैय्यार कर रहे हैं। इन दोनों शाखाओं के पाठ में बहुत कुछ भाषागत साम्य है जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। कापिष्ठल-कठसंहिता के कुछ परिभ्रष्ट अंश उपलब्ध हुए हैं; तथापि इसकी कोई आशा नहीं कि और हस्तलिखित सामग्री कभी कहीं उपलब्ध होगी जिसके आधार पर पूर्ण संहिता का सम्पादन सम्भव हो।

पूर्वोक्त पाठों से तैत्तिरीय संहिता का पाठ कुछ मूलतः भिन्न है। इसमें सात अध्याय हैं जिनमें ४४ प्रपाठक हैं। तैत्तिरीय संहिता का सम्पादन आचार्य वेबर ने ई० सन् १८७१-७२ में किया था। यजुर्वेद संहिता के ये विभिन्न शाखीय पाठ परस्पर प्रायः सम्बद्ध हैं; कारण, वास्तव में इनका स्वरूप इकसार है। अधिकतर इनमें शब्दसाम्य है, विशेषकर उन मन्त्रों एवं प्रयोगों में, जहाँ उनका विनियोग विहित है। विषयानुक्रम में भी समानता है जिसका आधार प्रयोगों में विनियोग है। तैत्तिरीय संहिता का विषयानुक्रम वाजसनेयि पाठ से अवश्य भिन्न है।

वाजसनेयि संहिता में केवल वे ही मन्त्र एवं प्रयोग सङ्कलित हैं जिनका यज्ञों में विनियोग विहित है, इसी कारण इसे शुक्ल अर्थात् विशुद्ध पाठ कहते हैं। ब्राह्मण-भाग में प्रयोग-विधि का विवरण पृथक् रूप से दिया है। मन्त्र-समुदाय संहिता का विषय है, विनियोग-कल्प ब्राह्मण ग्रन्थ में है। इसी विषय-विभाग के कारण वाजसनेयि संहिता विशुद्ध अर्थात् असङ्कीर्ण अत एव 'शुक्ल' कही जाती है। अन्य संहिताओं में दोनों प्रकार की बातें एकत्र सङ्कलित हैं — इसी सङ्कीर्ण रूप के कारण वह संहिता 'कृष्ण' कही गई है। वाजसनेयि संहिता की भी दो शाखाएँ हैं — १. माध्यन्दिन और २. काण्व। प्रायः विषय तथा अनुक्रम दोनों का ही एकरूप है। यत्र-तत्र

केवल पाठ भेद का ही अन्तर है और वह भी गद्यांश में मिलता है, छन्दोबद्ध मन्त्रों में नहीं। इस प्रकार अधिकांश एकरूपता को धारण करती हुई इन दो संहिताओं के रचना-काल में अधिक अन्तर नहीं माना जा सकता। जो भी कुछ अन्तर है वह भौगोलिक स्थिति में भेद होने के कारण है, क्योंकि दोनों संहितायें अपने-अपने वर्ण-विन्यास में विशेषता रखती हैं। आचार्य वेबर ने शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं की संहिता का सम्पादन ई० सन् १८४९–५२ के मध्य किया था।

शुक्ल यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं। मूलतः यह संहिता केवल १८ अध्यायों की ही थी। यह बात अन्तःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य के आधार पर कही जा सकती है। इतने ही भाग में गद्य पद्य दोनों ही पाये जाते हैं। दोनों प्रकार की रचना 'मन्त्र' ही कहलाती है। यह अंश तैत्तिरीय संहिता के आश्वमेधिक अध्यायों (२२–२५) में कुछ मन्त्रों के सिवाय पाया जाता है। अन्यथा पिछले २२ अध्यायों का विषय ज्यों का त्यों तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध ब्राह्मण एवं आरण्यकों में मिलता है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि वाजसनेयि संहिता से सम्बद्ध ब्राह्मण के पहिले ९ अध्यायों में संहिता के केवल पहिले १८ अध्याय के मन्त्रों का ही प्रतिपद व्याख्यान किया गया है और बाद के १७ अध्यायों में से तो कुछ ही मन्त्रों का विवरण दिया है। कात्यायन द्वारा प्रणीत शुक्ल यजुर्वेद की प्राचीन अनुक्रमणी के आधार पर यह सिद्ध है कि २६–३५ तक के दस अध्याय तो परिशिष्ट मात्र हैं जिन्हें 'खिल' संज्ञा दी गई है।

वाजसनेयि संहिता के अन्तर्गत उपलभ्यमान साक्ष्य के आधार पर उक्त निर्णय ही प्रमाणित होता है। २६–२९ अध्यायों में वे मन्त्र सङ्कलित हैं जिनका विनियोग पूर्वतन अध्यायों में प्रतिपादित है— इससे स्पष्ट होता है कि ये अध्याय गुणविधायक अर्थात् गौण हैं। इसके बाद के दस अध्यायों (३०–३९) में बिलकुल नये यागों एवं प्रयोगों का उल्लेख है — जैसे नरमेध, सर्वयज्ञ, पितृयज्ञ आदि। अन्तिम (४० वाँ) अध्याय तो निश्चय ही परवर्त्ती रचना है; कारण, उसका प्रयोग-विधान से कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो उपनिषद् भी है। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि शुक्ल यजुर्वेद संहिता के विभिन्न अंश भारत की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति के विभिन्न युगों को प्रतिबिम्बित करते हैं। उदाहरणार्थ — १६ वें अध्याय में रुद्रदेवता के कई पर्याय ऐसे दिये हैं जो वास्तव में शिव की

विशेषताओं के द्योतक हैं। विशेषतः दो विशेषण 'ईशान' (प्रभु, प्रशास्ता) और 'महादेव' यहाँ नहीं पाये जाते, मगर ३९ वें अध्याय में उल्लिखित हैं। ये शब्द उस देव की विशेष आराधना के द्योतक हैं जो वास्तव में परवर्त्ती युग में विकसित हुई। उसी तरह ३० वें अध्याय में अनेक प्रत्यन्तर (सङ्कर) जातियों का श्रवण है और १६ वें अध्याय में उसकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। अत एव यह कहा जा सकता है कि ३० वें अध्याय की रचना के समय जो अवान्तर जातियाँ प्रसिद्ध हो गई थीं उनका बोध १६ वें अध्याय की रचना के समय ऋषियों को न था।

उपर्युक्त आधार पर शुक्ल यजुर्वेद में कालक्रमानुसार चार स्तर पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं। इसका मूल भाग अध्याय १–१८ तक है जिसमें आगे चलकर और अगले सात अध्याय जोड़े गये हैं, कारण इन दोनों अंशों का विषय सामान्य रूप से यज्ञिय विधियों से सम्बद्ध है। प्रयोग विधि के कुछ और जटिल हो जाने पर अगले चौदह अध्याय सम्मिलित किये गये जो पूर्वोक्त अनुष्ठानों (अ० २६–२९) अथवा बिलकुल नवीन क्रिया-कलाप (अ० ३०–३९) से सम्बद्ध हैं। अन्तिम अध्याय तो निश्चय ही उस समय जोड़ा गया है जब यागादि विधियों के अतिरेक के फलस्वरूप जनता के मन में प्रतिक्रिया होनी शुरू हो गई थी। इसमें यज्ञिय मन्त्रों का समावेश नहीं है, इसका लक्ष्य एकान्त भक्ति तथा यज्ञानुष्ठान के विरोध के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का है।

शुक्ल यजुर्वेद का मूल भाग भी निश्चय ही कृष्ण यजुर्वेद के सबसे अर्वाचीन पाठ की अपेक्षा परवर्त्ती ही है। कारण शुक्ल संहिता में क्रमबद्ध मन्त्रों की रचना तथा प्रयोगों की विधि का विवरण जिस तरह पृथग्रूप से ब्राह्मण भाग में दिया है वह व्यवस्थित क्रम तैत्तिरीय संहिता के अव्यवस्थित रचना क्रम के सदृश प्राचीन नहीं हो सकता।

यजुर्वेद के दो मौलिक अंश में दर्शपूर्णमास एवं सोमयाग का विवरण है और साथ ही साथ अग्निचयन का विधान भी वर्णित है। यजुर्वेद के पहिले दस अध्यायों में दर्शपूर्णमास का वर्णन है, और ११ से १८ अध्यायों में सोमयाग का। इन इष्टियों से सम्बद्ध प्रयोगकल्प का व्याख्यान क्रमशः शतपथ ब्राह्मण के अध्याय १ से ५ और अध्याय ६ से ९ में किया है। इस मुख्य भाग में कृष्णयजुर्वेदसंहिता में मन्त्र एवं प्रयोगविधान सम्मिश्र नहीं है। तैत्तिरीयसंहिता के प्रथम अध्याय के पहिले चार प्रपाठकों में पाक्षिक इष्टियों

तथा सोमयाग के समय बोले जाने वाले मन्त्रसमुदाय के सिवा और कुछ नहीं है। चौथे अध्याय में अग्निचयन के अतिरिक्त कोई विषयान्तर का प्रतिपादन नहीं है। इन अध्यायों का पाठ वाजसनेयि संहिता के पाठ के साथ समानान्तर है। किन्तु अन्यत्र, तैत्तिरीयसंहिता में ही दोनों ब्राह्मण-ग्रन्थ में दिये जानेवाले विषय हैं जिसमें मन्त्रों का उपादान विलकुल नहीं है। तैत्तिरीयसंहिता का पञ्चम अध्याय अग्नि-चयनविधि तथा छठा अध्याय सोमविधि का ही वर्णन करते हैं। इनमें दर्शपूर्णमास का विवेचन नहीं है जो तृतीय अध्याय का स्वतन्त्र प्रतिपाद्य है।

मैत्रायणी संहिता में भी विषय-निरूपण ठीक इसी तरह है। प्रथम अध्याय के पहिले तीन प्रपाठकों में केवल दर्शपौर्णमास एवं सोमयाग के मन्त्र सङ्कलित हैं। द्वितीय अध्याय का उत्तरार्ध (प्र० ७–१३) अग्निचयन के मन्त्रों का संग्रह है। इस शाखा के ब्राह्मणग्रन्थों में तृतीय अध्याय के छठे एवं पहिले प्रपाठक में दिये हुए विषयों का प्रतिपादन क्रमशः उपलब्ध है। कृष्णयजुर्वेद के मुख्य भाग में आगे चलकर मिलाये हुए अंश में मन्त्रभाग एवं ब्राह्मण-भाग के पार्थक्य का निर्वाह नहीं किया गया है। अतः कृष्ण एवं शुक्ल संहिताओं के बीच मुख्य अन्तर इसी बात का है कि कृष्ण संहिता में मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग का मेल है जो शुक्ल संहिता में पाया नहीं जाता। जहाँ तक मुख्य मौलिक अंश का सम्बन्ध है, दो भिन्न विषय, जो पृथक् एवं असम्मिलित रखे गये हैं, किसी तरह तत्त्वतः अथवा रचनाक्रम की दृष्टि से वाजसनेयि संहिता और शतपथ ब्राह्मण में जो परस्पर सम्बन्ध है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक निकट हो यह बात नहीं है।

यजुर्वेद और सामवेद में इस अंश में साम्य है कि दोनों की रचना यज्ञानुष्ठान की प्रयोग विधि के अनुरूप है। अन्तर यह है कि सामवेद में केवल सोमयाग का ही विवरण है, परन्तु यजुर्वेद में सम्पूर्ण यज्ञ-विधि के प्रयोग बताये हैं। सामवेद की भाँति यजुर्वेद भी ऋग्वेद से सम्बद्ध है, अन्तर इतना ही है कि सामवेद तो सारा ऋग्वेद से उद्धृत है परन्तु यजुर्वेद में, मूल आधार चाहे ऋग्वेद का ही हो, अधिकांश मौलिक रचना ही पाई जाती है। वस्तुतः देखा जाय तो वाजसनेयि संहिता के चतुर्थांश से कुछ ही अधिक भाग ऋग्वेद पर आधारित है। उक्त सङ्ग्रह का आधा अंश ऋचाओं से घटित है जिनकी संख्या सात सौ से कुछ अधिक है, शेष भाग सारा गद्यमय है जिसे यजुष् कहते हैं। सारा यजुषांश तथा

वह मन्त्र-भाग जो ऋग्वेद से उद्धृत नहीं है यजुर्वेद का मौलिक अंश है। आंशिक मौलिकता का कारण है अनेक बिलकुल नई इष्टियों और यज्ञों का विधान तथा प्रयोग कल्प में कालक्रम के फलस्वरूप अत्यधिक विकास। नये विधानों के अनुरूप मन्त्रों का ऋग्वेद में अभाव होने से इस नूतन वेद में नई मौलिक रचना आवश्यक हो गई थी।

यजुर्वेद के मन्त्र-भाग की भाषा स्फुटरूप से परवर्त्ती युग की होने पर भी सामान्यतः ऋग्वेद की भाषा से मिलती-जुलती है। यजुर्वेद की भाषा और लौकिक संस्कृत के बीच बहुत दूरी प्रतीत होती है।

यजुर्वेद के कथा-भाग को देखते हुए कहा जा सकता है कि यजुर्वेद में प्रतिपादित धर्म में पुरातन वैदिक धर्म से कोई तात्त्विक अन्तर दृष्टि-गोचर नहीं होता; कारण, उभयत्र देव-समुदाय वही का वही है। हाँ, कतिपय देवताओं के स्वरूप में अवान्तर परिवर्त्तन अवश्य हुआ है। ऋग्वेद के पिछले सूक्तों में प्रजापति का आभासमात्र मिलता है, परन्तु यजुर्वेद में क्रमशः उसका रूप मुख्य देवता के पद पर प्रतिष्ठित होता दिखलाई पड़ता है। ऋग्वेद का रुद्रदेव अब शिव के स्वरूप में आविर्भूत होता है, अनेकधा रुद्र को शिव ही नहीं कहा, बल्कि परवर्त्ती साहित्य में शिव की विशेषता के परिचायक 'शङ्कर' एवं 'महादेव' पदों का प्रयोग भी रुद्र के लिये अधिक मात्रा में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में विष्णु को भी कहीं अधिक महत्त्व दिया है। यज्ञनारायण का नया स्वरूप मिलता है, अब विष्णु यज्ञ-स्वरूप माने गये हैं। दानवों की सर्वत्र संज्ञा 'असुर' ही हो गई है जो सात्त्विक देवताओं के साथ सर्वदा दुष्ट शक्ति के प्रतीक के रूप में विग्रह ही करते रहते हैं। यजुर्वेद की कथाओं में देवासुरसङ्ग्राम बहुत्र वर्णित है। अप्सरा नाम की जलजात देवियाँ अपने ललनोचित मोहक सौन्दर्य के लिये वेदोत्तरकालीन पौराणिक साहित्य में सुविख्यात हैं, इनका ऋग्वेद में बहुत ही कम उल्लेख है, परन्तु वे भी यजुर्वेद में अधिक गौरव पा गई हैं — यहाँ तक कि कई अप्सराओं का तो नामतः उल्लेख भी किया गया है।

इसके अतिरिक्त कई नूतन धार्मिक मान्यताएँ भी विकसित हुईं, कई पुरानी मान्यताएँ परिवर्तित हुईं तथा नये प्रयोग-कल्पों का निवेश किया गया। यथा — ऋग्वेद में 'ब्रह्म' शब्द का तात्पर्य केवल 'भक्ति' होता था, और आगे चल कर इसका अर्थ-विस्तार हो यह पद 'पवित्रता एवं वन्दना

का मूलतत्त्व' इस तात्पर्य का बोधक बन गया। यों इस शब्द के अर्थ की प्रगति उपनिषत् में प्रयुक्त अर्थ की ओर विकसित होने लगी थी। इसी तरह, नागपूजा अब भारतीय धर्म का एक अङ्ग हो चला जिसका ऋग्वेद में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। वास्तव में पूजाविधान ही एक ऐसा अङ्ग है जो यजुर्वेद पर नवयुग की मुद्रा अङ्कित करता है। देवताओं की पूजा के प्राधान्य और यज्ञानुष्ठान के प्राधान्य में प्रातिलोम्य हो गया—जो ऋग्वेद काल में गौण था वह उत्तर काल में प्रधान हो चला तथा जो पूर्वकाल में प्रधान था परवर्त्ती युग में अप्रधान हो गया। ऋग्वेद में अर्चा के विषय देवता होते थे जिनके हाथ में मानव जाति पर अनुग्रह करने का सामर्थ्य था, और यज्ञयागादि देवताओं का प्रसाद प्राप्त करने के साधन मात्र थे, परन्तु यजुर्वेद में यज्ञ ही विचार एवं अनुष्ठान का केन्द्र हो चला और उसी के विधिवत् अनुष्ठान तथा प्रयोग की सूक्ष्मता सर्वोपरि मान्यता का विषय बन गई। यज्ञ की शक्ति इतनी बढ़ गई कि उसके द्वारा न केवल देवता प्रभावित ही होते थे, परन्तु पुरोहित के सङ्कल्पानुसार देवता अभीप्सित वर-प्रदान के लिये बाध्य भी समझे जाते थे। यज्ञ के द्वारा, यों कहा जा सकता है, देवता तो ब्राह्मणों की मुट्ठी में थे।

यजुर्वेद में विहित धर्म एक प्रकार का नियमों से नियन्त्रित पौरोहित्यकल्प ही कहा जा सकता है। पुरोहित का दल कई बाह्य विधियों के लम्बे एवं जटिल प्रयोगों को करता जिसका महत्त्व रहस्यमय अदृष्ट के रूप में परिकल्पित होता था; और इसी कारण अनुष्ठान विधि की छोटी सी छोटी प्रक्रिया पर भी बहुत बल दिया जाता था। इस प्रकार के निरन्तर यज्ञयागादि अनुष्ठान के गलग्रह करने वाले वातावरण द्वारा ऋग्वेद में प्रतिपादित सच्ची धार्मिक भावना का जीवित रहना सम्भव न रहा। देवताओं की शक्ति की अर्चा, उनके अनुग्रह की महत्ता तथा निज अपराध की चेतना सर्वथा लुप्त हो चली और हर प्रार्थना किसी न किसी अनुष्ठान की सहचारिणी हो, भौतिक अभ्युदय के एकमात्र लक्ष्य से अनुप्राणित हो गई थी। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि यजुर्वेद के प्रयोगों में पदों की भीषण आवृत्ति तथा एक ही अर्थ की प्रकारान्तर से पुनरुक्ति ने अपना घर कर लिया था, यहाँ तक कि दुर्बोध व्यञ्जनों अथवा अर्धवर्णों का प्रणवसहित पुनरुच्चारमात्र ही प्रयोग का स्वरूप बन गया — मैत्रायणी संहिता से उद्धृत निम्नलिखित अंश एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है — 'निधायो वा निधायो वा ॐ वा ॐ वा ॐ वा

ॐ वा ए ऐ ॐ स्वर्णज्योतिः' — इस पदसमूह में अन्तिम पद 'स्वर्णज्योति' ही अर्थ-प्रतिपादक कहा जा सकता है जिसका मतलब 'सुनहला प्रकाश' है।

इस तरह दिनों-दिन प्रयोग-प्रधान यह विधिकल्प उन सबके लिये एक दुरूह रहस्य हो चला था जो ब्राह्मण वर्ग के न थे। समस्त प्रयोगों तथा विशेष कर यज्ञों की सत्ता प्रकृति पर स्थापित हो अलौकिक शक्ति मानी जाती थी। कई प्रयोग विजय-प्राप्ति के लिए निर्दिष्ट हैं जिनके द्वारा, कहा जाता है, इन्द्र सर्वदा असुरों पर विजय प्राप्त किया करते हैं। यह भी हमें पता चलता है कि यदि पुरोहित किसी आहुति-विशेष का होम कर वारुण प्रयोग का अनुष्ठान करे तो मूसलाधार वर्षा होने लगती थी। ऐसी-ऐसी बातों से यह धारणा दृढ हो गई कि मनचाहा काम उठाने की अद्भुत शक्ति उनमें होती थी। इसी प्रकार की अलौकिक अद्भुत शक्ति की मान्यता ब्राह्मण-धर्म में तप एवं योग-साधनों के, तथा बौद्धधर्म में शौच के अन्तर्गत परिकल्पित की गई थी। यह कोई नियम नहीं कि यजुर्वेद के सब प्रयोगों में देवताओं को सम्बोधित वन्दनाएँ ही हों, परन्तु सामान्यतः मन्त्रविशेष तथा अनुष्ठान के प्रयोगों के सुफल को प्रदर्शित करने वाली उक्तियाँ सर्वत्र पाई जाती हैं। मन्त्र-प्रयोग के साथ-साथ कई ऐसे मणि, ओषधि आदि वस्तुओं के उपयोग का भी विधान है जो सहज प्राप्य होकर सामान्य लौकिक कल्याण की अवाप्ति, पशु, ग्राम आदि की वृद्धि जैसे कतिपय विशेष मनोरथ की पूर्त्ति के साधन हैं। किसी भी कर्म के प्रयोग से भली-भाँति परिचय और निर्वाह तो पुरोहित की उपस्थिति के साथ-साथ सर्वदा सम्पन्न माना ही जाता था। वास्तव में देखा जाय तो इन प्रयोगों द्वारा प्राप्य वर बाल-सहज मूढ़ता के निदर्शनमात्र हैं। कोई तो केवल एक शरद की प्राप्ति के लिये ही विहित हैं — यह कहीं अधिक अच्छा और लाभप्रद होता यदि कोई प्रयोग चन्द्रबिम्ब को हस्तगत करने के लिये भी बनाया जाता।

यज्ञिय विधि-विधान के उपबृंहण के साथ ही साथ जाति-व्यवस्था दिनों-दिन बढ़ती गई और सुदृढ़ भी होती गई। जाति-व्यवस्था की नींव जम जाने पर ब्राह्मणों का सामाजिक एवं धार्मिक वर्चस्व बढ़ता गया जिसके बन्धन में भारतवर्ष लगभग ढाई हज़ार वर्ष से जकड़ा हुआ है। भारतीय समाज के चार प्रमुख भेदों के फलस्वरूप चातुर्वर्ण्य की कल्पना हमें यजुर्वेद में मिलती है। इतना ही नहीं, बल्कि वाजसनेयिसंहिता के उत्तर अध्यायों में हमें वर्णसङ्कर से जनित अनन्तर जातियों का अस्तित्व भी प्रतीत होता है। इससे यह कहना

होगा कि भारतीयों का सामाजिक एवं धार्मिक स्वरूप इस युग में ऋग्वेद सूक्तों में प्रतिबिम्बित स्वरूप से तत्त्वतः भिन्न है।

अथर्ववेद

केवल ऋक्, यजुः और साम ही मूलतः धार्मिक संहिताएँ मानी जाती हैं। कारण, इनका ही यज्ञिय विधि-विधान से सम्बन्ध पाया जाता है। अन्तिम अध्याय को छोड़ कर शेष अथर्ववेद यज्ञिय विधि से किसी तरह सम्बन्ध नहीं रखता। ऐसा लगता है अन्तिम अध्याय इसी उद्देश्य से जोड़ दिया हो कि अथर्ववेद का यज्ञानुष्ठान से कुछ सम्बन्ध स्थापित हो जाय। अथर्ववेद के सूक्तों में प्रतिपादित विधियाँ प्रायशः गृह्य संस्कारों से अधिकतर सम्बद्ध हैं — इनमें जातेष्टि, विवाह एवं अन्त्येष्टि जैसे पारिवारिक संस्कारों का उल्लेख है अथवा राज्याभिषेक जैसे राजधर्म से सम्बद्ध विधियों का वर्णन है। सामान्यतः तो यही कहना होगा कि अथर्ववेद मन्त्र-तन्त्रों का एक प्रकीर्ण संग्रह है। मुख्यतः इस संहिता में मान्त्रिक प्रयोगों का ही उपदेश है जिसके द्वारा शत्रुञ्जय अथवा मृत्युञ्जय सिद्ध किया जा सकता है अथवा असाध्य रोगों की चिकित्सा या घातक पशु-पत्ती, राक्षस, भूत-प्रेत, डाकिनी शाकिनी आदि ब्राह्मण-द्वेषी वर्ग के प्रभावों का पराभव किया जाय। साथ ही साथ अथर्ववेद में कतिपय माङ्गलिक तथा जनहित के साधक प्रयोग भी हैं — उदाहरणार्थ — कौटुम्बिक सहयोग, पौर-जानपदों में पारस्परिक स्नेह, शत्रुओं के आपसी वैर का शमन, दीर्घजीवन, स्वास्थ्यलाभ एवं भौतिक अभ्युदय के अनेक उपायों का उल्लेख है — इतना ही नहीं, परन्तु कुशल-क्षेम के साथ यात्रा अथवा द्यूत में अनुकूलता सम्पादन करने के हेतु अनेक उपासनाएँ भी बताई हैं। वास्तव में अथर्ववेद की रचना दो दृष्टियों से हुई है, शान्ति एवं अभ्युदय के साथ-साथ शाप एवं प्रतिघात के क्षम प्रयोगों का यह संकलन है।

जहाँ तक प्रतिपाद्य विषय का सम्बन्ध है अथर्ववेद निश्चय ही ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक मूढग्रहों से अनुप्राणित है। इसमें ब्राह्मण-धर्म के विशेष उन्नत विचार नहीं पाये जाते। जन-सामान्य में प्रचलित साधारण मन्त्र-तन्त्र या जादू-टोने के प्रयोग ही अधिकतर वर्णित हैं। यह उस जनता की प्रारम्भिक धारणाओं के अनुरूप विषयों का प्रतिपादन करता है जो भूत-प्रेत आदि निम्नकोटि की शक्तियों में मूढ विश्वास रखते हैं। यह वेद प्रागैतिहासिक युग की अपरिष्कृत भावनाओं से अनुप्राणित है। बहुत थोड़े प्रयोग ऐसे भी हैं जो

भारोपीय युग के कहे जा सकते हैं ; कारण, एडलबर्ट कुहन का कथन है कि अथर्ववेद में शारीरिक कष्ट को निवारण करने के लिये विहित कतिपय मन्त्र-तन्त्र ऐसे हैं जिनका स्वरूप एवं उद्देश्य प्राचीन जर्मन, लेटिक और रूसी जादू-टोने से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जहाँ तक देवता-सम्बन्धी उच्चतर धार्मिक विचारों का सम्बन्ध है ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद भारतीय धार्मिक विचारों के अर्वाचीन एवं प्रगतिशील युग का प्रतिनिधित्व करता है। निश्चय ही इसमें अन्य संहिताओं की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक विचार उपलब्ध होते हैं। अत एव सभ्यता के इतिवृत्त के अध्ययन के लिये ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उपलभ्यमान सामग्री कहीं अधिक रोचक एवं महत्वपूर्ण है।

आज अथर्ववेद हमें दो शाखाओं की संहिता के रूप में उपलब्ध है। पिप्पलाद शाखा की संहिता की एक मात्र प्रति भूर्जपत्र पर लिखित मिलती है, जो प्राचीन तो अवश्य है परन्तु अधिकांश अशुद्ध एवं स्वररहित है। यह प्रति आचार्य ब्यूहलर को काश्मीर में मिली थी जिसका परिचयात्मक विवरण सन् १८७५ ईसवी में आचार्य रोट ने 'देर अथर्ववेद इन काश्मीर' नामकी अपनी पुस्तिका में प्रकाशित किया था। आशा है उसकी चित्र-प्रतिलिपि आचार्य ब्लूमफ़ील्ड द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित हो विद्वद्वृन्द को उपलब्ध होगी। सन्देह नहीं, अथर्ववेद के परिशिष्ट में उल्लिखित 'पिप्पलाद-मन्त्र-संहिता' ही पिप्पलाद शाखा के नाम से प्रचलित हुई।

रोट एवं ह्विटनी द्वारा ई० सन् १८५६ में प्रकाशित ग्रन्थ अथर्ववेद की शौनक शाखा की संहिता है। अथर्ववेद पर प्रायः समग्र सायणभाष्य भारत में सम्पादित हुआ है। इस संस्करण की विशेषता यह है कि इसमें अनेक पाठभेदों का सङ्ग्रह है जो मुद्रित पाठ से भिन्न हैं।

उक्त संहिता में २० काण्ड हैं, सूक्त संख्या ७३०, तथा मन्त्र-संख्या लगभग ६००० है। इनमें कोई १२०० मन्त्र ऋग्वेद के हैं जो अधिकतर दशम, प्रथम तथा अष्टम मण्डल से उद्धृत हैं — कुछ छुट-फुट मन्त्र ऋग्वेद के इतर मण्डलों के भी जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं। २०वें काण्ड में से १२ सूक्तों को छोड़कर शेष के १४३ सूक्त तो ज्यों के त्यों ऋग्वेद से ले लिये हैं। अन्य काण्डों में ऋग्वेद से परिगृहीत मन्त्रों में काफ़ी पाठ-भेद है, और वे इतर संहिताओं की भाँति इस संहिता में भी ऋग्वेद के मूलपाठ की अपेक्षा निम्नकोटि के हैं। यजुर्वेद की भाँति अथर्ववेद का बहुत कुछ भाग — लगभग एक-छठा हिस्सा — गद्यमय है। पचास सूक्त से अधिक अंश अपद्यात्मक है —

सारा १५वाँ और १६वाँ काण्ड, तथा अन्य काण्डों में मिलाकर तीस सूक्त गद्यबद्ध हैं; और कोई सौ के क़रीब दूसरे सूक्तों में भी कुछ पूरे और कुछ अधूरे मन्त्र इसी तरह के हैं।

'अथर्ववेद मूलतः केवल तेरह ही काण्डों का था' — यह बात रचनाशैली तथा प्रतिपाद्य विषय के आधार पर प्रमाणित हो जाती है। एक से सात काण्डों का स्वरूप प्रतिसूक्त मन्त्र-संख्या की दृष्टि से विभिन्न है—प्रथम काण्ड में लगभग हर सूक्त में चार-चार मन्त्र हैं, दूसरे में पाँच-पाँच, तीसरे में छह-छह, चौथे में सात-सात और पाँचवें में आठ से अठारह तक मन्त्र पाये जाते हैं; छठे में तीन-तीन और सातवें में तो आधे से अधिक सूक्त ऐसे हैं जिनमें एक-एक ही मन्त्र पाया जाता है। आठ से तेरह काण्डों में लम्बे-लम्बे सूक्त हैं। तेरह काण्डों में दिया हुआ विषय बिना किसी सिद्धान्त के आधार पर स्वच्छन्द रूप से निवेशित है। इस रचनाशैली के प्रतिकूल अगले कुछ काण्डों में विषय का सङ्कलन अधिकतर एकरूप एवं क्रमबद्ध है। १४वें काण्ड में विवाह-संस्कार के मन्त्र हैं जो अधिकतर ऋग्वेद के दशम मण्डल से उद्धृत हैं। १५वें काण्ड में व्रात्य नाम से परमात्मा की महिमा का वर्णन है। १६वें और १७वें काण्ड में कतिपय मोहन एवं वशीकार के मन्त्रों का सङ्ग्रह है। १५वें और १६वें काण्ड की रचना तो ठेठ ब्राह्मण-ग्रन्थों जैसी गद्यशैली में है। १६वाँ और १७वाँ काण्ड बहुत ही छोटे हैं। १६वें काण्ड में तो केवल नौ ही सूक्त हैं जो केवल चार मुद्रित पृष्ठों में आ जाते हैं; और १७वें काण्ड में एक ही सूक्त है जो दो-ढाई पृष्ठों का है। १८वाँ काण्ड अन्त्येष्टि एवं पितृबलि से सम्बन्ध रखता है। १४वें की भाँति इस काण्ड में भी अधिकतर मन्त्र ऋग्वेद के दशम मण्डल से ही उद्धृत हैं। अत एव यही कहना उचित होगा कि ये दो काण्ड स्वरूपतः ठीक-ठीक आथर्वण प्रतीत नहीं होते।

स्पष्ट है — अथर्वसंहिता के अन्तिम दो अध्याय बाद में जोड़े गये हैं। उन्नीसवें अध्याय में कई अंश परिशिष्ट से लगते हैं, मूलपाठ भी कहीं-कहीं भ्रष्ट है। बीसवें अध्याय में आद्योपान्त प्रायः सब ही सूक्त इन्द्र की स्तुतिपरक हैं, जो बिना किसी रूपान्तर के ज्यों के त्यों ऋग्वेद से उठा कर रखे गये हैं। इसी बात से सिद्ध होता है कि ये मूल अध्यायों की अपेक्षा बहुत परवर्ती अध्याय हैं; कारण, प्रारम्भ के अध्यायों के संहिता-पाठ में तथा उन्हीं मन्त्रों के ऋग्वेद के पाठ में बहुत अन्तर पाया जाता है। इसके अतिरिक्त और अधिक श्रद्धेय प्रमाण इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं — परवर्ती अध्यायों में

सोमयाग का कल्प वर्णित है जो अथर्ववेद के स्वरूप का अनुवर्त्ती नहीं है। निश्चय ही यह अंश अथर्वसंहिता को चतुर्थवेद का पद प्राप्त कराने के उद्देश्य से ही संकलित किया गया है। यज्ञकल्प के संविधान के आधार पर ही इतर तीन वेदों के समकक्ष अथर्वसंहिता की भी गणना होने लगी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अथर्ववेद के प्रातिशाख्य में इन दो अन्तिम अध्यायों का कहीं उल्लेख नहीं है। अत एव यह मानना होगा कि अथर्ववेद की मूलसंहिता की रचना के पश्चात् किसी समय पिछले दो अध्याय और जोड़े गये हैं। सूक्त संख्या ४८ और ४९ के दो गद्यांशों को छोड़कर बीसवें अध्याय में यदि कोई भाग मौलिक कहा जाय तो वह केवल कुन्ताप सूक्त[1] के नाम से प्रथित अंश ही है। ये सूक्त ऋग्वेद की दानस्तुतियों की कोटि के हैं। इनमें दानी राजा और यजमानों की श्लाघा की गई है जो वीर राजन्य एवं भटों के पराक्रमों का वर्णन करने वाले वीर-काव्यों के पुरोगामी कहे जा सकते हैं।

अथर्ववेद की संहिता का किसी न किसी रूप में अस्तित्व शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्यायों तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं छान्दोग्य उपनिषद् के रचना-काल में अवश्य रहा होगा; कारण, इन ग्रन्थों में अथर्ववेद का उल्लेख दृष्टि-गोचर होता है। पातञ्जल महाभाष्य के समय में तो अथर्ववेद ने वह प्रतिष्ठा पा ली थी जिसके कारण उसे वेदों का शिरोमणि अथवा वेदों का एकमात्र प्रतिनिधि भी कहीं-कहीं कहा गया है।

इस वेद का सबसे पुरातन नाम 'अथर्वाङ्गिरस' था। यह नाम अथर्ववेद में भी मिलता है तथा हस्तलिखित प्रतियों के मुखपृष्ठ पर भी पाया जाता है। यह पद दो नामों से मिल कर बना है, अथर्व और अङ्गिरा ; ये दो प्राचीन ऋषिकुल हैं। आचार्य ब्लूमफ़ील्ड का मत है कि अथर्वशब्द 'सात्विक मन्त्र' का पर्याय है जो भली विधियों की ओर संकेत करता है, और 'आङ्गिरस' यह पद तामस तन्त्रों का पर्याय है जो जादू-टोने तथा आभिचारिक विधियों का प्रतीक है। अथर्व यह, चूंकि सात्त्विक तथा लोकमंगल की साधिका प्रक्रियाओं का द्योतक है, चौथे वेद की संज्ञा के लिए उपयुक्त नाम समझा गया। 'अथर्वाणः' इस प्रकार का बहुवचनान्त प्रयोग इसी अर्थ में बहुधा ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रयुक्त है, परन्तु एकवचनान्त प्रयोग सर्वप्रथम उपनिषदों में ही मिलता है। 'आथर्वण' इस नपुंसक बहुवचनान्त विशेषण पद का प्रयोग अथर्वसूक्तों

१. सूक्त संख्या १२७–१३६।

के सामूहिक अर्थ में स्वयं अथर्वसंहिता के उन्नीसवें अध्याय में हुआ है और तब से बराबर इसी अर्थ में इसका प्रयोग चला आ रहा है। सूत्र-ग्रन्थों में सर्वत्र ऋग्वेद तथा इतर संहिताओं की भाँति 'अथर्ववेद' यह संज्ञा सर्वप्रथम प्रयुक्त हुई। इसके अतिरिक्त इस संहिता के और दो नाम हैं जिनका प्रयोग इसी वेद के निबन्ध ग्रन्थों में ही दिखाई देता है, अन्यत्र नहीं। एक संज्ञा तो है—'भृगु-अङ्गिरस', जो एक और भृगु नामक पुरातन पुरोहितों का कुलक्रमागत नाम है और अङ्गिरस का स्थानापन्न है। दूसरी संज्ञा है 'ब्रह्मवेद' जिसका प्रयोग आथर्वण साहित्य को छोड़ कर केवल एक ही बार ऋग्वेद से सम्बद्ध गृह्यसूत्र में मिलता है।

अथर्ववेद का प्रतिपाद्य विषय सर्वसाधारण सा होने के कारण इसे निगमविद्या के अन्तर्गत धर्म-प्रमाण ग्रन्थों में स्थान प्राप्त करने में बहुत विलम्ब लगा। इसका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता कि ऋग्वेद के परवर्त्ती भाग के रचनाकाल में आथर्वण मन्त्रविद्या को साहित्यिक दृष्टि से कोई स्वतन्त्र स्थान प्राप्त हुआ हो। पुरुष-सूक्त में ऋक्, साम, यजुः का कण्ठतः उल्लेख है परन्तु अथर्ववेद में विहित तन्त्रों की कहीं भी चर्चा नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि ऋग्वेद जो भी प्रधानतः यज्ञिय देवताओं की स्तुति-परक संहिता है तथापि उसमें अनेक सूक्त ऐसे हैं जो प्रकट करते हैं कि मन्त्र-तन्त्रों का गृहस्थों द्वारा प्रयोग भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा हो। आथर्वण मन्त्र-समुदाय का विधिवत् प्रयोग यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में ऋक्सामयजुः के अनुक्रम में मिलता है और उन्हें 'अङ्गिरसः' कहा गया है। तत्रापि यह स्पष्ट है कि यजुर्वेद के प्रयोगों में अथर्ववेद की भावना व्याप्त है यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो पाठ भी आथर्वण सा लगता है। सच तो यह है कि एक ओर ऋग्वेद तथा यजुर्वेद, और दूसरी ओर अथर्ववेद को रख मन्त्रों-तन्त्रों की दृष्टि से यदि तुलना की जाय तो तारतम्य केवल उनकी साध्यता एवं महत्ता तक ही सीमित रह जाता है।

स्वयं अथर्ववेद में भी आथर्वण ग्रन्थ के लिये केवल एक ही बार 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द का साक्षात् प्रयोग पाया जाता है, इसी प्रकार एक ही बार 'भेषजा' कहकर सङ्केत किया गया है, परन्तु इतर तीन वेदों का तो बहुधा उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि अथर्ववेद के अनुयायी और इतर वेद के अनुयायियों के बीच तब तक कोई वैमनस्य की भावना न थी।

ब्राह्मणग्रन्थों की ओर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि ऋग्वेद से

सम्बद्ध ब्राह्मणों में कहीं भी अथर्ववेद का नामनिर्देश नहीं है, परन्तु तैत्तिरीय आरण्यक की भाँति तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी दो बार अथर्व का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में अथर्व का स्थान कुछ निश्चित सा होने लगा है यद्यपि वह वेद की परिगणना के अन्तर्गत हो नहीं पाया। तथापि अथर्व का नामतः सङ्कीर्तन शतपथ ब्राह्मण में कई जगह है। प्राचीन वेदों का स्पष्टतः 'ऋक्साम-यजुः' इन नाम से, अथवा 'त्रयी विद्या' के सामूहिक नाम से वर्णन मिलता है। कई स्थानों पर तीनों वेदों का उल्लेख इतिहास, पुराण, गाथा, सूत्र, उपनिषद् आदि विविध रचनाओं के साथ भी पाया जाता है। इन परिगणनाओं में स्फुट ही अथर्व को सर्वत्र वेदत्रयी के बाद तुरीय स्थान प्राप्त हुआ है। शेष रचनाओं के नाम आगे पीछे दिये हुए मिलते हैं। उपनिषदों में भी अथर्व का वैसा ही समादर है। आथर्वण उपनिषदों में इतना अवश्य है कि अथर्ववेद का नाम चुपचाप तीन वेदों के बाद देकर पुराणेतिहास आदि अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में वे मौन रहे हैं। श्रौत-सूत्रों में से कात्यायन[1] एवं लाट्यायन[2] में अथर्व का उल्लेख नहीं है, केवल शांखायन और आश्वलायन[3] में एक-एकबार मिलता है।

समग्र याज्ञिक साहित्य में अथर्व के प्रति विद्वेष का कोई निदर्शन नहीं पाया जाता और न अथर्ववेदियों का किसी प्रकार बहिष्कार ही दृष्टिगोचर होता है, इस प्रकार की मनोवृत्ति कुछ कल्पनातीत सी प्रतीत होती है। जो भी वैदिक यज्ञ-विधि में तथा मन्त्रादि प्रयोगों में स्फुट अन्तर है तथापि वैदिक धर्म में यज्ञयागादि तथा जादू-टोने के मन्त्र-तन्त्रों के बीच स्पष्ट अन्तर को प्रकट करने वाली रेखा खींचना बहुधा कठिन है। ऐसी अवस्था में यज्ञिय कल्प के विधायक वेदों के अनुयायियों द्वारा मन्त्र-तन्त्रों के निधान अथर्व की मान्यता सहज सी लगती है। उदाहरणार्थ—शतपथ ब्राह्मण में यतु अर्थात् भूतविद्या को आसुरी प्रयोग बताते हुए भी उसे (यतुविद्या को) बह्वृचों की कोटि में रखते हुए संकोच नहीं हुआ। जिस तरह ऋग्वेद में मान्त्रिक प्रयोगों से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले सूक्तों की कमी है उसी तरह अथर्ववेद में यज्ञिय विधि से सम्बन्ध रखने वाले कल्पों की कमी है। अथर्व में मूलतः कतिपय गौण यज्ञिय विषयों का समावेश है। उदाहरणार्थ, अथर्वसंहिता के छठे काण्ड के ४७–४८ मन्त्रों में केवल सोम के प्रति-

---

१. यह शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्र है।

२. यह सामवेदियों का श्रौतसूत्र है।

३. ये दोनों श्रौतसूत्र ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं।

दिन त्रिवार सवन की विधि के सिवाय और कोई अर्थ नहीं है। हमें आथर्वण सूक्तों में यागविधि में किये हुए प्रमाद के लिये प्रायश्चित्त के विधान मिलते हैं। इन सब बातों को देखते हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि अथर्ववेद के अनुयायी वर्तमान संहिता के संकलन से पूर्व अवश्य ही कुछ न कुछ यज्ञिय कर्मकाण्ड से परिचित थे। मूलतः अथर्व का श्रौतविधि से सम्बन्ध बहुत ही कम था, इसी कमी की पूर्ति के लिये संहिता में बीसवाँ काण्ड जोड़ दिया है जिसमें कर्मकाण्ड का विषय ऋग्वेद से उद्धृत किया गया।

श्रौत निबन्धों में अथर्ववेद के प्रति जो स्पष्टतः उपेक्षा दीख पड़ती है उसका कारण अनादर अथवा व्यर्थता की भावना न थी, परन्तु कर्मकाण्ड से सम्बद्ध विषयों का अभावमात्र था। गृह्यसूत्रों में बहुत कुछ मान्त्रिक विधानों का समावेश है; अत एव श्रौतसूत्रों की भाँति गृह्यसूत्रों में अथर्व के प्रति उपेक्षा-भाव होना सम्भव नहीं जान पड़ता; और किसी सीमा तक यह तथ्य भी है; कारण, गृह्यसूत्रों में अनेक अंश ऐसे हैं जो अथर्ववेद से ज्यों के त्यों परिगृहीत हैं अथवा अंशतः पाठान्तरित हैं। गृह्य-संस्कारों में उस वेद के मन्त्र स्वरूपतः उद्धृत हैं। यदि ऐसा न होता तो हमें गृह्यसूत्रों में भी अथर्ववेद के प्रति उतना ही आदर जान पड़ता जितना श्रौतसूत्र में पाया जाता है। इतना अवश्य सच है कि अथर्ववेद के जो सन्दर्भ प्रयोग-प्रधान हैं उन्हीं का बहुधा उद्धरण गृह्यसूत्रों में किया है।

लोकाचार से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म के क्षेत्र में भी आथर्वण पद्धति ने कुछ सम्मान पाया है — ज्योतिर्विद्या तथा वैद्यविद्या निरन्तर उपयोग की विद्याएँ है और इनका मूल स्रोत निश्चय ही आथर्वण है। माना जाता था कि राजपुरोहित मन्त्रबल से शत्रु का उच्चाटन तथा व्याधिशमन कर दिया करता था — मालूम होता है वह अवश्य ही अथर्ववेदी रहा करता होगा। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि प्रारम्भिक धर्मग्रन्थों में आथर्वण विधियों की निन्दा पाई जाती हो, कारण ये विधियाँ दूसरों के लिये हानिकर हुआ करती थीं। धर्मशास्त्र का सामान्यतः निर्णय यही है कि इस प्रकार का मन्त्रग्राम अक्षेमकर है; और अथर्ववेद इतर वेदों की अपेक्षा हीन है तथा तद्विहित प्रयोग तामस हैं। यही भावना आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्पष्ट रूप से प्रकट की गई है; उससे परवर्त्तिनी विष्णुस्मृति में तो आथर्वण मारणमन्त्रों के पाठ करने वाले को सप्त घातकों में गिना है। फलित ज्योतिषी तथा वैद्य अपवित्र कहे गये हैं, जड़ी बूटीयों का व्यवहार निषिद्ध किया गया गया है, मारणादि

मन्त्र प्रयोगों के लिये कठोर प्रायश्चित्तों का विधान है। तथापि किन्हीं-किन्हीं बातों में अथर्ववेद की उपादेयता स्वीकृत है — मनुस्मृति में उसे विपक्षक्षपण के लिये ब्राह्मणों का एक सहज अस्त्र बताया है।

महाभारत में हमें अथर्ववेद का प्रामाण्य और उसका गौरव पूर्णतः स्वीकृत प्रतीत होता है। वहाँ प्रायः वेदचतुष्टयी का ही उल्लेख मिलता है और जगह-जगह पर ब्रह्मा और विष्णु को वेदनिर्माता बताया है। यहाँ बहुधा अथर्व का स्वतन्त्ररूप से भी नाम लिया है और उसकी मान्यता प्रकट की गई है। आथर्वण प्रयोग सुपरिचित पाये जाते हैं, उनकी अवहेलना प्रायशः नहीं मिलती तथा मन्त्र-तन्त्र का उपयोग उपादेय एवं श्रेयस्कर समझा गया है।

अन्त में पुराणों की साक्ष्य ली जाय तो वहाँ प्रायः चार वेदों का ही उल्लेख है, तत्रापि अथर्व का स्थान याज्ञिक कल्प के लिये कहीं उच्च है। विष्णुपुराण के अनुसार तो किसी भी याग के अनुष्ठान में चौथा ऋत्विज अथर्ववेदी ही होना चाहिये।

जो भी कुछ हो, धर्मसूत्रों के युग में अथर्ववेद के प्रति कुछ कुत्सित भावनाएँ प्रचलित हो गई थीं। इसका प्रमाण यह है कि आज भी—बुर्नेल बताते हैं—दक्षिण भारत के प्रतिष्ठित ब्राह्मण चतुर्थवेद के प्रामाण्य में सन्देह रखते हैं और उसकी वास्तविकता को स्वीकार नहीं करते। लौकिक साहित्य में भी यत्र-तत्र उपलब्ध सन्दर्भ इसी निर्णय का अनुमोदन करते हैं—सम्भवतः अथर्व के निबन्ध ग्रन्थों में, अनुयायियों द्वारा रचित अपने वेद की हामी भरने के यत्नों की यह प्रतिक्रिया ही हो। निबन्धों में कहीं भी वेदों की गणना अथर्ववेद को छोड़कर नहीं की गई—इतना ही नहीं, अथर्ववेद को प्राधान्य भी दिया है। यज्ञविधि में उनके वेद का स्थान निर्धारित न होने के कारण, वे चतुर्थ ऋत्विज के अथर्ववेदी होने का आग्रह करते हैं। वैदिक कल्प में चौथा ऋत्विज किसी वेदविशेष का न होकर समस्त वेदों का ज्ञाता होता था जो यज्ञ का निरीक्षक अथवा निर्देशक समझा जाता था। अथर्ववेदियों ने बड़ी बुद्धिमानी से इस रिक्त स्थान का लाभ उठाया; और चूंकि चौथा ऋत्विज ऋक्-साम-यजुः से सम्बन्ध रखने वाला नहीं होना चाहिये अत एव उनका कथन है कि निश्चय वह अथर्ववेद का ही हो सकता है। वास्तव में उस चौथे ऋत्विज का बहुत महत्त्व है, उसे समग्र कर्मकाण्ड का व्यापक ज्ञान होना आवश्यक है, उसे देवताओं का मन्त्रोक्त स्वरूप तथा पूरे याग का रहस्य

विदित होना चाहिये । इसी कारण उसे 'ब्रह्मा' की पदवी दी जाती है। इसी गौरव को ध्यान में रखते हुए गोपथब्राह्मण में अथर्ववेद को सर्वोच्च 'ब्रह्म' के ज्ञान का प्रतिपादक बताकर उसे 'ब्रह्मवेद' की संज्ञा दी है । उक्त संज्ञा को चरितार्थ करने में अथर्व-संहिता में बहुधा 'मन्त्र' के अर्थ में प्रयुक्त 'ब्रह्म' इस पद ने बहुत सहयोग दिया है। अथर्ववेद में इतर किसी भी वेद की अपेक्षा कहीं अधिक आध्यात्म-विज्ञान के होने से भी उसे 'ब्रह्मविद्या' कहलाने का अधिकार प्राप्त है। इतर वेदत्रयी से सम्बद्ध ग्रन्थराशि में यह कहीं नहीं कहा गया कि चौथा ऋत्विज अथर्ववेदी ही होना चाहिये, प्रत्युत कतिपय ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो स्पष्ट कहा है कि 'ब्रह्मा' कोई भी ऐसा ऋत्विज हो सकता है जिसे यज्ञिय विधि का सर्वाङ्गीण ज्ञान हो। अथर्ववेद के ब्राह्मणग्रन्थों ने तो बड़े उत्साह के साथ यह भी नियम बता दिया कि राजा का कुल-पुरोहित अथर्व का ही अनुयायी होना चाहिये । मालूम होता है कि वे उक्त पद पर अपना एकाधिकार जमाने में अन्ततः सफल हुए ; कारण, राजन्यवर्ग मान्त्रिक विद्या में निष्णात विप्र का सविशेष समादर करते थे ।

अथर्ववेद में भौगोलिक सामग्री बहुत ही कम है जिससे अथर्वसंहिता की रचना कहाँ हुई थी निश्चित रूप से पता नहीं चलता । अथर्ववेद के मौलिक अंश में एक सूक्त* ऐसा है जिसमें गान्धारी, मूजवत्, महावृष, बाह्लीक तथा मगध एवं अङ्गदेश का उल्लेख मिलता है, परन्तु उतना सा संकेत उक्त सूक्त के निर्माता के देश-काल के किसी निर्भ्रान्त निर्णय करने में सहायक सिद्ध नहीं होता ।

अथर्ववेद में ज्योतिर्विज्ञान के सम्बन्ध में बहुत थोड़ी सामग्री हाथ लगती है — केवल उन्नीसवें काण्ड में राशिविज्ञान का विवरण है। इस प्रकरण में निर्दिष्ट नामावली तैत्तिरीय संहिता में दिये हुए नामों से बहुत कुछ विभिन्न है। प्रतीत होता है उक्त नामावली को प्रस्तुत करनेवाला अंश कहीं प्रकीर्णक है ।

व्याकरण की दृष्टि से अथर्ववेद की भाषा निश्चय ऋग्वेद की भाषा से बाद की है, परन्तु वह ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा से अवश्य पहले की है। शब्द-निधि के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि अथर्वसंहिता में प्रयुक्त अनेक शब्द बहुधा बोलचाल के हैं जो प्रसंगवश अन्यत्र नहीं मिलते ।

* अथर्व. ५-२२

यह बहुत कुछ सम्भव है कि अथर्वसंहिता, जिसका कुछ भाग अवश्य ही अतिप्राचीन है, ऋग्वेद के सब ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हो जाने तक सम्पादित न हो पाई थी।

अथर्ववेद में वर्णित विषय यदि कुछ अधिक सूक्ष्मता से परखे जाँय तो पता चलता है कि उसमें अधिकांश मन्त्र विविध रोगों के उपशमन तथा उनके प्रवर्तक असुरों के विनाश के लिये प्रयोग बताते हैं। उसमें ज्वर (तक्मन्) कुष्ठ, कामला, मूर्च्छा, गण्डमाल, श्वास, कफ, नेत्ररोग, गंजापन, शक्ति-क्षय तथा अस्थिभङ्ग एवं व्रणों के उपचारार्थ मन्त्र मिलते हैं। सर्पदंश, अन्य विषैले कीटों के दंश तथा विषसामान्य तथा उन्माद जैसी व्याधियों की चिकित्सा भी मन्त्रबल से उपदिष्ट है। इन मन्त्रों का प्रयोग वनस्पतियों के उपयोग के साथ हुआ करता था। अत एव यह कहा जा सकता है कि भारतीय भैषज्य-विद्या का आदिग्रन्थ अथर्ववेद ही है।

कफ के उपचारार्थ विहित मन्त्र निम्नलिखित हैं :—

[1]यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यऽम् ॥ क ॥
यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ ख ॥
यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ग ॥

---

१. (क) जिस तरह मन अपनी कामनाओं की ओर वेग के साथ भागता है, उसी तरह, हे कास ! तू भी मनोवेग के साथ चटपट भाग जा। (अथर्व. ६-१०५-१)

(ख) जिस तरह तीक्ष्ण बाण बड़ी दूर तक तेज़ी से दौड़ जाता है, उसी तरह, हे कास ! तू भी पृथ्वी के विशाल आयाम तक दूर भाग जा। (अथर्व. ६-१०५-२)

(ग) जिस तरह सूर्य की प्रखर किरणें दूर-दूर तक एक दम चली जाती हैं; उसी तरह, हे कास ! तू भी समुद्र की लहरियों के साथ-साथ एक दम दूर भाग जा। (अथर्व. ६-१०५-३)

अथर्ववेद में श्याम-लता के द्वारा कुष्ठरोग की चिकित्सा के लिये निम्नलिखित मन्त्र बताया है —

[1]नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च ।
इदं रजनि रजय किलासं पलितञ्च यत् ॥

दानवों, ऐन्द्रजालिकों तथा शत्रुओं के अभिचार के विरुद्ध अनेक शापों की प्रक्रिया भी बताई गई है जिनमें से नीचे दिये हुए दो उद्धरण आभिचारिकों और विपत्तियों के शमनार्थ प्रयोग में विहित हैं —

[2]परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन् ।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥
[3]यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यँस्तेजाँस्याददे ।
एवा स्त्रीणाञ्च पुंसाञ्च द्विषतां वर्च आ ददे ॥

ब्राह्मणों के साथ द्वेष करने वाले तथा उनके हित का नाश करनेवाले विद्वेषियों के प्रति शाप के अनेक विधान पाये जाते हैं। विरोधियों को दी हुई धमकी का उदाहरण है —

[4]येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥

---

१. हे वनस्पति ! तेरा प्रादुर्भाव रात को हुआ है, तू काली, भूरी और साँवली है, तेरा रंग बड़ा पक्का है, अपनी तरह मेरे सफ़ेद दाग़ को भी तू काला बना दे। (अथर्व. १-२३-१)

२. (शत्रु द्वारा प्रयुक्त) ऐ तन्त्र ! तू झुक जा और मेरे पास से होकर दूर चला जा और तुझे प्रयुक्त करने वाले मेरे विपक्षी को, जैसे बिजली वृक्ष को नष्ट करती है, नष्ट भ्रष्ट कर दे। (अथर्व. ६-३७-२)

३. जिस तरह सूर्य उदित होते ही समस्त तारागण का तेज अपहरण कर लेता है, उसी तरह मैं मेरे शत्रुओं का–चाहे स्त्री हो या पुरुष–तेज नष्ट कर दूं। (अथर्व. ७-१३-१)

४. विप्र पुरोहित को सताने वाले ! तेरे लिये देवताओं ने उसी जल का अंश निर्धारित किया है जिससे मृतक को स्नान कराते और अपनी दाढ़ी को भिगोते हैं। (अथर्व. ५-१९-१४)

नारी जाति के उपयोगार्थ अनेक तन्त्रों का उपदेश है जिनके द्वारा कई शक्तिशालिनी ओषधियों के बल वे अपने अभीप्सित कामुक को वशीभूत कर सकती हैं। उनमें कई तन्त्र तो ऐसे हैं जिनसे सपत्नीमर्दन किया जा सकता है। वशीकरण तन्त्र को बताने वाले ये दो मन्त्र हैं —

[1] यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो।
यथा मन्नापगा असः॥ (क)
आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम्।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥ (ख)

अथर्ववेद में कई आभ्युदयिक मन्त्र भी हैं जिनके द्वारा दीर्घायु तथा स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त हो सकता है। ऐसे भी कल्प हैं जिनसे मानव अजर अमर हो सकता है —

[2] यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो
यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्था-
दस्पार्शमेनं शतशारदाय॥

---

१. (क) जिस तरह सूर्य प्रतिदिन व्योम एवं पृथिवी को चारों ओर से घेर लेता है, उसी तरह मैं भी तेरे मन को घेर लूं; और तू मुझ कामिनी पर सर्वथा प्रेम करता रहे, और मुझ से कभी मन न मोड़ सके। (अथर्व. ६-८-२)

(ख) कामुकता के पुंख से युक्त और प्रेमाङ्कुरों के शल्य से प्रोत कामदेव का सङ्कल्पात्मक बाण है, उसी बाण से वह, सही निशाना तान कर, तेरे हृदय को भली भाँति विद्ध करे। (अथर्व. ३-२५-२)

२. यदि उसकी आयु क्षीण हो चुकी हो अथवा वह महाप्रयाण भी कर चुका हो और यम के निकट पहुँच भी गया हो, तब भी मैं उसे प्रलय के मुंख से निकाल लाऊँगा और उसे सौ वर्ष के लिये सुरक्षित कर दूंगा। (अथर्व. ३-११-२)

[1]उत्क्रामातः पुरुष माव
पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ।
मा च्छित्था अस्माल्लोका—
दग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः ॥

इनके अतिरिक्त ऐसे सूक्त भी हैं जिनमें अनिष्टवारण के लिये तथा गृह-केदार अथवा पशुधन की सुरक्षा के लिये प्रयोग उपदिष्ट हैं। अपने व्यवसाय में वृद्धि, और यहाँ तक कि द्यूत-क्रीडा में विजय-प्राप्ति के लिये भी मन्त्र बताये हैं। निम्नलिखित दो मन्त्र ऐसे हैं जो द्यूत में भाग्यवत्ता को प्राप्त करानेवाले माने जाते हैं —

[2]'यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति' ॥ क ॥
अक्षाः फलवतीं द्युवं
दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया
धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ख ॥

कई सूक्त ऐसे भी हैं जिनमें सौहार्द की वृद्धि, भय, कलह अथवा वैमनस्य के शमन के हेतु अथवा राजसभा में गौरव को प्राप्त करने के लिये विहित

---

१. ए पुरुष ! उठ, और मौत की बेड़ियों को काट कर यहाँ से चल दे। अभी इस पार्थिव जीवन से तू विलग न हो और न तू अग्नि या सूर्य के चक्षु से दूर हो। (अथर्व. ८-१-४)

२. (क) जिस तरह बिजली हर समय वृक्ष पर टूट पड़ती है, उसी तरह मैं भी आज अपने साथी खिलाड़ियों पर हर दाव बेचूक टूट पड़ूं। (अथर्व. ७-५०-१)

(ख) ए पासे ! जिस तरह दुधारू गौ प्रचुर दूध देती है उसी तरह तू मुझे वैसे ही लगातार लाभ ही लाभ दे जैसे धनुष के साथ प्रत्यञ्चा एक सिरे से दूसरे सिरे तक बंधी रहती है। (अथर्व. ७-५०-९)

प्रयोग दिये हुए हैं। यह एक मन्त्र है जो सभा* में विजय-प्राप्ति को देनेवाला कहा गया है —

[1]विद्म ते सभे नाम
नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासद-
स्ते मे सन्तु सवाचसः॥

कतिपय सूक्तों में पापमोचन के लिये विहित प्रायश्चित्तों का विवरण मिलता है। यज्ञ-यागादि अनुष्ठान में त्रुटियों तथा परिवेत्ता के महादोष की शान्ति के लिये प्रायश्चित्तों का विधान भी दिया है। दुःस्वप्न तथा अमङ्गल पक्षियों के दर्शन से जनित अपशकुनों के वारणार्थ अनेक मन्त्र हैं —

[2]यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद् भव्यञ्च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥

पापमोचन के लिये विहित स्तोत्र का अन्तिम पद्य है —

[3]यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥

---

* श्री मैक्डोनल सभा-सूचक 'नरिष्टा' पद का अनुवाद 'Frolic' करते हुए सभा = 'सामाजिक मनोरञ्जन का स्थान -विशेषकर, द्यूतगृह' कहते हैं। पृ. १९९ टि. १।

१. अरी सभे! तेरा नाम हमने खूब सुना है, 'आमोद' यह तेरा नाम सर्वथा चरितार्थ है। जो भी कोई वहाँ सम्मिलित हुआ हो या उपस्थित हो वह अपने-अपने भाषण में सदा मुझसे सहमत रहे। (अथर्व. ७-१२-२)

२. जागते या सोते, जो भी कुछ मैंने पापाचरण किया हो, अथवा पाप की ओर प्रवृत्ति रखी हो उन सब, भूत या भविष्यत्, कर्मों से मुझे मुक्त कर दें, जिस तरह लकड़ी के खम्भे से बंधा हुआ प्राणी छोड़ दिया जाता है। (अथर्व. ६-११५-२)

३. जहाँ हमारे सुकृती मित्र आमोद-प्रमोद कर रहे हैं, जहाँ वे समस्त रोगों से मुक्त हो चुके हैं, जहाँ अब न वे किसी तरह अङ्ग-विकल हैं और न कुरूप, उसी स्थान पर हम अपने पितरों और पुत्रों को देखें! (अथर्व. ६-१२०-३)

अथर्ववेद में कुछ और सूक्त हैं जो राजा के चुनाव के समय राज्यश्री की प्राप्ति के लिये समुत्सुक, अथवा नष्ट राज्य के पुनर्लाभ की आकाङ्क्षा करनेवाले, लक्ष्मी के अभिलाषुक, सङ्ग्राम में विजय की लालसा रखने वाले राजन्यवर्ग की मनोरथ-सिद्धि के लिये बताये हैं। शत्रु को सन्त्रस्त करने के हेतु निम्नलिखित मन्त्र का प्रयोग कहा है —

[1]'उत्तिष्ठत सन्नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत' ॥

विपक्ष सेना को सन्त्रस्त करने के लिये नीचे दिये हुए मन्त्र का प्रयोग दुन्दुभि बजाकर करना चाहिये —

[2]'यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय' ॥

विश्वोत्पत्ति के क्रम वर्णन करने वाले तथा ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने वाले सूक्त भी अथर्ववेद में अनेक हैं, इनमें से पृथिवी-सूक्त बहुत ही सुन्दर है। इसमें ६३ मन्त्र हैं। इस सूक्त की सुन्दरता के निदर्शन के लिये कतिपय मन्त्र यहाँ उद्धृत हैं —

[3]'यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैऽलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्ना-
नसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ (क)

---

१. ए भूतों! उठो और अपने आयुध उठाओ, अपने साथ धूमकेतु जैसी लौ को ले कर दौड़ो, ए पाताल लोक के वासी नागो और निशाचरो! तुम भी झपटो और मेरे विपक्षी का पीछा करो। (अथर्व. ११-१०-१)

२. बाज़ को देख कर जिस तरह और परिन्दे काँप उठते हैं, दिन और रात जिस तरह पशु सिंह की गर्जना से काँपते रहते हैं, उसी तरह, ए दुन्दुभि! हमारी विपक्षसेना पर तू गाज उठ और उसे भय से आक्रान्त कर दूर भगा दे और उसके दिल को दहला दे। (अथर्व. ५-२१-६)

३. (क) जिस भूमि पर बड़े अट्टहास के साथ मानव गाते और नाचते

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना' ॥ ख ॥

अथर्ववेद के तेरहवें काण्ड में चार ऐसे सूक्त हैं जिनमें रोहित को विश्व का उत्पादक बताया है । इस सन्दर्भ में 'रोहित' पद से उदीयमान ताम्रवर्ण के सूर्य की विवक्षा है । अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के पञ्चम सूक्त में सूर्य को ब्रह्मचारी के रूप में विश्वसर्जन के आदितत्त्व का प्रतीक माना है । बारहवें काण्ड के चौथे सूक्त में सूर्य को प्राणस्वरूप तथा नवें काण्ड के द्वितीय सूक्त में कामस्वरूप कहा है । अन्यत्र[1] सूर्य को काल कहकर सम्बोधित किया है । इन सब सम्बोधनों में विश्व की आद्यशक्तियों की ओर सङ्केत है । ग्यारहवें काण्ड के सप्तम सूक्त में 'उच्छिष्ट' अर्थात् यज्ञशेष भाग को भी परमात्मा का रूप दिया है । अथर्ववेद का यह भाग वस्तुतः ब्राह्मण साहित्य के ही सर्वथा अनुरूप है, अन्तर केवल इतना ही है कि इन सूक्तों की रचना पद्य में की है ।

अथर्ववेद के इस सङ्क्षिप्त विवरण को समाप्त करने से पूर्व वरुणसूक्त[2] का उल्लेख करना आवश्यक है । इस सूक्त के अन्तिम दो मन्त्र साधारण आथर्वण मन्त्रों की भाँति तन्त्रात्मक हैं और उनमें वरुणपाश द्वारा शत्रु को आबद्ध करने के ही प्रयोग हैं; परन्तु शेष मन्त्रों में परमेश्वर की सर्वात्मकता का ऐसा भव्य

और दारुण रणभूमि में शूरता के साथ युद्ध करते हैं और जहाँ दुन्दुभि बजती रहती है, वही पृथ्वी हमारे शत्रुदल को अस्तव्यस्त कर दे और हमें सर्वत्र निस्सपत्न बना दे । (अथर्व. १२-१-४१)

(ख) पृथ्वी माता एकान्त कुहरों में निहित अपनी निधि प्रदान कर मुझे सम्पन्न बना दे, पृथ्वी मुझे सम्पत्ति दे, सुवर्ण एवं रत्न दे; मुझे उदारता पूर्वक विविध धनधान्य से परिपूर्ण बना कर, वह परम दयालु देवी मुझे विपुल वस्तु से समृद्ध कर दे । (अथर्व. १२-१-४४)

१. अथर्व. — काण्ड ५३, सूक्त ५४ ।

२. अथर्व. — काण्ड ४, सूक्त १६ ।

वर्णन है जैसा वैदिक साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इन मन्त्रों में ये निम्नाङ्कित तीन उद्धरण सम्भवतः सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होते हैं—

[1]'उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ
उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी
उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः॥ क॥
उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तात्
न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य
सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥ ख॥
सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे
यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।
सङ्ख्याता अस्य निमिषो जनाना-
मक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि'॥ ग॥

---

१. (क) यह समस्त भूवलय वरुण राजा का साम्राज्य है, उसका अधिकार दूर तक प्रसृत गगन मण्डल तक है। वरुण की कुक्षियाँ ये दो समुद्र हैं, तब भी वह इस जल विन्दु में समाया हुआ है। (अथर्व. ४-१६-३)
(ख) चाहे कोई व्योममण्डल का भेदन कर भाग ही जाय तो भी वह महाराज वरुण की निगाह से बच नहीं सकता। उसके चर वहाँ भी हैं जो आकाश से उतरते हुए, अपने सहस्र नयनों द्वारा सकल पृथ्वी लोक का पर्यवेक्षण करते रहते हैं। (अथर्व. ४-१६-४)
(ग) द्यावा-पृथिवी के अन्तराल में स्थित समस्त भूतजात को राजा वरुण देखता रहता है; उसकी दृष्टि उससे भी परे दौड़ती है। मानव के प्रत्येक निमेष को वह गिनता रहता है और जुआरी जिस तरह अपने पासे रखता है उसी तरह वह अपनी प्रत्येक नीति को निर्धारित करता रहता है। (अथर्व. ४-१६-५)

अध्याय ८

ब्राह्मण

(ई० पू० ८००–५००)

वैदिक संहिताओं के युग के पश्चात् ऐसा एक युग आया जिसमें बिल्कुल भिन्न प्रकार के साहित्य की रचना हुई। इस द्वितीय युग में अनेक धार्मिक ग्रन्थ रचे गये, जो ब्राह्मण नाम से ख्यात हैं। इन ग्रन्थों की एक विशेषता यह है कि उनकी रचना गद्य में हुई और उनका प्रतिपाद्य विषय यज्ञिय प्रयोग-विधान है। इन ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य यागादि अनुष्ठानों से परिचित जन-समूह को प्रयोग के धार्मिक महत्त्व को समझाने का था। इनमें दिया हुआ वर्णन सर्वतः परिपूर्ण नहीं है, बहुत कुछ अंश छोड़ दिया गया है या संक्षेप में कहा गया है। जो भी मुख्यतः ये प्रयोगों के विधायक ग्रन्थ हैं, तथापि इनका लक्ष्य यज्ञों की प्रक्रिया से अपरिचित व्यक्तियों को अनुष्ठान का पूरा स्वरूप समझाने का नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित विषय तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :— एक, विधि-भाग — जो यज्ञ करने के प्रयोगसम्बन्धी नियमों को बताता है; दूसरा, अर्थवाद — जिसमें उपाख्यान तथा प्रशंसात्मक कथाओं के द्वारा प्रयोग का सूक्ष्म रहस्य समझाया है; और तीसरा, उपनिषद् — जिसमें आध्यात्मिक तथा अन्य दार्शनिक विचारों का समावेश है। बहुत कुछ अंश इस साहित्य का लुप्त हो गया है, तथापि जो कुछ उपलब्ध है वह भी बहुत विस्तृत साहित्य है। हमें निबन्ध-ग्रन्थों में अनेक अनुपलब्ध ब्राह्मणों के उद्धरण तथा नाम मिलते हैं जिससे पता चलता है कि उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों की अपेक्षा और भी अधिक ग्रन्थ थे जो आज लुप्त हैं। ये ग्रन्थ उस युग की भावनाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं जिसमें जनता का सम्पूर्ण बौद्धिक व्यापार यज्ञ-यागादि पर केन्द्रित था। अनुष्ठानों का सविस्तर वर्णन, उनकी महत्ता का विवेचन, तथा उनकी उत्पत्ति और फल के सम्बन्ध में विचार करना ही उस समय के विद्वानों का लक्ष्य रहा। यह मानना युक्तियुक्त है कि ऐसा युग, जिसमें और किसी प्रकार के साहित्य की रचना न हुई, अवश्य ही चिरकाल तक चलता रहा होगा; कारण, यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थ

स्वरूपतः बहुत कुछ एक जैसे हैं तथापि उनके रचना-काल में भेद स्पष्ट लक्षित होता है। यजुर्वेद के गद्य भाग के पश्चात् पञ्चविंश और तैत्तिरीय ब्राह्मण ऐसे ग्रन्थ हैं जो उनकी शब्दावली तथा वाक्य-रचना के आधार पर ब्राह्मण-ग्रन्थों में सबसे पुरातन कहे जा सकते हैं। यह ऊह इससे और अधिक प्रमाणित होता है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण का पाठ सस्वर मिलता है और कहा जाता है कि पञ्चविंश का पाठ भी स्वराङ्कित ही था। उसके पश्चात् रचित ब्राह्मणों के वर्ग में जैमिनीय, कौषीतकि और ऐतरेय ब्राह्मण हैं। उस वर्ग में जैमिनीय सबसे पुराना है और तीसरा कम से कम भाषा के आधार पर तो उनमें सबसे परवर्ती कहा ही जा सकता है। शतपथब्राह्मण इनसे भी बाद की रचना है; कारण, इसका प्रतिपाद्य विषय बहुत प्रगतिशील है और ऐतरेय ब्राह्मण की अपेक्षा इसमें क्रियापदों के लकारों का प्रयोग बहुत कुछ अर्वाचीन प्रतीत होता है; उसकी शैली भी पूर्वोक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों की तुलना में निश्चय ही अधिक परिमार्जित एवं विकसित है। यद्यपि इसका पाठ भी स्वरों से अङ्कित है तथापि कहना होगा कि इसकी स्वर-प्रक्रिया वैदिक प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है। अथर्ववेद का गोपथब्राह्मण तथा सामवेद से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ छोटे-छोटे ब्राह्मण सबसे परवर्ती हैं।

ब्राह्मणों की भाषा

ब्राह्मण-ग्रन्थों में शब्दरूप ऋग्वेद की अपेक्षा बहुत ही सीमित हैं। लेट् लकार का प्रयोग इनमें भी पाया जाता है और तुमुन्नन्त के कई प्राचीनरूप भी दीख पड़ते हैं। जहाँ तक वाक्य-विन्यास का सम्बन्ध है ये ग्रन्थ भारतीय प्राचीन शैली का प्रतिनिधित्व ऋग्वेद की अपेक्षा भी कहीं अधिक अच्छा करते हैं। कारण, ऋग्वेद की रचना छन्दों के नियमों से नियन्त्रित होने के कारण उस स्वच्छन्दता को न अपना सकी जिसे ब्राह्मण ग्रन्थों को प्रयोग में लाने के लिये पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी कुछ गाथाएँ अवश्य हैं जो गद्यभाग से भिन्न प्रकार की हैं। इन गाथाओं की भाषा में अपनी निजी विशेषता है और वे कहीं अधिक आर्ष प्रतीत होती हैं। गाथाओं से मिलती-जुलती एक उल्लेखनीय पद्यबद्ध रचना भी इस युग की मिलती है। वह है सुपर्णाध्याय, जो वैदिक रचनाओं के युग के बीत जाने पर वैदिक सूक्तों की शैली में नूतन रचना करने का प्रयास है। इसमें कई वैदिक प्रयोग मिलते हैं और इसका पाठ भी सस्वर है। परन्तु इसका असली स्वरूप न केवल अनेक अर्वाचीन प्रयोगों से ही,

परन्तु वैदिक शैली के असफल अनुकरण के कारण उपस्थित अनेक भयङ्कर त्रुटियों से भी प्रकट हो जाता है।

आरण्यक

द्वितीय युग के विकास का एक और सोपान है—आरण्यक साहित्य। 'ये रचनाएँ परवर्ती युग की हैं'—यह बात उनके दार्शनिक स्वरूप तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तिम भाग होने के कारण प्रमाणित होती है। ये ग्रन्थ सामान्यतः उन धार्मिक व्यक्तियों के लिये हैं जो यज्ञयागादि से विरत हो अरण्य में अपना काल-क्षेप करते हैं। आचार्य ओल्डेनबर्ग का मत है कि आरण्यक ग्रन्थ वे हैं जिनका प्रतिपाद्य सूक्ष्म अध्यात्मवाद होने के कारण वे गुरु द्वारा वन के एकान्त वातावरण में ही अधिकारी शिष्य को दिये जा सकते थे। नगर का वातावरण आरण्यकों में प्रतिपादित गूढ़ विद्या की प्राप्ति के लिये योग्य समझा नहीं जाता था।

आरण्यकों का प्रतिपाद्य तथा शैली उपनिषदों की रचना के सन्धिकाल को प्रकट करती हैं। वास्तव में उपनिषद् आरण्यकों का ही भाग है। अधिकतर वह तो अन्तिम अध्याय है। 'उप + नि + षद्' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'निकट बैठना' होता है जिसका तात्पर्य निःसन्देह गुप्त सत्र से है। क्रमशः यह शब्द 'गुह्य सिद्धान्त या आध्यात्मिक रहस्य' इस अर्थ को प्रकट करने लगा। सम्भवतः ये ग्रन्थ समावर्तन के पश्चात् कुछ चुने हुए शिष्यों को ही पढ़ाये जाते थे। ये ऐसे प्रवचन होते थे जिनमें अधिक संख्या का प्रवेश मना था। उपनिषदों में जगत् की सृष्टि तथा अन्य भौतिक पदार्थों के स्वरूप पर, एवं ईश्वर-तत्त्वपरक सूक्ष्म दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन है। अत एव ये ग्रन्थ ब्राह्मण साहित्य के विकास की अन्तिम दशा के द्योतक हैं। उपनिषदों का सन्निवेश प्रायः ब्राह्मणों के अन्तिम भाग में पाया जाता है अतः उन्हें वेदान्त भी कहते हैं। 'वेदान्त' यह पद वेद के चरम लक्ष्य की ओर सङ्केत करता है। श्रुति अर्थात् स्वयं आविर्भूत ग्रन्थ-राशि के अन्तर्गत उपनिषदों का भी स्थान है, परन्तु सूत्रों की गणना स्मृति में ही की जाती है। प्राचीन उपनिषदों का प्रतिपाद्य तत्त्वतः एक ही है — 'आत्मा अथवा ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन'। इस परम रहस्य का विवरण भिन्न-भिन्न प्रकार से वेद की अनेक शाखाओं में पाया जाता है, और वास्तव में उपनिषद् इन्हीं

वैदिक शाखाओं के सिद्धान्त-ग्रन्थ हैं; ठीक उसी तरह, जिस तरह ब्राह्मण ग्रन्थ उन-उन शाखाओं के प्रयोगपरक ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।

आरण्यक और उपनिषद् भाषा-विकास के उस स्तर को प्रकट करते हैं जो लगभग लौकिक संस्कृत से बहुत कुछ निकट हैं। प्राचीन उपनिषद् भाषा की दृष्टि से ब्राह्मण-युग एवं सूत्र-युग के मध्यस्थ हैं।

ऋग्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण

ऋग्वेद से सम्बद्ध दो ब्राह्मण-ग्रन्थ मिलते है जिनमें ऐतरेय ब्राह्मण अधिक महत्त्व का है। इस ग्रन्थ की उपलब्ध प्रति में ४० अध्याय हैं जो पाँच-पाँच परिच्छेदों की आठ पञ्चिकाओं में विभक्त हैं। इस ग्रन्थ के अन्तिम दस अध्याय बाद की योजना है — यह अन्तःसाक्ष्य से ही प्रमाणित हो जाता है। इसका एक और प्रमाण यह भी है कि ऐतरेय से बहुत निकट सम्बन्ध रखनेवाले शाङ्खायन ब्राह्मण में ऐतरेय के अन्तिम अध्यायों में वर्णित विषय उपलब्ध नहीं होता जो केवल शाङ्खायन सूत्र में ही पाया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण के पिछले तीन अध्याय पहिले पाँच अध्यायों की अपेक्षा बाद की रचना प्रतीत होती हैं; कारण, इनमें लिट् लकार का प्रयोग परोक्षार्थ की सीमित परिधि में किया जाता है, जब कि पहिले पाँच अध्यायों में लिट् का प्रयोग प्राचीन ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाँति वर्तमानकालिक अपरोक्ष अर्थ में भी मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण का मुख्य भाग सोमयाग से सम्बन्ध रखता है। सबसे पहिले, इसमें अग्निष्टोम का विधान है जो एक दिन का प्रयोग होता है। उसके बाद 'गवामयन' का विवरण है जो ३६० दिन का प्रयोग है। उसके बाद द्वादशाह का वर्णन मिलता है। अगले भाग का विषय अग्निहोत्र है। साथ ही साथ तत्सम्बन्धी अन्य पूरक विषयों का भी विवेचन है। अन्तिम भाग में राज्याभिषेक तथा कुलपुरोहित पद का विवरण है जो इस भाग के परवर्ती होने का लक्षण हैं।

ऋग्वेद से सम्बद्ध दूसरा ब्राह्मण कौषीतकि अथवा शाङ्खायन है। इसमें ३० अध्याय हैं। इसका प्रतिपाद्य विषय लगभग ऐतरेय के मौलिक अंश जैसा ही है; परन्तु विषय का वर्णन कुछ अधिक सविस्तर है। प्रथम अध्याय में अग्नि के आधान-सम्बन्धी नियम हैं। साथ ही साथ प्रातः-सायं सवनविधि देकर अग्निहोत्र का प्रयोग बताया है, तत्पश्चात् दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य इष्टियों का विवरण है। इस ग्रन्थ में भी सोमयाग ही प्रधान विषय है।

कौषीतकि ब्राह्मण में प्रयोग-विधि का निश्चित स्वरूप तथा क्रमबद्ध विवरण प्रकट करता है कि इसकी रचना ऐतरेय ब्राह्मण के पहले पाँच अध्यायों के पश्चात् हुई होगी। परन्तु यह निर्णय उभय ग्रन्थों के भाषा-सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन से सर्वथा प्रमाणित नहीं होता। कौषीतकि ब्राह्मण के एक अंश में 'ईशान' और 'महादेव' पदों का प्रयोग पाया जाता है। सन्दर्भ के आधार पर ये शब्द वहाँ 'उत्तम' के वाचक हैं जिनका प्रयोग परवर्ती साहित्य में शिव के लिये ही हुआ है। इस आधार पर आचार्य वेबर का तर्क है कि कौषीतकि ब्राह्मण उस युग की रचना है जिसमें शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अन्तिम अध्याय, अथर्ववेद तथा शतपथ ब्राह्मण के वे भाग जिनमें शिव के अर्थ में 'ईशान' और 'महादेव' पदों का प्रयोग मिलता है, रचे गये थे।

इन ब्राह्मण ग्रन्थों में भौगोलिक विषय बहुत ही स्वल्प है। ऐतरेय ब्राह्मण में जिन भारतीय जातियों का उल्लेख है, उनके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ग्रन्थ कुरु-पाञ्चाल में रचा गया था। कुरु-पाञ्चाल वही प्रदेश है जहाँ वैदिक कर्मकाण्ड ने प्रगति पाई और जहाँ ऋग्वेद के सूक्त सम्भवतः वर्तमान संहिता के रूप में सङ्कलित किये गये थे। कौषीतकि ब्राह्मण के अध्ययन से पता चलता है कि संस्कृतभाषा का अध्ययन विशेषतः उत्तर भारत में अधिक प्रचलित था और वहाँ से पढ़कर आये हुए विद्यार्थी भाषा-सम्बन्धी प्रश्नों पर प्रमाण माने जाते थे।

इन ब्राह्मणों ग्रन्थों में प्रतिपादित अनेक कथाएँ और उपाख्यान विशेषकर रोचक हैं। सबसे लम्बी और उल्लेखनीय कथा ऐतरेय ब्राह्मण में शुनश्शेप (कुत्ते की पूँछ) की कहानी है। सप्तम अध्याय के तृतीय अंश में यह आख्यान निम्नलिखित रूप में दिया हुआ है :—

"महाराज हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र न था। उन्होंने व्रत लिया 'यदि मेरे पुत्र हो तो मैं उसे वरुणदेव को अर्पण कर दूँगा'। परन्तु जब उनके पुत्र, राजकुमार रोहित का जन्म हुआ तो वह अपने व्रत को पूरा करने की अवधि आगे बढ़ाते ही रहे। आख़िरकार जब राजकुमार बड़े हो गये तब वरुणदेव के आग्रह करने पर महाराज ने बलि-समर्पण करने की तैयारियाँ शुरू की, परन्तु रोहित जंगल में भाग निकले और छः वर्ष तक इधर-उधर घूमते रहे। इस बीच उनके पिता, वरुण के अभिशाप से, अपस्मार के कारण पीड़ित रहे। आख़िर महाराज को एक ऐसा दरिद्र ब्राह्मण मिला जो राजकुमार के बदले अपने पुत्र शुनःशेप को सौ गाय लेकर बलिदान के लिये अर्पण करने को तैयार हो गया।

इस प्रस्ताव को वरुण ने भी यह कहकर स्वीकार कर लिया कि 'ब्राह्मण तो भलीं क्षत्रिय की अपेक्षा कहीं अच्छा है।' तदनन्तर शुनःशेप यूप से बाँध दिया गया। उसका जब बलि होने ही जा रहा था उस समय उसने क्रमशः निरन्तर विविध देवताओं की स्तुति प्रारम्भ की। ज्यों-ज्यों वह एक के बाद एक श्लोक देवता की स्तुति में कहने लगा त्यों-त्यों वरुण-पाश टूट-टूट कर गिरने लगा और महाराज हरिश्चन्द्र का शोथ भी घटने लगा। अन्ततः शुनःशेप पाशमुक्त हो गया और महाराज भी पुनः स्वस्थ हो गये।"

ऐतरेय ब्राह्मण की गद्य-शैली अपरिमार्जित, अस्पष्ट तथा बीच-बीच में टूटने वाली है, और कहीं-कहीं तो वाक्य-रचना अपूर्ण सी पाई जाती है।

शुनःशेप के आख्यान में अन्तर्निविष्ट पद्यों में से कुछ पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध गाथाओं के स्वरूप का निदर्शन करते हैं। ये पद्य देवर्षि नारद द्वारा महाराज हरिश्चन्द्र को पुत्र-महिमा के सम्बन्ध में सम्बोधित हैं :—

[1] 'ऋणमस्मिन् सन्नयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥ (क)
यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तोऽप्सु प्राणिनं भूयान् पुत्रे पितुस्ततः'॥ (ख)
शश्वत्पुत्रेण पितरोऽत्यायन् बहुलं तमः।
आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी॥ (ग)
अन्नं हि प्राणाः शरणं ह वासो, रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता, ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्॥ (घ)

---

१. (क) पिता पुत्र के द्वारा अपने पितृ-ऋण से मुक्त होता है। जब वह जीवित अवस्था में समुत्पन्न पुत्र का मुखावलोकन करता है तो वह अमृतत्व को प्राप्त कराने वाली गति के योग्य बन जाता है।

(ख) यावन्मात्र भोग, जो पृथ्वी-तत्त्व, अग्नि और जल-तत्त्व से उपलभ्य हैं उन सबको पुत्रवान् पिता पाता है।

(ग) पुत्र के द्वारा पिता अत्यन्त निबिड़ एवं निरन्तर नारकीय तम से बच जाता है, पुत्र आत्मज है और वह उसे पार लगाता है।

(घ) इस लोक में अन्न ही प्राण हैं, वस्त्र ही परिरक्षा है, सुवर्ण ही रूप है, पशु प्राप्ति का साधन विवाह है; पत्नी ही मित्र है, दुहिता ही दरिद्रता है और पुत्र ही आकाश की ज्योति है। (पञ्चिका ७-१३-४-६, ८)

ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बद्ध ऐतरेय आरण्यक है जिसमें १८ अध्याय हैं जो ५ मण्डलों में बराबर विभाजित हैं। पिछले दो मण्डल सूत्रशैली में निबद्ध हैं जो वस्तुतः सूत्र-साहित्य के अन्तर्गत ही मानने योग्य हैं। प्रथम तीन मण्डलों में चार भाग स्पष्टतः प्रतीत होते हैं। प्रथम मण्डल में केवल प्रयोग-विधि को दृष्टि में रखकर सोमयाग में विनियुक्त विविध मन्त्रों का सङ्ग्रह है। दूसरे मण्डल के तीन अध्यायों में तो केवल दार्शनिक विवेचन है — प्राण एवं पुरुष के नाम से विश्वात्मा के सम्बन्ध में विविध मतों का प्रतिपादन है। इन अध्यायों का प्रतिपाद्य उपनिषदों से बहुत कुछ मिलता है। इस आरण्यक में प्रतिपादित कुछ-कुछ महत्त्व के विचार तो बहुधा शब्दशः कौषीतकि उपनिषद् में ज्यों के त्यों दोहराये गये हैं।

द्वितीय मण्डल के चार प्रपाठक वस्तुतः तीसरा भाग कहा जा सकता है, जो ऐतरेय उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। अन्तिम भाग है तीसरा मण्डल, जिसमें वेद-पाठ की 'संहिता, पद और क्रम' ऐसी मुख्य तीन पद्धतियों का और वर्णमाला के विभिन्न अक्षरों का रहस्यवादी रूपकमय अर्थ प्रतिपादित है।

कौषीतकि ब्राह्मण से सम्बद्ध कौषीतकि आरण्यक है। उसमें १५ अध्याय हैं। पहिले दो अध्याय ऐतरेय आरण्यक के प्रथम एवं पञ्चम मण्डल के समानान्तर हैं। इसी तरह सातवाँ और आठवाँ अध्याय ऐतरेय आरण्यक के तृतीय मण्डल के समानान्तर हैं, और शेष, बीच के चार अध्याय (३-६), कौषीतकि उपनिषद् से लिये हुए हैं। कौषीतकि उपनिषद् बहुत लम्बा परन्तु बहुत रोचक ग्रन्थ है। ऐसा लगता है यह कौषीतकि आरण्यक के समाप्त हो जाने पर एक स्वतन्त्र रचना के रूप में जोड़ दिया हो; कारण, हस्तलिखित प्रतियों में यह उपनिषद् आरण्यक के साथ ही लिखा हुआ सर्वत्र पाया नहीं जाता।

सामवेद के ब्राह्मण

सामवेद की दो स्वतन्त्र शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण सुरक्षित हैं — एक है ताण्डियों का, और दूसरा तवलकार अथवा जैमिनियों का। इनके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो प्रयोगपरक ग्रन्थ कहलाते हैं। परन्तु वास्तव में उपर्युक्त ये तीन ग्रन्थ ही ब्राह्मण कहे जाने योग्य हैं। तवलकार ब्राह्मण का अधिकतर भाग अभी भी अप्रकाशित ही है। सम्भवतः इस ग्रन्थ में ५ अध्याय हैं। इसके पहले तीन अप्रकाशित अध्याय यज्ञिय विधि के विविध

अंशों का मुख्यतः प्रतिपादन करते हैं। चौथे अध्याय की संज्ञा उपनिषद् ब्राह्मण है, जो सम्भवतः 'रहस्यार्थ को प्रतिपादन करने वाला ब्राह्मण' — इस अर्थ को सङ्केतित करती है। इसमें आरण्यक की भाँति अनेक रूपकमय उक्तियाँ मिलती हैं। साथ ही साथ गुरुओं की दो परम्पराओं का भी उल्लेख है। इसमें प्राणवायु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक अनुच्छेद है, और एक सावित्री मन्त्र के सम्बन्ध में भी। इनके अतिरिक्त इसमें एक छोटा परन्तु बड़े महत्त्व का केनोपनिषद् भी है। पाँचवें अध्याय की संज्ञा आर्षेय ब्राह्मण है जिसमें सामवेद के रचयिताओं की संक्षिप्त परिगणना है।

ताण्ड्यशाखा का ब्राह्मण-ग्रन्थ पञ्चविंश है जिसे ताण्ड्य या प्रौढ़ ब्राह्मण भी कहते हैं। इस ग्रन्थ का नाम ही प्रकट करता है कि इसमें २५ अध्याय है। सामान्यतः सोमयाग का विविध विधान ही इसका मुख्य विषय है। इसमें छोटी से छोटी इष्टियों से लगाकर शतदिवसीय और अनेक वार्षिक यागों के प्रयोग बताये गये हैं। इसमें अनेक आख्यान भी हैं और सरस्वती तथा दृषद्वती के तट पर किये हुए अनेक यागों का सविस्तर वर्णन भी है। विषय के पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि इस ब्राह्मण में न केवल कुरुक्षेत्र ही, अपि तु सुदूर पूर्व के अनेक स्थानों का भी उल्लेख है। इससे यह पता चलता है कि इस ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रचार किन-किन स्थानों पर था। पञ्चविंश ब्राह्मण में सविशेष उल्लेखनीय अंश वह है जिसे 'व्रात्यस्तोम' कहते हैं। ये वे याग हैं जो ब्राह्मणेतर भारतीय आर्यों को ब्राह्मणवर्ग में प्रवेश प्राप्त करवाते हैं। इस ग्रन्थ में एक रोचक विषय वह है जिसमें कौषीतकि शाखा के साथ ताण्ड्यों का कटु वैमनस्य स्फुट रूप से प्रतीत होता है।

षड्विंश ब्राह्मण यद्यपि नामतः एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है तथापि वास्तव में वह पञ्चविंश का ही एक परिशिष्ट है। 'षड्विंश' — यह संज्ञा भी छब्बीसवाँ अध्याय होने का बोध कराती है। इसके अन्तिम छः प्रपाठक 'अद्भुत ब्राह्मण' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस भाग में अलौकिक अद्भुत घटनाओं और अपशकुनों के दुष्प्रभाव को शान्त करने की विधियाँ बताई हैं। अलौकिक घटनाओं में वे प्रसङ्ग अन्तर्गत हैं, जिनमें देवप्रतिमाएँ हँसती, चिल्लाती, गाती, नाचती, टूटती अथवा प्रस्खलित होती पाई जाती हैं।

इसी शाखा का एक और ब्राह्मण है जिसे छान्दोग्य ब्राह्मण कहते हैं। उसे तो कुछ ही अंशों में प्रयोग-प्रधान ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें सोमयाग की विधि का कहीं भी वर्णन नहीं, परन्तु जातकर्म, विवाह आदि

संस्कारों का विधान और देवताओं को सम्बोधित स्तुतियाँ हैं। सामवेदीय याजकों के इस ब्राह्मण ग्रन्थ के पहिले दो प्रपाठकों का विषय पूर्वोक्त है, शेष आठ प्रपाठक तो छान्दोग्य उपनिषद् ही है।

इसी वर्ग में परिगणित चार और छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं जो ब्राह्मण अवश्य कहलाते हैं परन्तु वास्तव में ब्राह्मण नहीं हैं। ये हैं — (१) सामविधान ब्राह्मण, जो हर प्रकार की मान्यताओं को लिये हुए विविध मन्त्रों के प्रयोग पर रचित ग्रन्थ है; (२) देवताध्याय ब्राह्मण, जिसमें सामवेद के अनेक सामों में वर्णित देवताओं के सम्बन्ध में विवरण है, (३) वंश ब्राह्मण, जिसमें सामवेद के ही गुरुओं की वंशपरम्परा है ; और (४) संहितोपनिषद्, जिसमें ऐतरेय आरण्यक के तृतीय अध्याय की भाँति वेदपाठ की पद्धति का विवेचन है।

सामवेद के ब्राह्मणों की विशेषता है कि उनमें अनेक अत्युक्तिपूर्ण और अजीब से रहस्यवादी विचारों का सङ्ग्रह मिलता है। उनका मुख्य लक्ष्य विविध सामों का अनेक प्रकार के आधिभौतिक और आधिदैविक विषयों से ऐक्य सम्पादन करना है। साथ ही साथ इन ब्राह्मणों में ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही रोचक सामग्री उपलब्ध होती है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण

कृष्ण यजुर्वेद की विभिन्न संहिताओं के गद्य भाग ही ब्राह्मण कहलाते हैं, और ये कठ और मैत्रायणी शाखा में ही पाये जाते हैं। तैत्तिरीय शाखा में सबसे प्राचीन और महत्त्व का ब्राह्मण मिलता है। हमें एक स्वतन्त्र ब्राह्मण के रूप में भी तैत्तिरीय ब्राह्मण उपलब्ध है, जिसमें ३ अध्याय हैं। वस्तुतः यह तैत्तिरीय संहिता के स्वरूप से किसी तरह भिन्न नहीं है; यह तो उसी का ही परिशिष्ट प्रतीत होता है। संहिता में न दिये हुए कतिपय यज्ञों का विधान तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है; साथ ही साथ संहिता में प्रतिपादित यज्ञों के प्रयोग की विधि का भी सविस्तर वर्णन है। तैत्तिरीय आरण्यक भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और वह भी ब्राह्मण का पूरक ग्रन्थ है। तैत्तिरीय आरण्यक के दस अंशों में से अन्तिम चार[1] तो तैत्तिरीय उपनिषद् के नाम से ख्यात हैं और उसका दसवाँ अंश महानारायण उपनिषद्

---

१. तै. आ. ७ से ९।

है जिसे याज्ञिकी उपनिषद् भी कहते हैं। इन चार अंशों को छोड़ ब्राह्मण और आरण्यक की संज्ञा प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से किसी तरह संहिता से भिन्न नहीं है; यह तो इतर वेदों का अनुकरण करते हुए परवर्ती एक कृत्रिम प्रतिरूप मात्र है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय अध्याय के अन्तिम तीन अंश, तथा तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम दो अध्याय मूलतः कठ शाखा से ही सम्बद्ध थे, परन्तु कठशाखा की परम्परा के अन्तर्गत वे सुरक्षित न रखे गये। 'इन अंशों का उद्गम कोई दूसरा है' — यह बात इससे प्रमाणित होती है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण और आरण्यक में जिस तरह यकार और वकार का क्रमशः 'इय्' और 'उव्' रूप बन जाता है उसी तरह पूर्वोक्त अंशों में नहीं पाया जाता। काठक अंशों में से एक में[1] नचिकेता नामक अग्नि की महत्ता को बताते हुए नचिकेतस् नामक ब्राह्मण शिशु की कथा कही गई है। वह शिशु यमपुरी में पहुँचा और यमराज ने उसे तीन वरदान दिया। यही कथा काठक उपनिषद् का आधार है।

मैत्रायणी संहिता से सम्बद्ध कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं है। परन्तु उसका चौथा अध्याय एक तरह ब्राह्मण ही समझा जाता है जिसमें पहिले तीन अध्यायों में वर्णित पदार्थ का विवेचन एवं स्पष्टीकरण है। इस संहिता से सम्बद्ध मैत्रायणोपनिषद् है जिसका उल्लेख किन्हीं पाण्डुलिपियों में संहिता के द्वितीय या पञ्चम अध्याय के रूप में दिया हुआ है।

शुक्ल यजुर्वेद में प्रतिपादित यागों की विधियों का सविस्तर विवरण असाधारण परिपूर्णता के साथ शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की संज्ञा इस कारण हुई कि इस ग्रन्थ में १०० अध्याय हैं। यही एक ऐसा ग्रन्थ है जो सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की परिधि में ऋग्वेद के बाद दूसरा परम महत्त्व का ग्रन्थ कहा जा सकता है। यह ग्रन्थ हमें दो पाठों में उपलब्ध है — एक माध्यन्दिन-शाखीय है, जिसका सम्पादन आचार्य वेबर ने किया, और दूसरा काण्वशाखीय, जिसका सम्पादन आचार्य एगिलिंग द्वारा प्रस्तुत है। माध्यन्दिन पाठ में १३ अधिकरण हैं जहाँ काण्वपाठ में सत्रह पाये जाते हैं। माध्यन्दिन शाखीय पाठ के पहिले ९ अंश वाजसनेयिसंहिता के मूल १८ अध्याय के समानान्तर हैं और वही भाग निश्चय प्राचीनतम है। १२वें अध्याय की

१. तै. ब्रा. ३-११।

संज्ञा 'मध्यम' है जिससे स्पष्ट है कि पिछले ५ अध्याय[1] किसी समय शतपथ ब्राह्मण का पृथक् अंश माने जाते थे। दशम अध्याय में वेदी के गूढ़तत्त्व पर विवेचन है जिसे 'अग्निरहस्य' कहते हैं; ११वाँ अध्याय तो केवल पूर्वोक्त विधियों का ही पुनर्विवेचन करता है; और १२वें तथा १३वें अध्याय में कई गौण विषयों की चर्चा है। शतपथ ब्रह्मण का अन्तिम अंश ही आरण्यक है जिसके अन्तिम ६ अध्याय बृहदारण्यक उपनिषद् के नाम से सङ्कलित हैं।

शतपथ ब्राह्मण के अध्याय ६ से १० तक की एक विशिष्ट स्थिति है। वेदि-निर्माण की चर्चा करते हुए कहा गया है कि शाण्डिल्य का मत ही उनके लिये सर्वोच्च प्रमाण है, याज्ञवल्क्य का तो नामतः उल्लेख भी नहीं है। शतपथ में जिन जातियों का वर्णन है वे ये हैं — गान्धार, शल्व और केकय जो पश्चिमोत्तर दिशा के रहनेवाले हैं। शेष अध्यायों में याज्ञवल्क्य ही सर्वोच्च प्रमाण बताये गये हैं और उनमें देश की पूर्वीय जातियों अथवा मध्य हिन्दुस्तान के निवासियों का उल्लेख है — कुरु-पाञ्चाल, कोशल, विदेह और सृञ्जय। शेष अंश से पूर्वोक्त ५ शाण्डिल्य अध्यायों की रचना भाषागत अन्तर के कारण स्पष्ट रूप से भिन्न लक्षित होती है और उस अन्तर को परवर्ती सम्पादन की कला किसी तरह दूर न कर सकी, उदाहरणार्थ — अतीत घटना के वर्णन के लिये लिट् का प्रयोग शाण्डिल्य अध्यायों तथा १३वें अध्याय में कहीं भी नहीं पाया जाता।

शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित भौगोलिक वर्णन यह प्रकट करता है कि उन दिनों भी ब्राह्मण-संस्कृति का केन्द्र कुरु-पाञ्चाल ही था। उस समय कुरुराज जनमेजय थे और उस युग के परम प्रतिष्ठित कुलगुरु आरुणि थे जो स्पष्टतः पाञ्चालवासी बताये गये हैं। तथापि यह विशद है कि ब्राह्मणधर्म तब तक इतरत्र भी फैल चुका था और मध्यदेश के पूर्वतन भाग में, कोशल और उसकी राजधानी अयोध्या, तथा विदेह (तिरहुत अथवा उत्तरी बिहार) और उसकी राजधानी मिथिला में प्रसार पा चुका था। विदेहराज जनक की सभा में कुरु-पाञ्चाल से आये हुए ब्राह्मणों का महान् समूह था। इन ब्राह्मणों के परस्पर वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ विवेचन ही शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्यायों का मुख्य विषय है। इन ब्राह्मणों के नेता याज्ञवल्क्य थे

१. सम्भवतः केवल १० से १३ तक।

जो स्वयं आरुणि के शिष्य थे। शतपथ ब्राह्मण के अध्याय ६–१० को छोड़ कर शेष भाग में सर्वत्र याज्ञवल्क्य ही अध्यात्मविद्या के प्रधान गुरु माने गये हैं। शतपथ ब्राह्मण में कुछ अंश ऐसे अवश्य हैं जो याज्ञवल्क्य के विदेह-वासी होने की अत्यधिक सम्भावना प्रस्तुत करते हैं। कारण, पूर्वी भारत के निवासी महर्षि याज्ञवल्क्य का मुख्य प्रामाण्य पश्चिम भारत के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के शास्त्रार्थ में पराजय के वर्णन से सिद्ध होता है जिससे हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँच सकते हैं कि शुक्ल यजुर्वेद का सम्पादन कहीं पूर्वी प्रान्त में ही हुआ होगा।

शतपथ ब्राह्मण में उन दिनों के स्मारक चिह्न अनेक उपलब्ध होते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उन दिनों तक विदेह पूर्णतः ब्राह्मण धर्म से प्रभावित न हो पाया था। उदाहरणार्थ,—प्रथम अध्याय में एक उपाख्यान ऐसा है जिसमें आर्यों के पूर्व दिशा में अभिगमन के तीन क्रम बताये गये हैं। विदेहराज माठव, जिनके कुलगुरु गौतम राहुगण थे, किसी समय सरस्वती के तट पर रहते थे। अग्निवैश्वानर, जो ब्राह्मणधर्म का एक प्रतीक है, वहाँ से प्रज्वलित हो पृथ्वी को दग्ध करता हुआ पूर्व की ओर आगे बढ़ा और उसके पीछे-पीछे माठव अपने कुलगुरु सहित गये और अन्त में वैश्वानर सदानीरा[1] नदी के तट तक पहुँचा और उसे वैश्वानर ने दग्ध न किया। पुराने युग में ब्राह्मण इस नदी को पार नहीं करते थे; कारण, उनकी मान्यता थी कि 'अग्निवैश्वानर ने इसे परिशोधित नहीं की थी।' उन दिनों पूर्वी प्रान्त की भूमि अनूप प्रदेश था और उसमें कृषि नहीं होती थी। परन्तु अब तो वहाँ कई ब्राह्मण हैं और उसमें ख़ूब खेती होती है। कारण, ब्राह्मणों ने यज्ञ-यागादि द्वारा वहाँ की उपज से अग्निदेव को बहुत तृप्त किया है। इस स्थल पर पहुँच कर वैदेह माठव ने अग्निदेव से पूछा, 'मैं कहाँ रहूँ ?' अग्निदेव ने उत्तर दिया, 'इस नदी के पूर्वी तट पर।' और आज भी यही नदी कोशल (अवध) तथा विदेह (तिरहुत) की सीमा समझी जाती है।

यह स्पष्ट है कि शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा ही प्रयोगविधि के विज्ञान में अपनी सर्वोपरिता का गौरव रखती है। कारण, प्रयोगकल्प का

१. सम्भवतः यह नदी आधुनिक गण्डक ही हो, जो गङ्गा नदी की सहायक नदी होकर पटना के निकट गङ्गा में मिल जाती है। यह नदी उत्तर के पहाड़ से निकलती है।

परिवर्धन पूर्वी भारत में ही हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में कई जगह चरकशाखा के अध्वर्यु नामक ऋत्विजों की निन्दा है। 'चरकशाखा' एक वह व्यापक शब्द है जिसके अन्तर्गत कृष्ण यजुर्वेद की तीन प्राचीनतर शाखाएँ — कठ, कपिष्ठल और मैत्रायणीय — अन्तर्गत हैं।

सर्वप्रथम बौद्धधर्म कोशल और विदेह में बद्धमूल हुआ, अतः शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित धर्म बौद्धधर्म के सिद्धान्तों के प्रादुर्भाव के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रख सका इसका अन्वेषण एक रोचक विषय है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि शतपथ ब्राह्मण में 'अर्हत्, श्रमण और प्रतिबुद्ध' — ये शब्द सर्वप्रथम प्रयोग में आये हैं, परन्तु इस समय तक इन शब्दों का वह पारिभाषिक अर्थ रूढ़ न हो पाया था जो बौद्ध-साहित्य में पाया जाता है। साथ ही साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित गुरु परम्परा में बारंबार गौतमों का उल्लेख है और गौतम कपिलवस्तु के शाक्य राजाओं का गोत्र है जिसमें बुद्ध का जन्म हुआ था। शतपथ ब्राह्मण में सांख्य सिद्धान्त के प्रारम्भिक रूप की ओर सङ्केत मिलता है। उसमें आसुरि का कई बार उल्लेख है और सांख्य के प्रवर्तक आचार्यों की परम्परा में आसुरि का नाम प्रमुख है। यदि हम परवर्ती पौराणिक कथाओं के आधार की खोज शतपथ ब्राह्मण में दी हुई कथाओं में करने का यत्न करें तो हमें महाभारत के कौरव राजा जनमेजय का सर्वप्रथम उल्लेख वहीं मिलता है। महाभारत के युद्ध में विजयी पाण्डवों का वर्णन शतपथ में इतर ब्राह्मणों की अपेक्षा तनिक भी अधिक नहीं मिलता; कारण, पाण्डवों के प्रमुख वीर अर्जुन तब तक इन्द्र का ही नामान्तर समझा जाता था। परन्तु चूंकि महाभारत का अर्जुन इन्द्रसुत है इस संज्ञा की उत्पत्ति निश्चय ही इन्द्र के पर्यायवाचक शब्द से ही मानी जा सकती है। विदेह के राजा जनक रामायण की चरित्र-नायिका सीता के पिता जनक से अभिन्न कहे जा सकते हैं।

लौकिक साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकवि कालिदास द्वारा रचित दो नाटकों की कथा-वस्तु के आधारभूत शतपथ के दो आख्यान हैं जिनमें से एक का विवरण सविस्तर है और दूसरे का उल्लेखमात्र पाया जाता है; महाराज पुरूरवा और उर्वशी की प्रेमगाथा ऋग्वेद के एक सूक्त में अवश्य सङ्केतित है परन्तु उसका सविस्तर वर्णन शतपथ में ही उपलब्ध होता है। शाकुन्तलेय दुष्यन्त-पुत्र भरत का वर्णन भी शतपथ ब्राह्मण में मिलता है।

सबसे रोचक कथानक तो जलविप्लव का है जिसका वर्णन महाभारत में एक बार और पाया जाता है। वस्तुतः विप्लव की कथा भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम शतपथ में ही मिलती है, जो भी उस ओर सङ्केत अथर्ववेद में भी है और वह कथा अवेस्ता में भी पाई जाती है। इस कथा का मूल सेमेटिक माना जाता है। इस कथा में उस प्रसङ्ग का वर्णन है जब महाराज मनु को एक छोटी मछली मिली थी जिसने उनसे परित्राण की प्रार्थना की थी और उन्हें आते हुए जलविप्लव से बचाने का अभिवचन दिया था। इस मत्स्य के कथनानुसार महाराज मनु ने एक जहाज़ बनवाया जिसमें वे विप्लव के उठते ही घुस गये और मत्स्य ने उस जहाज़ को उत्तरी पर्वत की ओर ले जाकर उसके शिखर से बंधवा कर खड़ा करवा दिया था। अन्त में, वही मनु मानव-सन्तान के जनक माने जाते हैं जिनकी उत्पत्ति उनकी दुहिता के द्वारा हुई।

वस्तुतः शतपथ ब्राह्मण में अनेक उल्लेखनीय कथानक एवं महत्त्व की सामग्री दृष्टिगोचर होती है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि यह ब्राह्मण युग की अन्तिम अवस्था की रचना है। अन्य ब्राह्मणों की तुलना में उसकी शैली प्रगतिशील है और कहीं अधिक स्पष्ट और प्रसादगुण से सम्पन्न है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों में वर्णित यज्ञयागादि विधि का विवरण शतपथ ब्राह्मण में कहीं अधिक क्रमबद्ध एवं सुस्पष्ट है। आध्यात्मिक विवेचन भी इस ग्रन्थ में इतर ब्राह्मणों की अपेक्षा कहीं अधिक सविस्तर है। इसमें एक, अखण्ड स्वरूप का विवेचन अधिक विकसित है। शतपथ ब्राह्मण का उपनिषद् भाग तो वैदिक दर्शन में सर्वश्रेष्ठ रचना कही जा सकती है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण

अथर्ववेद से सम्बद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ 'गोपथ-ब्राह्मण' है; परन्तु संहिता के साथ इसका कोई विशेष सम्बन्ध लक्षित नहीं होता। गोपथ-ब्राह्मण में दो भाग हैं: पहिले में ५ और दूसरे में ६ अध्याय हैं। दोनों ही भाग बहुत कुछ परवर्ती प्रतीत होते हैं; कारण, उनकी रचना वैतानसूत्रों के पश्चात् हुई और उनका आथर्वण परम्परा से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता। प्रथम भाग का प्रतिपाद्य विषय किसी भी प्रयोग कल्प में वर्णित क्रम के न तो अनुरूप और न अनुसार ही है, परन्तु अधिकांश नया है। गोपथ-ब्राह्मण के पूर्वार्ध का शेष भाग प्रायः शतपथ ब्राह्मण के ११–१२ वें अध्याय से परिगृहीत है, और कुछ विषय तो ऐतरेय ब्राह्मण से लिया हुआ है। इस अंश का मुख्य लक्ष्य अथर्ववेद की महिमा तथा यज्ञ में 'ब्रह्मा' नाम के चौथे

ऋत्विज के महत्त्व का वर्णन है। इसमें महादेव शिव का उल्लेख मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि गोपथ ब्राह्मण ब्राह्मण-युग की अपेक्षा कहीं वेदोत्तर काल की रचना है। 'अथर्ववेद की संहिता में २० काण्ड हैं' — यह धारणा, तथा भाषागत व्याकरण के विकसित रूपों का प्रयोग निश्चय ही गोपथ की परवर्तिता के प्रमाण हैं। गोपथ ब्राह्मण का उत्तरार्ध इतर ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसमें वैतानश्रौतसूत्र में विवेचित यज्ञिय विधि का बिवरण बहुत कुछ सुसम्बद्ध रीति से प्रतिपादित है; तत्रापि यह कहना होगा कि वह सङ्कलनमात्र है। ब्राह्मण और सूत्रों के मध्य सामान्यतः वर्तमान पूर्वापर सम्बन्ध यहाँ विपरीत पाया जाता है। कारण, गोपथब्राह्मण का उत्तरार्ध वैतान सूत्रों पर आधारित है जो वस्तुतः गोपथ के लिये लगभग संहिता तुल्य ही माना जाता है। हम कह चुके हैं कि इस भाग में प्रतिपादित विषय का दो-तृतीयांश प्राचीन ग्रन्थों से लिया हुआ है। ऐतेरय और कौषीतकि ब्राह्मण से बहुत कुछ अंश उद्धृत हैं और उनसे कुछ कम अंश मैत्रायणीय और तैत्तिरीय संहिता से परिगृहीत है। कुछ सन्दर्भ शतपथ से, तथा पञ्चविंश ब्राह्मण से भी लिये हैं।

उपनिषद्

उपनिषद् सामान्यतः ब्राह्मण भाग के ही अन्तर्गत माने जाते हैं। कारण, ब्राह्मण भाग का वह ज्ञानकाण्ड है; तथापि उपनिषद् वस्तुतः एक नवीन धर्म के प्रवर्तक हैं जो कर्मकाण्ड के साथ तत्त्वतः विरुद्ध है। उपनिषदों का लक्ष्य ऐहिक सुखप्राप्ति तथा विधिवत् यज्ञ द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट कर परलोक में सुख प्राप्त करना नहीं है। उपनिषदों का लक्ष्य तो अपने भौतिक अस्तित्व को यथार्थ ज्ञान के द्वारा अथवा जीव और ब्रह्म के ऐक्य के द्वारा समाप्त करना है। अतः उपनिषदों में यागादि की निरर्थकता और अध्यात्मज्ञान की महत्ता स्थापित की गई है।

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य परब्रह्म के स्वरूप का विवेचन है। ऋग्वेद में प्रतिपादित पुरुष के स्वरूप के विकास की चरमावस्था उपनिषदों में पाई जाती है, जहाँ विश्व-पुरुष को प्रत्यगात्मा का रूप प्राप्त होता है और जहाँ जगत्स्रष्टा जगत्पति का मूर्त्तस्वरूप अखिलाधार परब्रह्म के अमूर्तरूप में विकसित हुआ है। ऋग्वेद में 'आत्मन्' शब्द वायु का पर्यायवाची है — उदाहरणार्थ मरुत् को वरुण का आत्मा कह कर सम्बोधित किया है। यही शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में जीवात्मा का वाचक है। ब्राह्मणों में प्रतिपादित विचारों में आत्म-

शब्द का प्रयोग 'प्राण' के अर्थ में मिलता है जिन्हें देवरूप माना गया है और क्रमशः 'आत्म' शब्द धीरे-धीरे 'विश्वव्यापी' का बोधक हो गया। शतपथ ब्राह्मण के पिछले अध्यायों में आत्म शब्द एक सूक्ष्म विभु पदार्थ का वाचक बताया गया है। इसे सर्वव्यापी कहा है (१०।६।३)। ऋग्वेद का 'ब्रह्मन्' शब्द केवल स्तुति या प्रार्थना का बोधक है और प्राचीन ब्राह्मणों में भी यह 'उस सर्वव्यापिनी पवित्रता का बोध कराता है जो स्तुति, ऋत्विज् एवं यज्ञ में आविर्भूत है'। उपनिषदों में तो ब्रह्म शब्द प्रकृति को अनुप्राणित करनेवाले सत्त्वांश का प्रतिपादक है। इस शब्द का लम्बा इतिहास है, और यह शब्द अन्ततः भारतीय धार्मिक विचार के विकास का एकमात्र प्रतीक है। आत्मा और ब्रह्म आगे चल कर उपनिषदों में एक दूसरे के पर्याय हो गये हैं। परन्तु वस्तुतः, प्राचीन शब्द 'ब्रह्म' समस्त जगत् में व्याप्त विश्व-तत्त्व का प्रतीक है और मानव के रूप में अभिव्यक्त आध्यात्मिक अंश का प्रतीक 'आत्मन्' शब्द है। अर्थात् 'आत्मन्' वह व्यक्तरूप है जो अव्यक्त ब्रह्म का प्रतिपादक है। 'आत्मन्' को 'अक्षर' कहा गया है जिसका निम्नलिखित वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है :—

'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशम-सङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्रमाणमसुखमात्र-मनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। तद्वा एतद-दृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातम्। नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्या-काश ओतश्च प्रोतश्च'।[1]

यह मानव विचारधारा में पहिला प्रसङ्ग है जहाँ परब्रह्म का स्वरूप समझा और बताया गया है।

---

१. 'वह न महान् है और न सूक्ष्म, न लघु है न दीर्घ; न उसमें रक्त है और न भेद ही है; न उसकी छाया है और न अन्धकार; न उसमें प्राणवायु है और न आकाश; न वह देखा जा सकता है न उसका स्पर्श ही किया जा सकता है; न उसमें गन्ध है न रस; न उसके आँखें हैं और न कान, न शब्द है न मन और न गर्मी; न उसके मुख है न श्वास; न उसका व्यक्तिगत नाम है और न गोत्र है; वह अजर है, अमर है, अभय है और अविनाशी तथा रजोहीन है; न स्फुट है न पिहित; न उसके पहिले

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में सुन्दर काव्यमय वर्णन काठकोपनिषद् में निम्नलिखित प्रकार से दिया है —

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवा सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥[1]
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥[2]
नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवन्तोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥[3]

प्रजापति के मूर्तरूप का स्थान उपनिषदों में जगत्स्रष्टा के रूप में 'आत्मन्' ने ग्रहण किया है। बृहदारण्यक (१।४) में कहा है कि पहिले अकेला आत्मा अथवा ब्रह्म ही अखिल था। वह इस अकेलेपन से खिन्न होकर किसी तरह सुख का अनुभव नहीं करता था। अत एव एक और व्यक्ति के होने की इच्छा से प्रेरित हो उसने अपने आप को स्त्री और पुमान् के रूप में द्विधा

कोई था, न कोई पीछे और न कोई अन्तराल में ही; वह न किसी का भोग करता और न उसका कोई भोग ही करता। वह अदृष्ट द्रष्टा है, अश्रुत श्रोता है, अमत मन्ता है और अज्ञात ज्ञाता है। उसके सिवाय न कोई द्रष्टा है न श्रोता, न मन्ता और न विज्ञाता है। हे गार्गि! वह नित्य है जिसमें आकाश ओतप्रोत है और जो आकाश से ओतप्रोत है।' (बृह. उप. ३-८; ८-११)

१. 'यह वह है जहाँ से सूर्यमण्डल उदित होता है और जहाँ अस्त होता है; उसमें सब देवता समाये हुए हैं, उसका पार कोई नहीं पा सकता। (काठक ४-९)

२. 'उसका रूप अगोचर है, न कोई उसे आँखों से देख सकता है; उसे हृदय और मन तथा आत्मा के द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है और जो उसे जान लेता है वह अमर हो जाता है।' (काठक ६-९)

३. 'चूंकि न वाणी न मन और न दृष्टि का वह विषय है; और कैसे वह जाना जा सकता है, सिवाय इसके कि यह कहा जाय कि 'वह है'। (काठक ६-१२)

विभक्त किया। इसी युगल से समस्त मानव जाति की उत्पत्ति हुई। इसी तरह प्राणिवर्ग में भी उसने स्त्री एवं पुमान् के रूप में द्विधा सृष्टि की, और अन्त में जल, अग्नि, देवता आदि का सर्जन किया। उपनिषत्कार आगे चल कर और भी उदात्त वर्णन करने लगते हैं—

स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये वा तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्पश्यँश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तस्यैतानि कर्मनामान्येव स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति।[1]

परवर्ती उपनिषदों में से श्वेताश्वतर एक ऐसा उपनिषद् है जिसमें वेदान्त दर्शन का मूलाधार मायावाद पहिली बार प्रकट हुआ है।* मायावाद से तात्पर्य है — 'अखिल जगत् की सृष्टि ब्रह्म की माया से हुई है'। वस्तुतः यह धारणा प्राचीन उपनिषदों में भी संकेतित है। तत्त्वतः यह विचार प्लेटो के उपदेशों के समकक्ष है जिसमें बताया है कि सांसारिक अनुभूति के समस्त विषय सद्वस्तु की छायामात्र हैं। मायावाद काण्ट के सिद्धान्त जैसा ही है जिसमें दृश्य पदार्थों को सद्वस्तु का प्रतिरूप या छायामात्र बताया है।

उपनिषदों का सबसे महत्त्व का मौलिक सिद्धान्त है — आत्मा और परमात्मा का ऐक्य। इस सिद्धान्त की घोषणा छान्दोग्य उपनिषद् की सुप्रसिद्ध श्रुति में मिलती है :—

---

१. 'आत्मा नखशिखान्त सर्वव्यापी है। उसे सम्पुट में रखे हुए शस्त्र के या पात्र में पिहित अग्नि की तरह कोई देख नहीं सकता; कारण, वह समय रूप में दिखाई नहीं देता। जब वह साँस लेता है तो प्राण कहते हैं; जब वह बोलता है तो उसे शब्द कहते हैं, जब वह सुनता है तो उसे कान कहते हैं और जब वह मनन करता है तो उसे मन कहते हैं। ये सब शब्द उसकी क्रियाओं के ही नाम मात्र हैं। जो कोई इनमें से एक या अनेक रूपों का ध्यान करता है उसे यथार्थ ज्ञान नहीं है।...उसे तो आत्मरूप में ही ध्यान करना चाहिए, कारण उसी में प्राणादि सकल तत्त्व निहित हैं।' (बृह. उप. १-४-)

* श्वेत. उप. ४-१०।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद्ँ सर्वं तत्सत्य्ँ
स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा ।[1]

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में समस्त उपनिषदों का सारांश प्रतिपादित है । बृहदारण्यक का भी यही सिद्धान्त है :—

'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति, तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येषां भवति ।'[2]

इस प्रकार का जीव और ब्रह्म का ऐक्य शतपथ ब्राह्मण में बहुत पहले माना जा चुका है—

यथेदमत्यन्तमणीयः प्रियङ्गुबीजं तथैवायं हिरण्मयः पुरुषो हृदये ।
स एव परमात्मा ममात्मा संसरन्नहमित ऊर्ध्वं तमात्मानं प्रपत्स्ये ॥[3]

इन समस्त ग्रन्थों में हमें विश्वात्मा परब्रह्म के तात्त्विक स्वरूप को, कभी किसी रूपक के द्वारा, तो कभी किसी दूसरे रूपक के द्वारा, समझाने का अनवरत प्रयास दीख पड़ता है । बृहदारण्यक उपनिषद् में महामुनि याज्ञवल्क्य संसार से विरक्त हो, वन की ओर प्रस्थान करते समय अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी के प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित शब्दों में देते हैं :—

'यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात् । यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव । एतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञा अस्ति ।'[4]

---

१. 'यह अखिल अणुरूप तन्मय है; वही सत्य है, वही आत्मा है; और हे श्वेतकेतु ! तू वही है !' (बृह. उप. ६-८-१६)

२. जो इसे जान लेता है कि मैं ब्रह्म हूँ, वह विभु हो जाता है । देवता भी उसे विभु होने से रोक नहीं सकते । कारण, वह उनका भी 'आत्मा' हो जाता है ।' (बृह. उप. १-४-१०)

३. यव के छोटे से छोटे कण के समान वह हिरण्यमय पुरुष हृदय में वर्तमान है । वह विश्वात्मा में ही है । इस लोक से जाकर मैं उसी आत्मा को प्राप्त करूँगा । (शत. ब्रा. १०, ६, ३)

४. जैसे जलकुम्भ में रखा हुआ नमक का ढेला घुल जाता है और फिर बाहर नहीं निकाला जा सकता, और जल का कोई भी अंश चखने पर नमक का ही स्वाद देता है उसी तरह यह ब्रह्म अनन्त एवं असीम है । वह केवल सर्व-

याज्ञवल्क्य और आगे यह समझाते हैं कि अहम्भाव के आधारभूत द्वैतभाव के नष्ट हो जाने पर अहम्भाव निश्चय ही विलीन हो जाता है।[1]

उसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा है —

'स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥[2]

इसी तरह मुण्डक की भी एक श्रुति है —

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥[3]

बृहदारण्यक के एक सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य आत्मा को अन्तर्यामी बतलाते हैं —

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष स आत्मान्तर्याम्यमृतः इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥[4]

व्यापी रूप में ही देखा जा सकता है। वह पञ्चमहाभूत के द्वारा ही व्यक्त होता है। मृत्यु के पश्चात् कोई अहम्भाव नहीं रखता। (बृह. उप. २-४-१२)

१. 'यदा कारणभूतं द्वैतं नश्यति तदा कार्यात्मिका संज्ञाप्यवश्यं नश्यतीति।'

२. 'जिस तरह मकड़ी अपने जाले को स्वयं अपने ही शरीर से निर्मित करती है अथवा जिस तरह छोटे-छोटे स्फुलिङ्ग अग्नि से निकलते हैं उसी तरह आत्मा से प्राणवायु, समस्त विश्वदेवता और भूतों की उत्पत्ति होती है।' (बृह. उप. २-१-२०)

३. जिस तरह समस्त नदियाँ बहकर अन्त में सागर में लीन हो जाती हैं, न उनका नाम रहता न प्रवाह, उसी तरह, हे मुने ! नाम और रूप से मुक्त हो जीव परब्रह्म में लीन हो जाता है।' (मुण्डक उप. ३-२-८)

४. 'जो सर्वभूतों में रह कर भी उन सबसे विलग है, जो सब भूतों के अन्दर रह कर उसका नियमन करता है वही तेरी आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, अमर है।' (बृह. उप. ३-७-१५)

इसी उपनिषद् में एक रोचक संवाद भी है जिसमें काशिराज अजातशत्रु बालाकि गार्ग्य को यह उपदेश देते है कि ब्रह्म वह 'पुरुष' नहीं जो सूर्य, चन्द्र, मरुत् या अन्य भौतिक पदार्थों में या जाग्रत आत्मा में व्याप्त है। वह वस्तुतः सुषुप्त आत्मा है जो मन-चाहा रूप धारण कर सृष्टि रचता है; अथवा सूक्ष्म विचार करने पर, वह सुषुप्ति अवस्था का आत्मा है जिसमें समस्त विषय लुप्त हो जाते हैं।[1] यही ब्रह्म की पूर्व एवं चरम अवस्था है जिसमें न किसी की सत्ता है; कारण, समस्त भौतिक सत्ता वस्तुतः इस तुरीय ब्रह्म का ही विवर्त है।

बहुत कुछ इसी तात्पर्य को प्रकट करते हुए छान्दोग्य में एक सन्दर्भ है (८।७–१२) जिसमें प्रजापति को आत्मस्वरूप की तीन अवस्थाओं में विवरण करते हुए उपस्थित किया है। दर्पण या जल में प्रतिबिम्बित विषय की भाँति शरीर में प्रतिबिम्बित आत्मा ब्रह्मरूप है। तत्पश्चात् वह स्वप्नावस्था का आत्मा है और अन्तिम, सुषुप्ति अवस्था का।

जिन दिनों महाराज जनक की सभा में ब्रह्मचर्चा हुआ करती थी उन दिनों एकेश्वरवाद कितना सर्वमान्य हो चुका था वहाँ के प्रश्नोत्तर से प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक में दो ऋषि, एक के बाद एक, महर्षि याज्ञवल्क्य से एक ही प्रकार का प्रश्न करते हैं।—

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं व्याचक्ष्वा'[2]

जीव-ब्रह्मैक्य के द्वारा प्राप्त होने वाले अनन्त सुख को तत्त्वज्ञान ही प्राप्त करा सकता है' — इस सिद्धान्त के साथ-साथ 'संसार' का सिद्धान्त भी प्रचलित हुआ। यह सिद्धान्त प्राचीन उपनिषदों में प्रतिपादित तत्त्वों का ही विकास है। यह सिद्धान्त बौद्ध धर्म के उत्थान के समय निश्चय ही सुदृढ हो चुका था, कारण बुद्ध ने इस सिद्धान्त को बग़ैर किसी आपत्ति के स्वीकार किया था। इस सिद्धान्त का पूर्वरूप शतपथ ब्राह्मण में पाया जाता है जहाँ बतलाया है कि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म और जन्म के बाद पुनः मृत्यु कर्मविपाक के अनुसार होती है। वहाँ यह भी कहा है कि 'जिसे यथार्थज्ञान प्राप्त हो जाता है और जो विहित याग भी करता है वह मृत्यु के पश्चात् अमर

---

१. 'नादित्ये न चन्द्रे न वायौ नवान्येषु प्राकृतेषु भूतेषु नापि संज्ञानवत्यात्मनि विद्यमानः पुरुषो ब्रह्मेति।'

२. 'हमें व्यक्त ब्रह्म का रूप समझाइये, अव्यक्त का नहीं—उस आत्मा का, जो सर्वत्र व्याप्त है।' (बृह. उप. ३-४-५)

हो जाता है। जो यथार्थ ज्ञान से वञ्चित हो, विहित याग नहीं करता उसे वार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है और वह मृत्यु का शिकार होता रहता है।[1] इस सन्दर्भ में यह सिद्धान्त केवल इतनी ही मान्यता को प्रकट करता है कि परलोक में 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' का अनवरत चक्र चलता रहता है। इसी मान्यता के आधार पर उपनिषदों में पुनर्जन्मवाद का प्रादुर्भाव हुआ जो इस लोक में जन्मजन्मान्तर की कल्पना करता है। इतना ही नहीं, हमें बृहदारण्यक में कर्म के सिद्धान्त के अङ्कुर भी दीख पड़ते हैं जिसके अनुसार मानव को नया जन्म अपने सञ्चित कर्मों के फलस्वरूप उपलब्ध होता है। यह भौतिक शरीर पञ्चत्व को प्राप्त कर कर्मशेष रह जाता है और अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही वह भला बुरा बनता है। सम्भवतः यही बौद्ध सिद्धान्त का बीज है जिसमें अनात्मवाद होते हुए भी कर्म की सत्ता मानी गई है और यह भी स्वीकार किया है कि कर्म ही जन्मान्तर के निर्णायक होते हैं।

इस तरह वैदिक युग से प्रचलित पुनर्जन्मवाद का महत्त्वपूर्ण एवं सविस्तर विवरण हमें छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है। वहाँ कहा है कि श्रद्धा और ज्ञान से समन्वित यति देह-त्याग के पश्चात् देवयान से परलोक यात्रा करता है और वहाँ ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इसके विपरीत एक गृहस्थ जो यज्ञ-यागादि अनुष्ठान करता हुआ सत्कार्यनिरत रहता है वह देहत्याग के बाद पितृयान द्वारा चन्द्रलोक को जाता है और वहाँ अपने पुण्य कर्म का क्षय होने तक रहता है। कर्मक्षय के पश्चात् वह पुनः मर्त्यलोक को आता है और सर्व प्रथम, पादप का जन्म या क्रमशः अनेक जन्मों को भोगता हुआ त्रिवर्ण में से किसी जाति के मानव के रूप में उत्पन्न होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हमें द्विविध कर्मभोग भोगना होता है — एक तो परलोक में, दूसरा इह लोक में। पहिला कर्मभोग तो पुरातन वैदिक विश्वास का अवशेष है। शेष दुष्टजन अपने नीच कर्मों के कारण चाण्डाल, शूकर या कुक्कुर की योनि प्राप्त करते हैं।

लगभग इसी प्रकार का विवरण बृहदारण्यक उपनिषद् में भी मिलता है — श्रद्धावान् तत्त्वज्ञानी देवलोक एवं सूर्यलोक को प्राप्त करते हुए ब्रह्मलोक

१. 'ये तत्त्वज्ञानिनः सन्तो यज्ञान् यजन्ति ते मृत्युं प्राप्यामृतत्वाय कल्पन्ते, ये तु तत्त्वज्ञानशून्या अयज्ञाश्च भवन्ति ते पुनःपुनर्मृत्योर्वशमापद्यन्ते।

पहुँच जाते हैं जहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती।[1] वेदविहित कर्मों को करने वाले सदाचारी पितृलोक को पार करते हुए चन्द्रलोक पहुँचते हैं जहाँ से वे पुनः मनुष्य रूप लेकर मर्त्यलोक को लौटते हैं। शेष प्राणी पशु, पक्षी, सरीसृप का जन्म पाते हैं।

कौषीतकि उपनिषद् का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है।[2] इस मत में देहत्याग कर समस्त प्राणी चन्द्रलोक को पहुँचते हैं जहाँ से कुछ पितृयान के द्वारा ब्रह्मलोक सिधारते हैं, और कुछ अपने अपने कर्म के अनुरूप तथा ज्ञान की मात्रा के अनुपात में कीट से मानव-पर्यन्त विविध योनियों में जन्म इस लोक में प्राप्त करते हैं।

उपनिषदों में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सुन्दर काठकोपनिषद् है जिसमें मृत्यु के पश्चात् जन्मान्तर की समस्या का एक आख्यान द्वारा प्रतिपादन है। नचिकेतस् नामक ब्राह्मणशिशु यम के राज्य में पहुँचता है और यमराज उसे तीन वर माँगने के लिये कहते हैं। तीसरे वरदान में वह प्रश्न पूछता है, 'क्या मानव का अस्तित्व मृत्यु के बाद भी रहता है या नहीं?' यमराज कहते हैं, 'देवताओं ने भी इस सम्बन्ध में कई बार शङ्का उठाई है। यह एक सूक्ष्म तत्त्व है; कोई दूसरा वर/माँग लो' — 'अन्यं वरं वृणीष्व।' इस वर के बदले यमराज नचिकेतस् को शक्ति, धनधान्य आदि भौतिक सम्पत्ति प्रदान करने का असफल प्रयास करते हैं। कारण, नचिकेतस् भौतिक पदार्थों की प्राप्ति से सन्तुष्ट नहीं होता। आख़िर, नचिकेतस् के आग्रह पर यम पूर्वोक्त समस्या का रहस्य प्रकट करते हैं — 'जीवन और मरण विकास के विभिन्न स्वरूप हैं। तत्त्वज्ञान, जो जीव और ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति कराता है, प्रमाता को मृत्यु से अतीत बना कर अमृतत्व को प्राप्त कराता है —

---

१. य एतमेतद्विदुः ये च श्रद्धामुपासते ते देवलोकं सूर्यञ्च प्रविश्य पश्चाद्ब्रह्मलोकं प्रपद्यन्ते, यतस्ते न पुनरावर्त्तन्ते; अथ ये यज्ञेन दानादिसत्कर्मणा वा सुकृतिनो भवन्ति ते पितृलोकं प्रविश्य पश्चाच्चन्द्रमसं प्राप्नुवन्ति; क्षीणे च पुण्ये ततः पुनरावर्तन्ते; ये खलु पृथिव्यां नानायोनिषु जनुः प्रपद्यन्ते मनुष्यजातौ जायन्ते; अकर्माणः कीटाः पतङ्गा दन्दशूका वा भवन्ति।

(बृह. उप. ६-२-१५, १६)

२. कौ. आ. १०-२-२।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥[1]

तत्त्वज्ञान के बदले भौतिक विभूति को प्राप्त करने के वरदान से नचिकेतस् के प्रलोभन का यह आख्यान मार (कामदेव) के द्वारा भगवान् बुद्ध के प्रलोभन की कथा का पूर्वरूप प्रतीत होता है। उभयत्र दोनों ही तत्त्वान्वेषी जिज्ञासु, प्रदत्त प्रलोभन से ऊपर उठ कर, आत्मज्ञान अथवा महाबोधि को प्राप्त कर पाए।

यह समझना उचित न होगा कि सारा उपनिषत्-साहित्य अथवा कोई एक उपनिषद् तार्किक पद्धति से जगत् के विकास का समन्वित रूप से पूर्ण बोध कराता है। वस्तुतः, उपनिषद् अंशतः वर्णनात्मक तथा अर्ध-दार्शनिक कल्पनाओं तथा आध्यात्मिक प्रश्नों के प्रारूप से परिचित कराने वाले संवाद तथा विवादों के संकलन हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित विचारों के आधार पर आगे चल कर वेदान्त दर्शन की रचना हुई है। उपनिषदों में सर्व प्राचीन उपनिषद् ई० पू० ६०० से अर्वाचीन नहीं बताया जा सकता। कारण, उपनिषदों में सर्वप्रथम विवेचित कतिपय महत्त्व के सिद्धान्तों का अनुकरण बौद्धधर्म में उपलब्ध होता है। तिथिक्रम की दृष्टि से अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उपनिषद् चार वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं। सबसे प्राचीन वर्ग में, पूर्वापर क्रम से बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकि रखे जा सकते हैं जो गद्यबद्ध होकर ब्राह्मणग्रन्थ की शैली के अपरिमार्जित स्वरूप को लिये हुए हैं। केनोपनिषद् में शैलीगत परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इसकी रचना अंशतः गद्य में और अंशतः पद्य में की गई है। यह उपनिषद् प्रथम वर्ग के उपनिषदों तथा द्वितीय वर्ग के उपनिषदों के सन्धिकाल की रचना प्रतीत होती है। द्वितीय वर्ग में काठक, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण उपनिषद् अन्तर्गत किये जा सकते हैं। ये पद्यबद्ध हैं; और इनमें औपनिषदिक सिद्धान्त अब और आगे विकसित नहीं हो रहे हैं अपितु बहुत कुछ स्थिर से हो गये हैं। साहित्यिक दृष्टि से ये उपनिषद् रोचक हैं। वस्तुतः प्रथम वर्ग के उपनिषद् भी अपनी सजीवता, स्फूर्ति तथा व्यर्थ के पाण्डित्य से मुक्त होने के कारण अपनी एक विशेष प्रकार

---

१ जब सब कामनाएं दूर हो जाती हैं, और जब मानव के हृदय से सब वासनाएं विलीन हो जाती हैं तब वह अमरत्व को प्राप्त करता है, और तब ही उसे ब्रह्मावाप्ति होती है। (काठोप. २।६।१९)

की रोचकता लिये हुए हैं। परन्तु द्वितीय वर्ग के उपनिषदों की भाषा कई स्थानों पर ओजस्वी प्रवाह के स्तर तक पहुँचने लगी है। तृतीय वर्ग के अन्तर्गत प्रश्न, मैत्रायणीय और माण्डूक्य उपनिषद् हैं। इनमें गद्य के प्रयोग की पुनरावृत्ति हुई है; परन्तु वह गद्य प्रथम वर्ग के उपनिषदों के गद्य की अपेक्षा बहुत कुछ कम आर्ष है और शैली लौकिक संस्कृत रचनाओं के समीप-वर्तिनी है। परवर्ती आथर्वण उपनिषद् चौथे वर्ग में रखे जा सकते हैं जिनमें से कुछ, गद्य में और कुछ पद्य में रचित हैं।

उपनिषदों में सबसे लघुकाय[1] ऐतरेय उपनिषद् है, जिसमें केवल तीन अध्याय हैं। पहले अध्याय में आत्मा अथवा ब्रह्म द्वारा जगत्-सृष्टि तथा ब्रह्म के सर्वोच्च व्यक्त रूप 'पुरुष' का स्वरूप प्रकट किया है। इस अध्याय का आधार ऋग्वेद का पुरुष-सूक्त है, परन्तु उपनिषदों में वर्णित परम-पुरुष, आत्मा के द्वारा प्रसूत जल से उद्भूत, बताया गया है। इस अध्याय में आत्मा को 'पुरुष' के अन्तर्गत इन्द्रिय, मन और हृदय इन तीन स्थानों पर स्थित बताया है, जो क्रमशः जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाओं के समा-नान्तर है। द्वितीय अध्याय में आत्मा के त्रिधा जन्म का वर्णन है। पुनर्जन्म की समाप्ति ही मोक्ष है जिसका स्वरूप स्वर्ग में अमर स्थान की प्राप्ति है। तृतीय अध्याय में आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए यह प्रकट किया है कि 'प्रज्ञा ही ब्रह्म है।'

कौषीतकि उपनिषद् एक विस्तृत रचना है जिसमें ४ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा पुनर्जन्म ग्रहण करने के लिये जिन दो मार्गों से प्रयाण करता है उनका विवरण है। दूसरे अध्याय में 'आत्मा' के प्रतीक 'प्राण' (अर्थात् जीवन) के स्वरूप का विवेचन है। अन्तिम दो अध्यायों में ब्रह्मवाद का विवेचन करते हुए, 'इन्द्रियों पर इन्द्रियगोचर विषयों की निर्भरता है', 'तथा इन्द्रियों की प्राण एवं प्रज्ञानात्मा के साथ सापेक्षता है', इस सम्बन्ध में वाद-विवाद प्रस्तुत किया गया है। मुक्ति के साधन, ज्ञान की प्राप्ति का लक्ष्य रखने वाले साधकों को यह उपदेश दिया गया है कि उन्हें विषयों अथवा अन्तःकरण की प्रवृत्तियों की तुष्टि में तत्पर न होकर कर्म और ज्ञान के विषय पर मनन करना चाहिए; कारण, वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर तथा शरीरी आत्मा के रूप में वर्णित है।

सामवेद के उपनिषदों का प्रारम्भ ठीक उसी तरह साम से होता है जिस

---

१. इसका आयाम लगभग ४ अष्टमांश मुद्रित पृष्ठों का है।

तरह ऋग्वेद के उपनिषदों का प्रारम्भ 'होता' नामक ऋत्विज् के द्वारा कहे जानेवाले 'उक्थ' से है, और उसका तात्पर्य अन्योक्ति के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति में परिणत होता है। समस्त उपनिषदों का एक ही आधार तथा एक ही प्रतिपादनशैली इस तथ्य को प्रकट करती है कि विभिन्न वैदिक शाखाएँ किसी सर्वसाधारण मौखिक परम्परा पर अवलम्बित हैं, और वह परम्परा ही अपने-अपने ढंग से विभिन्न उपनिषदों में सिद्धान्त ग्रन्थों के रूप में आकारित हैं।

यों सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद् बृहदारण्यक से कुछ ही छोटा होते हुए तुल्य महत्त्व का ग्रन्थ है; और उसमें भी बृहदारण्यक की भाँति परम्परागत प्रचलित सामग्री के संकलन से घटित रचना होने के स्पष्ट लक्षण हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के आठों अध्यायों में प्रत्येक अध्याय एक स्वतन्त्रतः पूर्णरूप लिये हुए है, और उसके परिशिष्ट रूप में अनेक अंश पीछे जुड़े हुए हैं जो मुख्य प्रतिपाद्य विषय के साथ बहुत ही स्वल्प सम्बन्ध रखते हैं। इस उपनिषद् के प्रथम दो अध्यायों में साम का रहस्यपूर्ण अर्थ प्रकाशित किया गया है। साम के मुख्य भाग का नाम 'उद्गीथ' (अर्थात् उच्च स्वर से गाया जानेवाला गीत) है। द्वितीय अध्याय का अन्तिम भाग अन्य विषयों के साथ-साथ 'ॐ' की उत्पत्ति, धार्मिक जीवन की तीन अवस्थाएँ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और यति तथा यतिधर्म के अन्तिम स्वरूप संन्यास का विवेचन है। तृतीय अध्याय में वैश्वानर ब्रह्म का प्रतिपादन है जिसका व्यक्त स्वरूप सूर्य है। आगे चलकर असीम ब्रह्म को पूर्ण एवं अविभक्त रूप में पुरुष के हृदय-पुण्डरीक में निवास करते हुए बताया है। तत्पश्चात् ब्रह्मावाप्ति के साधन बताते हुए ब्रह्म और आत्मा (अथवा यों कहें जीवात्मा और परमात्मा) के ऐक्य का मौलिक सिद्धान्त प्रकट किया है। अध्याय की समाप्ति एक उपाख्यान से होती है, जो ऋग्वेद में प्रतिपादित तथा मनुस्मृति में वर्णित जगत्-सृष्टिवाद के बीच समन्वय स्थापित करता है। चतुर्थ अध्याय में ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाले प्राणवायु आदि विभिन्न तत्त्वों का परस्पर विवाद देकर अन्त में देही मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मावाप्ति किस तरह कर सकता है इसका उपदेश है।

छान्दोग्य के पाँचवें अध्याय का पूर्वार्ध बृहदारण्यक के छठें अध्याय के आमुख से बहुत कुछ तुल्यरूप है। इस अंश की महत्ता पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण है। इस अध्याय के उत्तरार्ध का महत्त्व इस कारण है कि उसमें इस बहुरूप प्रत्यक्ष जगत् की अवास्तविकता के सिद्धान्त की घोषणा सर्वप्रथम पाई जाती है। 'सत्य' ने स्वेच्छा से तीन प्राथमिक तत्त्वों का आविर्भाव

किया; ये तत्त्व अग्नि, जल और अन्न हैं, और ये ही आगे चलकर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी — इन पाँच तत्त्वों में आविर्भूत हुए हैं। वही 'सत्य' जीवात्मा होकर इन पञ्चतत्त्वों में प्रविष्ट हुआ और वह त्रिवृत्करण के द्वारा विभिन्न विकारों में परिणत हो गया। वस्तुतः ये विकार तो नाममात्र हैं; सत् ही वस्तु है, वही आत्मा है — 'तत्त्वमसि'। सातवें अध्याय में ब्रह्म के उन रूपों का विवरण है जिनमें उसकी अर्चा की जा सकती है — ये रूप, 'नामन्' (नाम) से लगाकर 'भूमन्' (अर्थात् असीम) तक, क्रमशः उत्तरोत्तर महत्त्व के हैं। ब्रह्म का यह अन्तिम 'भूमन्' रूप ही सब कुछ है और वही शरीर-स्थित आत्मा है। अन्तिम अध्याय के पूर्वार्ध में हृदयाकाश में और विश्व में स्थित आत्मा के स्वरूप का तथा ब्रह्मावाप्ति के साधनों का विवेचन है। इस अध्याय का अन्तिम अंश वस्तुरूप आत्मा का उसके आभासित स्वरूप से विभेद प्रकट करता है और उसकी उन तीन अवस्थाओं का निर्देश करता है जो भौतिक शरीर में, स्वप्न में, तथा सुषुप्ति के रूप में दीख पड़ती हैं। इस तृतीय अवस्था में ही हमें सच्चे आत्मा का भान होता है जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय के बीच विवेक लुप्त हो जाता है।

सामवेद का एक छोटा-सा उपनिषद् और है जो तलवकार के नाम से प्रसिद्ध है। यह संज्ञा शाखा के नाम पर रखी गई थी, परन्तु आगे चलकर जब यह अपनी शाखा से पृथक् गिना जाने लगा तब से यह अपने प्रथम पद 'केन' को लेकर केनोपनिषद् नाम से ख्यात हुआ। इसमें एक दम पृथक्, दो भाग हैं। द्वितीय भाग अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन है और गद्य में रचित है। इसमें वैदिक देवताओं के ब्रह्म के साथ सम्बन्ध का निरूपण है, साथ ही साथ यह भी बताया है कि समस्त वैदिक देवताओं की शक्ति ब्रह्म से अवाप्त है और वे सर्वथा ब्रह्म पर ही निर्भर हैं। प्रथम भाग पद्यमय है। वह उस समय की रचना प्रतीत होती है जब वेदान्त सिद्धान्त पूर्णरूप से विकसित हो चुका था। तदनुसार यह उपास्य सगुणब्रह्म का अज्ञेय निर्गुण ब्रह्म से पार्थक्य व्यक्त करता है :—

> 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो,
> न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्'[1]।

1. 'उस ब्रह्म को आँख से नहीं देखा जा सकता, न वाणी न मन ही उस तक पहुँच सकता है; वह अज्ञेय है; हम नहीं समझ सकते कि कोई तत्सम्बन्धी उपदेश हमें दे सकता है।' (केनोप. १-१-३)

कृष्ण यजुर्वेद के सभी उपनिषद् परवर्ती प्रतीत होते हैं। मैत्रायण एक बड़ा गद्यबद्ध उपनिषद् है जिसमें यत्र-तत्र कुछ पद्यों का भी अन्तर्निवेश पाया जाता है। इसमें सात अध्याय हैं जिनमें से छठे अध्याय के अन्तिम आठ प्रपाठक और समग्र सातवाँ अध्याय परिशिष्ट रूप हैं। वर्ण एवं ध्वनि की विशेषताएँ इस उपनिषद् में भी ऐसी ही पाई जाती हैं जैसी कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय संहिता में हैं, इसी वजह इस उपनिषद् का स्वरूप आर्ष प्रतीत होता है। तथापि इतर उपनिषदों से लिए हुए उद्धरण, परवर्तीयुग में विकसित सांख्य सिद्धान्त के प्राग्रूप का अस्तित्व, तथा वेद-विरोधी विभिन्न नास्तिक दर्शनों की ओर स्पष्ट संकेत, संकलित रूप से इस उपनिषद् की परवर्तिता को असन्दिग्ध रूप से प्रमाणित करते हैं। वस्तुतः, यह उपनिषद् समस्त प्राचीन उपनिषदों के सिद्धान्तों का संक्षेप से विवरण देते हुए सांख्य एवं बौद्ध दर्शनों के विचारों से पूर्ण है। इस उपनिषद् का मुख्य भाग आत्मा के स्वरूप का निरूपण करता है जो इक्ष्वाकुवंश के राजा बृहद्रथ (सम्भवतः यह रामायण में निर्दिष्ट वही बृहद्रथ हो) को बताया गया है। इस अंश में राजा बृहद्रथ मानव की भौतिक स्थिति की दुःखात्मकता तथा क्षणिकता पर खेद प्रकट करता है। यद्यपि प्राचीन उपनिषदों में कहीं भी निराशा स्थान न पा सकी; परन्तु कहना होगा कि इस उपनिषद् में निर्वेद ही मुख्यतः अभिव्यक्त है जो निश्चय ही सांख्य एवं बौद्ध दर्शनों के प्रभाव का प्रतिफल है।

मैत्रायण उपनिषद् में विषय का विवेचन तीन प्रश्नों के रूप में प्रस्तुत है। प्रथम प्रश्न है 'आत्मा भौतिक शरीर में प्रवेश करता है' जिसका उत्तर यह है 'स्वयं प्रजापति ही अपने द्वारा निर्मित जड़सृष्टि को सचेतन बनाने के उद्देश्य से स्वतः हो भौतिक देह में पञ्च प्राणवायु के रूप में प्रविष्ट होता है'। दूसरा प्रश्न है — 'ऐसी दुःखात्मक स्थिति से किस तरह मुक्ति सम्भव है'? इस प्रश्न का उत्तर न वेदान्त और न सांख्य मत के अनुसार, परन्तु एकदम क्रान्तिकारी भावना से दिया गया है। कहा है— 'ब्राह्मणधर्म का यथावत् अनुसरण करनेवाले वर्णाश्रम-धर्म के अनुयायी सदाचारी जीव ही ज्ञान, तप और ब्रह्म के निदिध्यासन से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इस उपनिषद् में प्रधान देवता ब्राह्मणयुग की देव-त्रयी, अग्नि, वायु, एवं सूर्य; और तीन देवता — काल, प्राण और अन्न; तथा लोकप्रिय तीन देवता—ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु, परब्रह्म के मूर्तरूप बताये गए हैं।

इस उपनिषद् का शेष भाग परिशिष्ट जैसा है। तथापि इसमें कई

रोचक विषय हैं। हमें यहाँ भी ब्राह्मण ग्रन्थों की तरह जगत्-सृष्टि का उपाख्यान मिलता है। इस उपाख्यान में प्रकृति के तीन गुण तम, रज और सत्व का सम्बन्ध रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु से बताया है। यह आख्यायिका विशेष कर इस कारण महत्त्वपूर्ण है कि इसमें ऋग्वेद के दार्शनिक विचारों का परवर्ती सांख्य सिद्धान्तों के साथ समन्वय मिलता है। इसके अतिरिक्त इस अंश में यह भी प्रतिपादित है कि आत्मा का बाह्य प्रतीक सूर्य तथा आभ्यन्तर प्रतीक प्राण है; और उनकी अर्चना प्रणव (= ॐ) के द्वारा तथा 'भूः-भुवः-स्वः' — इन तीन व्याहृतियों के साथ सावित्री मन्त्र के द्वारा करने का उपदेश भी है। ब्रह्मावाप्ति के साधनों में योगाभ्यास तथा सुषुप्ति अवस्था तक पहुँचाने वाली समाधि की साधना बताई है। इस उपनिषद् में योग की क्रियाओं के सम्बन्ध में जो विवरण मिलता है वह परवर्ती योग-दर्शन में प्रतिपादित क्रिया की अपेक्षा बहुत ही संक्षिप्त एवं अविकसित सा है। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त एक तुरीयावस्था का भी उल्लेख है जो ब्रह्म की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। अन्त में इस उपनिषद् में यह भी कहा है कि आत्मा केवल सत्यानृत की अनुभूति के लिये ही द्वन्द्वात्मक भौतिक जगत् में प्रविष्ट हुआ।

मैत्रायण से कहीं प्राचीन दो और उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद के हैं। ये काठक और श्वेताश्वतर उपनिषद् के नाम से प्रख्यात हैं। काठक में कोई १२० मन्त्र हैं, तथा श्वेताश्वतर में लगभग ११० हैं।

काठकोपनिषद् में वही नचिकेतस् का उपाख्यान है जो तैत्तिरीय ब्राह्मण के काठक भाग में मिलता है। उपनिषद् की कथा सर्वथा ब्राह्मण-भाग पर ही आधारित है। कारण, उभयत्र उपाख्यान का प्रारम्भ एकसा शब्दों से ही होता है। ऐसा लगता है काठकोपनिषद् मूलतः दो अध्यायों में से एक ही अध्याय का था। कारण, दूसरा अध्याय योग-सम्बन्धी विकसित विचारों तथा भौतिक पदार्थों की असत्यता-सम्बन्धी विचारों के कारण परवर्ती सन्निवेश जैसा प्रतीत होता है। प्रथम अध्याय में एक प्रास्ताविक वर्णन है जिसमें आत्मा, किस प्रकार भौतिक देह में प्रवेश करता है और किस प्रकार योग द्वारा पुनः अपने स्वरूप में परिणत हो जाता है, बताया है। दूसरा अध्याय अपेक्षाकृत कुछ कम सुरचित है; परन्तु उसका भी प्रतिपाद्य लगभग पहले अध्याय के प्रतिपाद्य जैसा ही है। इस अध्याय के चतुर्थ प्रपाठक में आत्म-स्वरूप का विवेचन करते हुए प्रकृति और पुरुष का ऐक्य भी बताया है।

पञ्चम प्रपाठक में आत्मा का विशेषतः पुरुष के रूप में भौतिक आविर्भाव का वर्णन है। आत्मा समस्त भूत प्राणियों में व्याप्त होकर भी किस तरह निर्विकार रहता है—इसका सुन्दर निदर्शन प्रकाश और वायु के साथ सादृश्य बताते हुए प्रकट किया है : जिस तरह वायु सर्वत्र व्याप्त होकर प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध है, और जिस तरह विश्वचक्षु सूर्य सर्वत्र व्याप्त हो इतर चक्षुओं के दोषों से मुक्त रहता है उसी तरह आत्मा सर्वत्र ओत-प्रोत होते हुए भी बाह्य दोषों से अस्पृष्ट हो सदा निर्विकार रहता है। अन्तिम प्रपाठक में बताया है कि परम निःश्रेयस् का साधन योग ही है। इस विवेचन के प्रसङ्ग में अनजाने एक विरोध उपस्थित हो गया है : आत्मा को सर्वेश्वर विभु कहते हुए भी प्रकृति के साथ उसका बिलकुल पार्थक्य बताया गया है। यह विरोध ठीक वैसा ही है जैसा आगे चलकर वेदान्तदर्शन तथा सांख्य-योग की परिपाटी में परिलक्षित होता है।

स्वयं श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह उल्लिखित है कि इस उपनिषद् की संज्ञा अपने निर्माता किसी व्यक्ति विशेष के कारण हुई है। अत एव यह 'उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है' — इस धारणा के लिये पर्याप्त आधार दीख नहीं पड़ता। इसकी विसंष्ठुल रचना, वृत्तों की विषमता तथा अकारण परिवर्तन और इधर-उधर के उद्धरणों का अन्तर्निवेश इस मान्यता को सम्भावित कराता है कि यह उपनिषद् जिस रूप में अधुना उपलब्ध है एक व्यक्ति की कृति नहीं हो सकती। जो भी हो, जिस रूप में यह उपनिषद् हमें मिलता है वह निश्चय ही काठकोपनिषद् से परवर्ती कहा जा सकता है; कारण, इसमें कई अंश ऐसे हैं जिनका आधार न केवल काठकोपनिषद् की उक्तियाँ हैं अपितु कई पद्य तो शब्दशः उपात्त हैं। इसके अतिरिक्त इस उपनिषद् की अर्वाचीनता उसमें प्रतिपादित योग-शास्त्र के विकसित सिद्धान्तों के द्वारा भी अभिलक्षित होती है। साथ ही साथ, वेदान्तदर्शन के अनेक सिद्धान्तों का निश्चित रूप से प्रतिपादन भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है; कारण, वे सिद्धान्त पूर्वतन उपनिषदों में कहीं नहीं मिलते, अथवा कहीं मिलते भी हैं तो केवल आभासमात्र। ऐसे सिद्धान्तों में से कतिपय उदाहरण के रूप में बताये जा सकते हैं:—कल्पान्त के समय ब्रह्म के द्वारा जगत् का प्रलय और पुनः यथापूर्व जगत् की सृष्टि, जगत् को ब्रह्म की माया का रूप मानना। साथ ही साथ श्वेताश्वतर का रचयिता, ब्रह्म को सविता, ईशान और रुद्र के रूप में व्यक्त होने की एक विचित्र सी बात कह जाता है। यद्यपि उस युग में रुद्र का नाम 'शिव'

प्रचलित न हो पाया था तथापि शिव पद को रुद्र के विशेषण रूप में बहुधा प्रयोग करना इस बात को प्रकट करता है कि शिव परमेश्वर का वाचक होने जा रहा था। इस उपनिषद् में हमें सांख्यदर्शन के मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है, यद्यपि इस उपनिषद् का मुख्य दृष्टिकोण पूर्णरूप से वेदान्तदर्शन के अनुरूप है, उदाहरणार्थ—'प्रकृति ब्रह्म की माया का ही दूसरा रूप है।'

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध बृहदारण्यक उपनिषद् उपनिषदों में सबसे बड़ा, तथा छान्दोग्य को छोड़, सबसे अधिक महत्त्व का भी कहा जा सकता है। विभिन्न छोटे-छोटे ग्रन्थों को लेकर रचे हुए किसी भी संकलित ग्रन्थ होने के लक्षण इसमें छान्दोग्य की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में ३ भाग हैं, और प्रत्येक में दो दो अध्याय हैं। भाष्यकारों की परम्परा के अनुसार भी इसका अन्तिम भाग एक परिशिष्ट रूप है। इसकी संज्ञा खिलकाण्ड है जो प्रतिपादित विषय के सर्वथा अनुरूप है। याज्ञवल्क्य का अपनी दो पत्नियों के साथ सम्वाद लगभग इकसार शब्दों में प्रथम और द्वितीय काण्ड में वर्णित है। इसके पहले और दूसरे काण्ड वस्तुतः पहिले पृथग्रूप रहे होंगे। इन दोनों काण्डों के (तथा शतपथ ब्राह्मण के दशम अध्याय के) अन्त में ऋषियों की वंशावली दी गई है। इनकी परस्पर तुलना करने से यह प्रमाणित होता है कि इस उपनिषद् का प्रथम काण्ड (मधुकाण्ड) और दूसरा (याज्ञवल्क्य काण्ड) शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत ही पृथक्-पृथक् उपनिषदों के रूप में ९ पीढ़ियों तक माने जाते रहे, तत्पश्चात् महर्षि अग्निवेश के द्वारा एकीकृत किये गये, और तब ही तृतीय भाग भी जोड़ा गया जिसमें अनेक प्रकार के विषय संकलित हैं। इन्हीं वंशावलियों के आधार पर यह निर्णय भी सम्भावित है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की परम्परा में निर्दिष्ट ऋषियों की वंशावली उपनिषदों की परम्परा से भिन्न थी।

सर्वप्रथम अश्वमेध याग की रहस्यात्मकता का विवेचन करते हुए उसे विश्वरूप कहा है। इसका उपक्रम करते हुए प्रथम अध्याय में प्राण को आत्मा का प्रतीक कह कर आत्मा (ब्रह्म) से जगत्सृष्टि को बताते हुए समस्त प्राणियों का आधार वही परमात्मा कहा गया है जो प्रतिशरीर जीवात्मा के रूप में दीख पड़ता है। देवार्चन के प्रति प्रयुक्त तार्किक दृष्टि से प्रकट होता है कि यह अंश पूर्वयुग की रचना है जिसमें देवताओं की अपेक्षा आत्मा के अधिक महत्त्व का सिद्धान्त अपने प्रभाव को जमाये हुए

था। दूसरे अध्याय में आत्मस्वरूप तथा आत्मा के दो रूप—पुरुष और प्राण—के सम्बन्ध में विवरण है। इस उपनिषद् के द्वितीय काण्ड में चार आध्यात्मिक संवाद हैं जिसमें याज्ञवल्क्य ही प्रवक्ता हैं। उनमें से पहला (३,१–९) एक सविस्तर विवाद है जिसमें महर्षि क्रमशः वादियों पर अपना विजय प्रमाणित करते हैं। इस विवाद में सबसे रोचक निर्णय यह है कि ब्रह्म सिद्धान्ततः यद्यपि अज्ञेय है तथापि उसका ज्ञान साध्य है। दूसरे वाद में राजा जनक और याज्ञवल्क्य के बीच संवाद है जिसमें अन्य ऋषियों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में दी हुई 'प्राण अथवा मन ही ब्रह्म है' जैसी छः परिभाषाओं का याज्ञवल्क्य खण्डन करते हैं। अन्त में महर्षि याज्ञवल्क्य आत्म-निरूपण करते हुए कहते हैं कि 'वह अगोचर, अविनाशी, सर्वेश्वर तथा अविचल है'।

तृतीय वाद में (४, ३–४) में जनक और याज्ञवल्क्य के बीच एक और संवाद है। इसमें जीवात्मा की छः अवस्थाओं का चित्र अङ्कित किया गया है। ये अवस्थायें हैं — जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मृत्यु, पुनर्जन्म और मोक्ष। भाव-सौन्दर्य, विचारों की उदात्तता, तर्क-बल तथा सुन्दर निदर्शनों के बाहुल्य के नाते यह संवाद न केवल उपनिषदों में ही वरन् अखिल भारतीय साहित्य में अप्रतिम है। इसकी साहित्यिक शैली बीच-बीच में सुग्रथित अनेक पद्यों के सौष्ठव से अत्यन्त सुचारु हो गई है। ये पद्य निश्चय ही वाद में जोड़े हुए हैं। जीवात्मा की स्वप्नावस्था का वर्णन करते हुए कहा है —

[1]प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं
बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं
हिरण्मयः पुरुष एक हंसः॥

[2]स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो।
रूपाणि देवः कुरुते बहूनि॥

१. 'प्राणों से सुरक्षित, निम्न स्तर के निवास को छोड़ कर उससे ऊपर उठा हुआ अमर जीवात्मा उड़ता है और जैसा चाहता है वैसा उस सुनहले पंखवाले, अमर, आत्मरूपी राजहंस के चारों ओर मंडराता है।' (बृह. ४।३।१३)

२. स्वप्नावस्था में वह ऊपर नीचे अनेक रूप रूपान्तर को दिव्य रूप से धारण करता हुआ विहार करता है (बृह. ४।३।१३)

तत्पश्चात् जीवात्मा की सुषुप्ति अवस्था का विवरण है —

[1]तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ सँल्लयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामङ्कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥

[2]तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳरूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् ।

ऐसा जीवात्मा जिसकी मुक्ति नहीं होती—ग्रन्थकार कहता है—मृत्यु के पश्चात् तत्काल ही नूतन शरीर को ग्रहण करता है। मध्य में उसे दूसरी दुनियाँ में कहीं भी अपने कर्मों का फल भोगने के लिये अवकाश नहीं होता। परन्तु वह तत्काल ही अपने कर्मानुसार तथा बौद्धिक स्तर के अनुरूप दूसरा जन्म ग्रहण कर लेता है। —

[3]तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरति ।

---

१. जिस तरह गरुड़ अथवा श्येन पक्षी आकाश में विहार करता हुआ थक कर अपने पंखों को सिकोड़ लेता है और नीचे आने की चेष्टा करता है उसी तरह जीवात्मा विराम के लिये सुषुप्ति अवस्था को पाने की इच्छा करता है— उस समय न उसके मन में कोई इच्छा रहती और न वह स्वप्न ही देखता है। (बृह. ४।३।१९)

२. 'वही वास्तविक स्वरूप है जिसमें वह पाप और भय से मुक्त हो इच्छा से अतीत हो जाता है। जिस तरह कमनीय कान्ता के भुजबन्धन में व्यक्ति न बाहर न भीतर किसी वस्तु की इच्छा करता है उसी तरह वह चेतन ब्रह्म से समाश्लिष्ट जीवात्मा बाह्याभ्यन्तर किसी पदार्थान्तर के प्रति आसक्ति नहीं रखता।' (बृह. ४।३।२१)

३. जिस प्रकार एक काष्ठकीट एक पत्ते के सिरे तक पहुँचने पर पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ कर पत्ते के दूसरे सिरे पर पहुँचता है उसी तरह जीवात्मा अपने पुरातन एक शरीर को छोड़, अज्ञानवश पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है और दूसरा जन्म बिताता है। (बृह. ४।४।३)

[1]तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं तनुते एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳरूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां भूतानाम् ।

जिसने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते। वह ब्रह्म में लीन हो जाता है — वह ब्रह्मरूप हो जाता है —

[2]यद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ शरीरꣳ शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव ।

यह आख्यान उस समय का है जब याज्ञवल्क्य संसार त्यागने की इच्छा से वनगमन के लिये उद्यत होते हैं।

चौथे प्रकरण में याज्ञवल्क्य तथा उनकी पत्नी का संवाद है — इस अंश में ऐसे कई सङ्केत मिलते हैं जो प्रमाणित करते हैं कि यह पूर्व अध्याय में (२, ४) वर्णित याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद का केवल रूपान्तर है।

परिशिष्ट भाग के पहिले अध्याय में १५ भाग हैं जो प्रायः छोटे-छोटे हैं, और उनका प्रतिपाद्य भी एक दूसरे से असम्बद्ध सा है। अत एव कहा जा सकता है ये पृथक्-पृथक् समय की रचनायें हैं। दूसरा अध्याय अवश्य ही एक लम्बा और महत्त्वपूर्ण अंश है जो छान्दोग्य के अनुरूप पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विवेचन करता है। इस अंश में प्रतिपादित विचार याज्ञवल्क्य की विचार-परम्परा से इतने भिन्न हैं कि मालूम होता है कहीं यह अंश किसी अन्य शाखा से सम्बद्ध है और असावधानी के कारण इस उपनिषद् में प्रतिपाद्य विषय के विशेष महत्त्व के कारण जोड़ दिया गया है। इस अंश के प्राग्वर्ती तथा अनुवर्ती

---

१. जिस तरह एक स्वर्णकार एक प्रतिमा के लिये सामग्री एकत्र कर हथौड़ी से एक नवीनतर अधिक सुन्दर वस्तु बनाता है, उसी तरह जीवात्मा अपने शरीर को त्याग कर मायावश दूसरा नवनूतन स्वरूप धारण करता है, चाहे वह पितरों जैसा या गन्धर्वों या देवताओं जैसा, अथवा प्रजापति या ब्रह्मा अथवा अन्य किसी प्राणी जैसा हो।' (बृह. ४।४।४)

२. जिस तरह सर्प मर जाता है और अपनी त्वचा को वल्मीक पर छोड़ देता है और उसका शरीर ज्यों का त्यों पड़ा रहता है उसी तरह देही देह त्याग देता है और अशरीरी अमर आत्मा विशुद्ध ब्रह्म रह जाता है। (बृह. ४।४।७)

अंश भी छान्दोग्य से मिलते-जुलते होकर ऐसे लगते हैं जैसे वे भी बाद में ही जोड़े गये हों।

न केवल यही सबसे बड़ा एक उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है अपितु एक और बहुत ही छोटा उपनिषद् भी है जिसमें केवल १८ ही मन्त्र हैं। यह अपने प्रथम मन्त्र के प्रथम शब्द को लेकर ईशोपनिषद् के नाम से प्रख्यात है। वस्तुतः, यद्यपि यह वाजसनेयि संहिता का अन्तिम अध्याय है तथापि यह परवर्ती युग की रचना है। यह बृहदारण्यक के अन्तिम भाग से समकालिक रचना है; और काठकोपनिषद् की अपेक्षा कहीं अधिक प्रौढ़ और विकसित है। यह श्वेताश्वतर से पूर्वतन प्रतीत होता है। ईशोपनिषद् का मुख्य लक्ष्य जीव और आत्मा के ऐक्य को समझने वाले तथा ज्ञानहीन व्यक्तियों के बीच वैषम्य को प्रतिपाद्य करने का है। वस्तुतः इसमें वेदान्त दर्शन के आधार-भूत सिद्धान्तों का सुन्दर सर्वेक्षण उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद से सम्बन्ध रखने वाले उपनिषद् अनेक हैं। उनकी संख्या अगणित है। परन्तु प्रामाणिक संग्रह बताते हैं कि आथर्वण उपनिषदों की संख्या सब मिला कर २७ है। अधिकांश वे बहुत पिछले युग की रचनाएँ हैं — वे प्रायः वेदोत्तरकाल के हैं। तीन उपनिषदों को छोड़ कर शेष तो पुराणों के समकालिक कहे जा सकते हैं। उनमें से एक तो बिलकुल मुसलमानी रचना है जिसका नाम अल्लोपनिषद् है। श्वेताश्वतर जैसे कतिपय उपनिषदों को छोड़ प्रथम तीन वेदों से सम्बद्ध, प्राचीन उपनिषद् विभिन्न वैदिक शाखाओं के सिद्धान्त-ग्रन्थ हैं। वे ब्राह्मणग्रन्थों से सम्बन्ध रखते हुए परिशिष्ट ग्रन्थ हैं। इसी कारण उन उपनिषदों के नाम भी अपनी-अपनी वैदिक शाखा से ही बने हैं। इसके विपरीत, मण्डूक और जाबालि जैसे कुछ उपनिषदों को छोड़, शेष अथर्ववेद के उपनिषद् वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध न रहे और उनके नाम भी प्रतिपाद्य विषय के आधार पर अथवा अन्य किसी कारण से रखे गये हैं। प्रायः वे ईश्वरपरक, योगाभ्यास, यतिधर्म अथवा असाम्प्रदायिक उन संघों के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो वैदिक शाखाओं की परम्परा का अनुकरण करते हुए अपने-अपने उपनिषद् बनाना चाहते थे। ऐसे उपनिषद् किसी आभ्यन्तर सम्बन्ध के कारण अथर्ववेद से संलग्न न हुए, परन्तु अंशतः इसका कारण यह था कि अथर्व के अनुयायी भी अपने सिद्धान्त ग्रन्थ चाहते थे, और अंशतः यह कारण था कि चौथा वेद इतर वैदिक शाखाओं के धार्मिक संघों की जागरूकता के कारण बाह्य तत्वों के अन्तर-प्रवेश से सुरक्षित न था।

अथर्ववेद के उपनिषदों में प्रतिपादित सर्वसाधारण मूल सिद्धान्त ही इन विभिन्न उपनिषदों में पृथक्-पृथक् विशेष दिशाओं में विकसित हुआ है। तदनुसार ये उपनिषद् चार वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रत्येक वर्ग में अपेक्षाकृत प्राचीन और परवर्ती उपनिषद् हैं। ये चारों वर्ग तिथिक्रम के अनुसार समानान्तर रचनाएँ प्रतीत होती हैं। प्रथम वर्ग में वे उपनिषद् रखे जा सकते हैं जो आत्मा के स्वरूप का साक्षात् विवेचन करते हैं। ऐसे उपनिषदों का प्रतिपाद्य इतर वेदों के उपनिषदों जैसा है और वे अपने मुख्य विषय को ही प्रौढ़तया प्रतिपादन करने के अतिरिक्त विषयान्तर का विवेचन नहीं करते। दूसरे वर्ग के उपनिषद् वे हैं जो मौलिक सिद्धान्त को सिद्ध एवं गृहीत मान कर प्रणव अक्षर 'ॐ', के अवयवों के ऊपर आधारित योग-समाधि के द्वारा आत्मतत्त्व में विलीन होने की प्रक्रिया का विवेचन करते हैं। इस वर्ग के सब ही उपनिषद् पद्यबद्ध हैं और छोटे-छोटे से। सामान्यतः इनमें लगभग २० पद्य पाये जाते हैं। तृतीय वर्ग के उपनिषदों में सन्यासी के धर्मों का वर्णन है। कारण, सन्यास ही उपनिषद् में प्रतिपादित सिद्धान्त का क्रियात्मक प्रतिफल है जिसका स्वीकार श्रेयस्साधन बताया गया है। ये उपनिषद् भी बहुत छोटे-छोटे से हैं और गद्यबद्ध हैं। कहीं-कहीं उनमें पद्यशैली का भी प्रयोग पाया जाता है। चौथे वर्ग के उपनिषद् सम्प्रदायवादी हैं। इनमें सर्वमान्य शिव (ईशान, महेश्वर, महादेव आदि नामों से ख्यात) तथा विष्णु (नारायण, नृसिंह आदि) देवताओं को आत्मरूप बताया है। साथ ही साथ विष्णु के विभिन्न अवतार भी मानव देह में आत्मा के ही व्यक्तरूप माने गये हैं।

आथर्वण उपनिषदों में सबसे प्राचीन और महत्त्व के उपनिषद् वे हैं जो वेदान्तदर्शन के सिद्धान्त को प्रामाणिक रूप से प्रकट करते हैं। ऐसे उपनिषद् मुण्डक और प्रश्न हैं, और बहुत कुछ तद्रूप माण्डूक्य भी है।

प्राचीन वेदों के उपनिषदों के बहुत कुछ तुल्य प्रथम दो उपनिषद् हैं और शङ्कराचार्य और बादरायण ने वेदान्त दर्शन के प्रमाणभूत उसके उद्धरण लिये हैं। वस्तुतः ये ही उपनिषद् अथर्ववेद के मौलिक तथा न्यायतः प्राप्त ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। आगे चलकर जिस प्रकार बौद्ध भिक्षु अपने सिर को मुण्डित रखने लगे उसी तरह मुण्डित सन्यासियों का एक वर्ग हुआ करता था जिन्हें 'मुण्ड' कहते थे। उन्हीं के नाम पर 'मुण्डक उपनिषद्' की संज्ञा कल्पित की गई है। यह उपनिषद् सबसे अधिक मान्य है, इस

कारण नहीं, कि इसका विषय नवीन या मौलिक है। प्रतिपाद्य तो अधिकतर प्राचीन ग्रन्थों से ही उपात्त है तथापि इस उपनिषद् की सर्वमान्यता का कारण पद्यरचना का सौन्दर्य और प्राचीन वेदान्त सिद्धान्त का विशुद्ध एवं प्रामाणिक रूप में विवरण है। मुण्डक उपनिषद् पर छान्दोग्य, और काठक उपनिषदों की छाप प्रतीत होती है। इस उपनिषद् में तथा श्वेताश्वतर और कृष्णयजुर्वेदीय बृहन्नारायणोपनिषत् में दिये हुए कई अंश समान पाये जाते हैं जिससे ऐसा लगता है कि मुण्डकोपनिषद् उसी युग की रचना होकर श्वेताश्वतर और बृहन्नारायण के बीच की रचना है। मुण्डकोपनिषद् में तीन अध्याय हैं। सामान्यतः, इन अध्यायों में क्रमशः ब्रह्मज्ञान के अधिकारी, ब्रह्मवाद और ब्रह्मावाप्ति का प्रकार बताया है।

प्रश्नोपनिषद् गद्यमय रचना है और अथर्व की पिप्पलाद शाखा से सम्बद्ध है। इसमें छः ब्रह्मचारियों द्वारा महर्षि पिप्पलाद से वेदान्त सिद्धान्त के छः मूलतत्त्वों पर प्रश्न किये गये हैं। इसी कारण इस उपनिषद् की संज्ञा प्रश्नोपनिषद् हुई। छः प्रश्न ये हैं — प्रकृति और प्राण की प्रजापति से उत्पत्ति; जीवनाधार अन्य शक्तियों की अपेक्षा प्राण की महत्तरता; जीवनाधार शक्तियों का स्वरूप और विभाजन; स्वप्नावस्था और सुषुप्ति; प्रणव की उपासना; और जीवात्मा के षोडश अवयव।

माण्डूक्य बहुत ही छोटा गद्यरचित उपनिषद् है। उसका आकार शायद ही इस पुस्तक के दो पृष्ठ का हो। यद्यपि उसकी संज्ञा ऋग्वेद की एक लुप्तप्राय शाखा के नाम पर आधारित है तथापि यह आथर्वण उपनिषदों में ही माना गया है। यह उपनिषद् प्राचीन वेदत्रयी के गद्यात्मक उपनिषदों से अधिक परवर्ती जान पड़ता है। कारण, इस उपनिषद् की संक्षिप्त एवं केन्द्रित रचना-शैली उन प्राचीन उपनिषदों की अति-विस्तृत तथा अक्रम रचनाशैली से अत्यधिक विभिन्न है। साथ ही साथ यह ध्यान देने योग्य है कि माण्डूक्य में मैत्रायण उपनिषद् के साथ निकट सम्पर्क दीख पड़ता है। अतः माण्डूक्य मैत्रायण के बाद की रचना हो सकती है। तथापि आथर्वण उपनिषदों के चतुर्थ वर्ग की शेष रचनाओं की अपेक्षा माण्डूक्य अवश्य ही प्राचीनतर प्रतीत होता है; कारण उसमें प्रणव की तीन ही मात्रा मानी गई है, न कि साढ़े तीन। इस उपनिषद् की मौलिक मान्यता यह है कि प्रणव विश्व का प्रतीक है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख आवश्यक है कि शङ्कराचार्य ने कहीं भी माण्डूक्य से उद्धरण नहीं दिया मगर इस उपनिषद् का न केवल अथर्ववेद के ही अन्योपनिषदों पर

गहरा प्रभाव है अपितु वेदान्त दर्शन के सारभूत 'वेदान्तसार' नामक प्रतिष्ठित ग्रन्थ के रचयिता ने इतर उपनिषदों की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में इसी उपनिषद् से उद्धरण दिये हैं।

गौडपादकारिका : — माण्डूक्योपनिषद् की सर्वोपरि महत्ता इसमें है कि उसने भारतीय दर्शन के एक अद्भुत ग्रन्थ, 'गौडपादकारिका' को जन्म दिया। इस ग्रन्थ में कोई २०० से अधिक पद्य हैं जो ४ अध्यायों में विभक्त हैं। पहिले अध्याय में माण्डूक्योपनिषद् परिगृहीत है। इन कारिकाओं की प्रतिष्ठा इतनी है कि इसके ४ अध्याय ४ उपनिषद् ही माने जाते हैं। हो सकता है — कारिकाओं के रचयिता वही थे जो वेदान्त के महाभाष्यकार शङ्कर (८०० ई०) के गुरु पूज्यपाद गोविन्द के गुरु थे। शङ्कर का दृष्टिकोण तत्त्वतः वही है जो कारिकाकार का है; और कारिका में प्रतिपादित अनेक विचार एवं रूपक ठीक वही हैं जो शङ्कर के भाष्यों में सर्वतः प्रयुक्त हैं। सच तो यह है कि गौडपाद के ही सिद्धान्तों को शङ्कराचार्य ने क्रमबद्ध रूप से ठीक उसी तरह रखा जिस तरह प्लेटो ने परमेनिडीज़ के सिद्धान्तों को रखा था। वास्तव में इस भारतीय रचना में सर्वत्र व्याप्त दो मुख्य विचार हैं : — एक, अद्वैतवाद और दूसरा, अजाति (जगन्मिथ्यावाद); और ये विचार, आचार्य डाइसन कहते हैं, ग्रीक दार्शनिक के विचार के तुल्य हैं।

कारिका का प्रथम अध्याय तो माण्डूक्य उपनिषद् का पद्यमय अनुवाद ही है। विशेषता इतनी ही है कि उसमें जगत् को माया अथवा किसी तरह भी ब्रह्म का विकसितरूप नहीं बताया है; परन्तु कहा है कि वह ब्रह्म का ही स्वभाव है, ठीक उसी तरह जैसे मयूख का प्रकाश रविबिम्ब से अपृथक् है। कारिका का शेष अंश उपनिषद् से स्वतन्त्र है और उसमें प्रतिपादित विचार उपनिषद् के विषय से बहुत कुछ आगे बढ़े हुए हैं। कारिका के दूसरे अध्याय का नाम 'वैतथ्य' है जो जगत् की सत्ता के सिद्धान्त को वितथ या मिथ्या प्रमाणित करता है। जिस तरह अन्धकार में रज्जु पर विवर्त्त रूप से सर्प भासित होता है उसी तरह अज्ञान के तिमिर में आत्मा पर विवर्त रूप से जगत् की मिथ्या-प्रतीति होती है। आत्मा को किसी तरह भी प्रत्यक्ष का विषय मानने का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। कारण, प्रत्येक प्रमाता के आत्म-विषयक विचार जगत् के सम्बन्ध में अपनी अपनी अनुभूति पर निर्भर हैं।

कारिका के तृतीय अध्याय का नाम है अद्वैत, जिसमें परमात्मा का जीवात्मा के साथ ऐक्य का सिद्धान्त स्थापित किया है। जिस तरह घटावच्छिन्न आकाश अनवच्छिन्न आकाश से अभिन्न है उसी तरह जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न है। सृष्टि की उत्पत्ति तथा नानात्व के विपक्ष में तर्क करते हुए कारिकाकार इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं कि कार्य कारण से भिन्न नहीं हो सकता। सतो जन्म का सिद्धान्त असिद्ध है। कारण, उस मत में तो उत्पत्ति उसी की हो सकती है जिसकी सत्ता पूर्वतः विद्यमान हो। उसी तरह असतो जन्म का भी सिद्धान्त असिद्ध है। कारण, जिसकी सत्ता नहीं वह पदार्थ वन्ध्यापुत्र की भाँति असिद्ध है।

कारिका का चतुर्थ अध्याय 'अलातशान्ति' कहलाता है। इसका तात्पर्य है आग की चरखी का बुझाना या अग्निचक्र का प्रशमन। यह रूपक बड़ा सुन्दर है जिसके द्वारा जगत् के नानात्व तथा उसकी उत्पत्ति का रहस्य समझाया गया है। जिस तरह एक लकड़ी के सिरे पर आग सुलगा दी जाय और उसे ज़ोर से घुमाया जाय तो सारे चक्र में आग घूमती हुई नज़र आती है जो भी एक सिरे को छोड़ और कहीं से आग नहीं निकलती; उसी तरह अग्नि या तेज संसार चक्र में विज्ञान को छोड़ कर अन्यत्र कहीं नहीं, और जगत् के विभिन्न स्वरूप इसी 'विज्ञानं ब्रह्म' के स्फुलिङ्ग मात्र हैं।

अध्याय ९

सूत्र

(ई० पू० ५००–२००)

कल्पसूत्र

जिस तरह उपनिषद् ब्राह्मण-साहित्य में प्रतिपादित आध्यात्मिक विचारों को विकसित करते हैं तथा वैदिक दर्शन के सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उसी तरह श्रौत-सूत्र ब्राह्मण-साहित्य में वर्णित कर्मकाण्ड को विकसित करते हैं, यद्यपि वे उपनिषदों की भाँति 'श्रुति' के अन्तर्गत नहीं माने गये हैं। उन्हें वह पुनीत भाव प्राप्त नहीं हुआ है, सम्भवतः इस कारण कि वे ग्रन्थ पुरोहितों की मौखिक परम्परा की सहायता से ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर इस दृष्टि से रचे गये थे कि वे प्रयोग विधि की व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। श्रौतसूत्रों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ लगभग उस समय का है जब बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था। सच तो यह है कि एक प्रतिद्वन्द्वी धर्म के उदय ने ब्राह्मण-धर्म के कर्मकाण्ड को विधिवत् पद्धति के रूप में ग्रथित करने के प्रयास को प्रोत्साहित किया। बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने भी ब्राह्मणों की सूत्र पद्धति को धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये परम उपयुक्त साधन समझा; और तदनुरूप उन्होंने पाली भाषा में अपने प्रारम्भिक ग्रन्थों का निर्माण प्रस्तुत किया। कल्पसूत्र उस समग्र सूत्र-साहित्य की व्यापक संज्ञा है जिसमें वेद की शाखा से सम्बद्ध सम्पूर्ण धार्मिक नियम एवं प्रक्रिया का विवरण है। जिस शाखा की ऐसी सम्पूर्ण सामग्री सुरक्षित रही है उसी कल्पभाग का श्रौतसूत्र प्रथम एवं विस्तृत अंश है।

: १ :

श्रौतसूत्र

ऋग्वेद से सम्बद्ध हमें दो श्रौतसूत्र मिलते हैं जो शाङ्खायन एवं आश्वलायन के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये दो विभिन्न चरणों से सम्बद्ध हैं। शाङ्खायन शाखा

वह है जो आगे चलकर उत्तर गुजरात में बस गई थी और कृष्णा के मध्य प्रदेश में व्याप्त हुई। दोनों शाखाओं में लगभग प्रयोग-पद्धति इकसार है; परन्तु राजसूय महायागों का विवरण शाङ्खायन श्रौतसूत्र में अधिक विस्तार से दिया है। यह सूत्र शाङ्खायन ब्राह्मण से सम्बद्ध है, और प्रतीत होता है कि विषय और शैली के नाते तथा ब्राह्मण से अधिक निकट होने के कारण आश्वलायन सूत्र की अपेक्षा प्राचीनतर है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र में १८ अध्याय हैं जिसके अन्तिम दो अध्याय कौषीतकि आरण्यक के प्रथम दो अध्याय के तुल्य-रूप हैं और बाद में जोड़े हुए लगते हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र में १२ अध्याय हैं और वह ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बद्ध हैं। आश्वलायन ऋषि वही हैं जो ऐतरेय ब्राह्मण के चतुर्थ काण्ड के रचयिता माने जाते हैं और वे गुरु-परम्परा के अनुसार शौनक के शिष्य थे।

सामवेद से सम्बद्ध तीन श्रौतसूत्र हैं, उनमें सबसे प्राचीन मशक द्वारा रचित है और उसका नाम 'आर्षेयकल्प' है। इस ग्रन्थ में पञ्चविंश ब्राह्मण में दिये हुए क्रम के अनुसार सोमयाग की विभिन्न संस्थाओं से सम्बद्ध स्तुतियों की परिगणना मात्र है। लाट्यायन द्वारा प्रणीत श्रौतसूत्र कौथुमी शाखा का अभिमत ग्रन्थ है। मशकसूत्र की भाँति यह भी पञ्चविंश ब्राह्मण से बहुत निकट सम्बन्ध रखता है। इसमें आचार्य मशक का उल्लेख भी प्रमाण रूप में कई जगह पर मिलता है। द्राह्यायणों का श्रौतसूत्र लाट्यायन सूत्र के साथ बहुत कुछ समानान्तर है; और वह सामवेद की राणायनीय शाखा का प्रयोगकल्प माना जाता है।

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध कात्यायनप्रणीत श्रौतसूत्र है। इसमें २६ अध्याय हैं और इसकी प्रणाली शतपथ ब्राह्मण में दिये हुए प्रयोग क्रम के अनुसार हैं, तत्रापि इसके तीन अध्याय (२२–२४) सामवेद के प्रयोगों से सम्बद्ध हैं। कातीयसूत्र की शैली बहुत ही संक्षिप्त है जिससे ऐसा लगता है कि यह सूत्र-युग के अन्तिम भाग की रचना है।

कृष्ण यजुर्वेद के कोई ६ श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं, परन्तु उनमें से केवल दो ही आज तक प्रकाशित हुए हैं। इनमें से ४ परस्पर निकट सम्बन्ध रखने वाले सूत्रों का एक वर्ग है, जो तैत्तिरीय शाखा के चार उपशाखाओं के कल्पसूत्रों का अङ्ग है। ये उपशाखायें उन परवर्ती चरणों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो वेद अथवा ब्राह्मणतुल्य अपौरुषेय श्रुति का सम्मान पाने के अधिकारी नहीं है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र आपस्तम्ब शाखा के कल्पसूत्र के ३० प्रश्नों (अध्याय) में से पहिले २४ प्रश्नों से घटित है। हिरण्यकेशि आपस्तम्ब की ही एक प्रशाखा है और उनका श्रौतसूत्र अपने कल्पसूत्र के २० अध्यायों में से पहिले १८ अध्यायों से बना हुआ है। बौधायनसूत्र आपस्तम्ब एवं भारद्वाज सूत्र से कहीं अधिक प्राचीन है, परन्तु वह अद्यावधि अप्रकाशित ही है।

मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध मानव श्रौतसूत्र है। यह मानवों का प्रयोग-कल्प है। मानव मैत्रायणी की एक उपशाखा है जिससे मानव-धर्म-शास्त्र की प्रसूति मानी जाती है। यह ग्रन्थ सर्वप्राचीन ग्रन्थों में से अन्यतम है। यह ग्रन्थ वर्णनात्मक है और इसकी शैली यजुर्वेद के ब्राह्मण भाग के सुसदृश है; अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें केवल प्रयोग विधि का ही विवरण है और कोई आख्यान या संवाद या दार्शनिक ऊहापोह नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध एक और श्रौतसूत्र है—वैखानस, जिसका परिचय कुछ हस्त-लिखित प्रतियों द्वारा ही उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद का श्रौतसूत्र वैतानसूत्र है। न यह प्राचीन ही है और न मौलिक। परन्तु इसका निर्माण निश्चय ही इस उद्देश्य से हुआ कि इतर वेदों की भाँति अथर्ववेद के भी श्रौतसूत्र होने की आवश्यकता की पूर्ति हो। इस सूत्र की संज्ञा प्रथम सूत्र के प्रथम शब्द के आधार पर हुई है। वैतान यह शब्द त्रेता अग्नि का बोधक है और वस्तुतः यह संज्ञा सब ही श्रौतसूत्रों को दी जा सकती है। वैतानसूत्र गोपथ ब्राह्मण के बहुत कुछ निकट है यद्यपि शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन की पद्धति का इसमें स्पष्ट रीति से अनुसरण पाया जाता है। वैतानसूत्र एक परवर्ती रचना है। इसका प्रमाण एक यह है कि अन्य शाखाओं के गृह्यसूत्र अपने-अपने श्रौतसूत्रों को मानकर चले हैं, परन्तु वैतान सूत्र तो अथर्ववेद के गृह्यसूत्र पर अवलम्बित रचना है।

यद्यपि श्रौतसूत्र कर्मकाण्ड की प्रयोगविधि को ठीक-ठीक समझने के लिये परमावश्यक हैं तथापि वे किसी भी अन्य दृष्टिकोण से साहित्य के रूप में अत्यन्त अनाकर्षक हैं। अत एव यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा कि जिन प्रयोगों का विवरण उनमें मिलता है उनका संक्षेप में प्रतिपादन किया जाय। सर्वप्रथम यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये श्रौत-विधियाँ कभी भी सामूहिक रूप से नहीं की जाती थी, परन्तु वे एक व्यक्ति के ही हित की जाती थीं। उसे यजमान कहते हैं और वह तो स्वयं बहुत ही कम भाग लिया करता था। कर्म

करने वाले तो ब्राह्मण पुरोहित हुआ करते थे जिनकी संख्या प्रयोग के अनुसार एक से लगाकर १६ तक हुआ करती थी। इन विधियों में सबसे महत्व का भाग त्रेता अग्नि का हुआ करता था जो वेदी पर रखा जाता था। वेदी के लिये कुण्ड निर्माण किया जाता था जिसमें आहुति प्रदान के लिये कुश-समिधा बिछा दी जाती थी। पहिली विधि तो यज्ञिय अग्नि की स्थापना है जिसे अग्न्याधेय कहते हैं। यजमान और उसकी पत्नी द्वारा अरणि-मन्थन करके अग्नि प्रज्वलित की जाती और वह सदा जाज्वल्यमान रखी जाती थी।

श्रौतप्रयोगों की संख्या १४ है जो दो वर्गों में विभाजित हैं। एक वर्ग, हविर्यागों का है जिनमें हविष्यान्न की आहुति दी जाती है। दूसरे वर्ग में सोमयाग के साथ संस्थायें हैं। प्रत्येक वर्ग में विभिन्न स्वरूप के पशुयाग भी सम्मिलित हैं। हविर्यागों में पायस, घृत, दधि, धान्य एवं पुरोडाश आदि द्रव्यों की आहुति दी जाती है। ऐसे यागों में प्रमुख याग अग्निहोत्र है जिसमें प्रातः-सायं त्रेता अग्नि को पायस की आहुति दी जाती है। अन्य यागों में सबसे महत्वपूर्ण याग दर्शपूर्णमास है, जो अमावस्या और पूर्णिमा के दिन किया जाता है तथा उसे चातुर्मास्य याग के पूर्व करना आवश्यक होता है। कुछ याग ऐसे भी हैं जो नित्य या बारंबार किये जाते हैं। उनके अतिरिक्त नैमित्तिक इष्टियाँ भी हैं जो किसी निमित्तविशेष के कारण की जाती हैं। नैमित्तिक इष्टियों के अन्तर्गत काम्येष्टियाँ भी हैं जिनका विधान किसी विशेष कामना की पूर्ति के लिये किया जाता है।

सोमयागों की विभिन्न संस्थायें बहुत अधिक जटिल हैं। उनमें सबसे प्रमुख एवं सरल संस्था है अग्निष्टोम, परन्तु उसमें भी १६ ऋत्विजों की अपेक्षा होती है। अग्निष्टोम एकाह याग है। इसमें त्रिषवण मुख्य है। त्रिषवण का तात्पर्य है सोमवल्ली का प्रातः-सायं एवं मध्याह्न वेला में रस निकलना। अग्निष्टोम प्रारम्भ के पूर्व दिन कई प्रासंगिक विधियाँ करनी पड़ती हैं जिसके सम्पादन के पश्चात् ही यजमान याग करने का अधिकार प्राप्त करता है। इन विधियों में दीक्षा प्रमुख है जिसे यजमान और पत्नी को ग्रहण करना पड़ता है। सोमयाग की अन्य संस्थायें कई दिन की होती हैं। सबसे लम्बी संस्था १२ दिन में समाप्त होती है। इनके अतिरिक्त कुछ याग ऐसे हैं जो एक वर्ष तक या उससे भी अधिक दीर्घकाल तक चलते हैं। ऐसे यागों को 'सत्र' कहते हैं।

सोमयाग से सम्बद्ध एक परम पवित्र विधि है जिसे अग्निचयन कहते हैं। अग्निचयन में वेदी निर्माण के लिये इष्टिकाओं का चयन किया जाता है। अग्निचयन का काल एक वर्ष का है। इसके प्रारम्भ में ५ पशुओं की बलि दी जाती है। तत्पश्चात् 'उखा' नामक मृद्भाण्ड के निर्माण में बहुत समय लगता है। इस पात्र में ही यज्ञिय अग्नि का वर्ष भर निवास होता है। 'उखा' के निर्माण की सामग्री का सविस्तर वर्णन किया है और उसके सम्पादन के लिये भी विस्तृत नियम निर्धारित हैं। उदाहरणार्थ, उखा के लिये कृष्ण मृग के रोम चाहिए जो मिट्टी में साने जाते हैं। इसके अतिरिक्त उखा के आकार-प्रकार तथा अग्नि में पकाने तक की प्रक्रिया के नियम भी उल्लिखित हैं। वेदी के लिये अपेक्षित ईंटों का आकार पृथक्-पृथक् निश्चित है और उनका निर्माण विधिवत् होना आवश्यक है। उस वेदी में ५ स्तर होते हैं, सबसे नीचे के स्तर में १९५० ईंटे लगती हैं और कुल मिलाकर १०८०० ईंटे वेदीनिर्माण में अपेक्षित होती हैं। उनमें से कई ईंटों की तो विशिष्ट संज्ञाएँ हैं तथा ख़ास-ख़ास प्रयोजन भी। वेदी का निर्माण धीरे-धीरे होता है। जैसे ईंटे बनती जाती हैं वैसे वे यथास्थान रखी जाती हैं। इनके साथ प्रकल्पित विधियाँ हैं और अनेक मन्त्रों का विनियोग है। इस विधि में ऋत्विजों की बड़ी संख्या में अपेक्षा होती है। अग्निचयन के ये कुछ मुख्य अंश हैं जिनसे इस बात का पता चल जाता है कि ये विधियाँ कितनी सविस्तर एवं जटिल हुआ करती थीं और ब्राह्मणयुग में प्रचलित कर्मकाण्ड में छोटी सी छोटी बात पर कितना ध्यान दिया जाता था। विश्व के किसी धर्म में तत्तुल्य जटिल कोई विधान नहीं पाया जाता।

: २ :

गृह्यसूत्र

गृह्यसूत्र तो ब्राह्मणग्रन्थों की परिधि से बाहर हैं। गृह्यसूत्रों के निर्माताओं को दैनिक जीवन की धार्मिक विधियों को नियमबद्ध करने के प्रयास में प्रचलित रूढ़ियों को ही आधार मानना पड़ा है। गृह्यसूत्र निश्चय ही श्रौतसूत्रों के बाद की रचनाएँ हैं। कारण, ख़ास-ख़ास स्थान पर गृह्यसूत्रों में श्रौतविधि के साथ परिचय लक्षित होता है।

ऋग्वेद से सम्बद्ध पहिला गृह्यसूत्र शाङ्खायन गृह्य है। इसमें ६ अध्याय हैं, जिनमें पहले चार ही मौलिक प्रतीत होते हैं। इन चार अध्यायों में भी यत्रतत्र परवर्ती अन्तर्निवेश उपलब्ध होते हैं। इस ग्रन्थ के समकक्ष दूसरा ग्रन्थ है शाम्बव्यगृह्य।' यह कौषीतकिशाखा का गृह्यसूत्र है और अद्यावधि अप्रकाशित है। यद्यपि इस सूत्र में शाङ्खायन से बहुत कुछ सामग्री ली गई है तथापि वह, वस्तुतः एक स्वतन्त्र ही ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें शाङ्खायन के अन्तिम दो अध्यायों में वर्णित विषय का कहीं विवेचन नहीं है। इतना ही नहीं, वरन् तीसरे और चौथे अध्याय में दिये हुए कई संस्कारों का भी उल्लेख नहीं है। शाम्बव्यगृह्य में पितृयज्ञविषयक एक नया अध्याय है जो शाङ्खायन गृह्य में नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बद्ध आश्वलायन-गृह्यसूत्र है। प्रणेता ने प्रथमसूत्र में प्रकट किया है कि यह सूत्र स्वनिर्मित श्रौतसूत्र का ही भाग है। आश्वलायनगृह्य में चार अध्याय हैं और श्रौतसूत्र की भाँति इसकी समाप्ति भी 'नमः शौनकाय' से होती है।

सामवेद का मुख्य गृह्यसूत्र है गोभिलगृह्य; जो न केवल सबसे पुरातन ही, अपितु सर्वथा पूर्ण एवं अत्यन्त मनोहर रचना है। ऐसा लगता है यह सामवेद की उभय शाखाओं से सम्बद्ध सूत्र है। सामवेद संहिता के अतिरिक्त मन्त्रब्राह्मण पर भी यह सूत्र आधारित है। मन्त्रब्राह्मण वह संग्रह है जिसमें संहिता में दिये हुए मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों का प्रयोग-क्रम के अनुसार संकलन मिलता है और जिनका उद्धरण गोभिल ने प्रतीक देकर दिया है। खादिरगृह्यसूत्र वास्तव में द्राह्यायण शाखा का सूत्र है, परन्तु उसका प्रयोग सामवेद की राणायनीय शाखा के अनुयायी भी करते हैं। वस्तुतः यह गोभिलगृह्यसूत्र का ही एक संक्षिप्त संस्करण है।

शुक्लयजुर्वेद का गृह्यसूत्र पारस्करगृह्य है। इसे ही कातीय अथवा वाजसनेय गृह्यसूत्र भी कहते हैं। कात्यायनप्रणीत श्रौत्रसूत्र से यह इतना निकट है कि बहुधा इस गृह्यसूत्र को भी लोग कातीय रचना के रूप में उल्लिखित कर देते हैं। परवर्ती युग में निर्मित, याज्ञवल्क्य-स्मृति पर पारस्करगृह्यसूत्र का प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

कृष्ण यजुर्वेद के सात गृह्यसूत्र हैं जिनमें से केवल तीन ही आज तक प्रकाशित हुए हैं। आपस्तम्ब गृह्य तो आपस्तम्ब कल्पसूत्र के दो काण्ड (२६–२७) ही हैं। इनमें से प्रथम काण्ड में केवल मन्त्र-पाठ है जो विविध संस्कारों में विहित मन्त्रग्राम का संकलन है। वास्तव में, गृह्य संस्कारों से

सम्बद्ध विषय का विवेचन तो द्वितीय काण्ड में है। इसको समझने के लिये मन्त्रपाठ आवश्यक है। हिरण्यकेशि कल्पसूत्र के अध्याय १९ और २० ही हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र हैं। बोधायन गृह्य के सम्बन्ध में अधिक परिचय प्राप्त नहीं और उससे भी कम परिचय भारद्वाज सूत्र से है। मानवगृह्यसूत्र श्रौतसूत्र से अत्यन्त निकट है; उसमें श्रौतसूत्र की कई उक्तियाँ शब्दशः उद्धृत हैं। मानवगृह्य में विनायक पूजा का प्रकरण ऐसा है जिसका उल्लेख अन्य किसी गृह्यसूत्र में नहीं पाया जाता। यह अंश याज्ञवल्क्य स्मृति में पद्यरूप में परिणत किया गया है जहाँ मानवगृह्य में वर्णित विनायक चतुष्टयी का अन्तर्भाव एक ही विनायक, गणेश के रूप में मिलता है। मानवगृह्य से बहुत कुछ मिलता जुलता काठक गृह्यसूत्र है जिसका न केवल रचना-क्रम ही, अपितु कई स्थानों पर पदावली भी मानवगृह्य से उपात्त है। काठकगृह्य का विष्णुस्मृति से बहुत निकट सम्बन्ध है। वैखानस गृह्यसूत्र एक बड़ा ग्रन्थ है और इसमें परवर्ती युग की रचना होने के अनेक लक्षण हैं; कारण, यह उन विषयों का भी विवेचन करता है जो वास्तव में परिशिष्ट ग्रन्थों के अन्तर्गत माने गये हैं।

अथर्ववेद का गृह्यसूत्र कौशिकसूत्र है और यह बड़े महत्त्व का है। इसे केवल गृह्यसूत्र ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गृह्य-संस्कारों की पद्धति देने के सिवाय इसमें अथर्ववेद से सम्बद्ध अनेक मन्त्रतन्त्रों की विधियों का भी विवेचन है। ऐसे विषयों पर सविस्तर विवरण के कारण यह इतर वेदों से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक सामग्री प्रस्तुत करता है। ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ चार या पाँच अलग-अलग ग्रन्थों से घटित एक संकलनात्मक रचना है। अथर्ववेद के साथ कौशिकसूत्र का अवलोकन करने पर वैदिकयुगीन भारतीय के सामान्य जीवन का पूर्ण स्वरूप प्रकट हो जाता है।

गृह्यसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय स्मार्त संस्कारों का वर्णन है। ये संस्कार गृहस्थ और उसके परिवार के लोगों के जन्म से मृत्युपर्यन्त समय-समय पर की जाने वाली विभिन्न विधियाँ हैं। स्मार्त विधियों के निर्वर्तन के लिये स्मार्त अग्नि की ही अपेक्षा होती है। इस अग्नि को आवसथ्य या वैवाहिक अग्नि कहते हैं, जो श्रौत विधि में अपेक्षित त्रेता अग्नि से पृथक् है। गृह्यसूत्रों में वर्णित संस्कारों की संख्या ४० है जिन्हें मनुष्य को अपने जीवन के विभिन्न अवसरों पर करना होता है। इनमें पहिले १८ संस्कार — गर्भाधान से विवाहपर्यन्त — कायिक संस्कार कहलाते हैं। शेष २२ संस्कार

यज्ञात्मक हैं जिनमें से ५ आह्निक कर्म के अन्तर्गत हैं। ये 'पञ्चमहायज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध हैं। शेष विधियाँ पाकयज्ञ कहलाती हैं। उक्त गृह्य विधियों को छोड़, शेष विधियाँ श्रौत विधान के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

गृह्यकल्प में प्रथम संस्कार पुंसवन है जिसका लक्ष्य पुत्रप्राप्ति है। एतदर्थं मुख्य प्रयोग है कि पत्नी के दक्षिण नासारन्ध्र में कदलीवृक्ष के परिमृदित अङ्कुर को रखना। तत्पश्चात् जातकर्म और नामकरण संस्कार हैं, जो प्रायः नवजात शिशु के दसवें दिन किये जाते हैं। नामकरण में दो नाम एक शिशु को दिये जाते हैं; एक गुप्त नाम, जिसे केवल माता-पिता ही जानते हैं और जिसका प्रयोग मन्त्र-तन्त्र या जादू टोने से बचाव के लिये किया जाता है, और दूसरा नाम प्रचलित नाम होता है जिसे सब कोई जानते हैं। शिशु का नाम कैसा होना चाहिये—इस सम्बन्ध में बड़ा सूक्ष्म विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, नामपद में वर्णों की संख्या युग्म होनी चाहिये तथा प्रारम्भिक वर्ण मृदु-व्यञ्जन हों और मध्य में अन्तस्थ वर्ण हों। ब्राह्मण शिशु के नाम के अन्त में शर्मन्, क्षत्रिय के वर्मन् और वैश्य के गुप्त पद का प्रयोग किया जाता है। प्रायः तीसरे वर्ष की आयु में चूड़ाकर्म होता है जिसमें शिशु का केश-वपन पहिली बार किया जाता है। उसे मुण्डनसंस्कार भी कहते हैं। केश-वपन के समय शिशु के मस्तक पर एक या दो, कुल की परिपाटी के अनुसार, चूल छोड़ दिये जाते हैं; शेष भाग का मुण्डन किया जाता है। १६ वर्ष की आयु पाने पर श्मश्रुलुञ्चन या दाढ़ी बनाने का संस्कार विहित है। इस संस्कार को गोदान कहते हैं; कारण, इस संस्कार के अवसर पर एक या दो, गौ का दान आवश्यक है।

बाल्यकाल का प्रमुख संस्कार है उपनयन। यह वह विधि है जिसमें ब्रह्मचारी गुरु के पास शिक्षा-दीक्षा के लिये ले जाया जाता है। ब्राह्मण बालक का यह संस्कार आठ वर्ष की आयु से लगाकर १६ वर्ष की आयु तक समाप्त हो जाना चाहिये। परन्तु क्षत्रिय और वैश्य बालकों के लिये काल की अवधि कुछ अधिक एवं अधिकतर है। इस अवसर पर ब्रह्मचारी को एक दण्ड, एक वस्त्र, मेखला तथा यज्ञोपवीत सूत्र दिया जाता है जिसे वह अपने वाम कन्धे से दक्षिण बाहुमूल के नीचे धारण करता है। दण्ड, और ऊपर कही हुई वस्तुएँ ब्रह्मचारी के वर्ण के अनुसार पृथक्-पृथक् होती हैं। यज्ञोपवीत आर्य होने का बाह्य लक्षण है। यह सूचित करती है कि यह तीन उच्च वर्णों में से है।

यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् उसका मानो द्वितीय जन्म होता है और तब से उसे द्विज कहते हैं। इस संस्कार का आध्यात्मिक महत्त्व यह है कि वह यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त करता है और परम पवित्र सावित्री मन्त्र का जाप कर सकता है। इस संस्कार में जो गुरु उसे मन्त्रोपदेश करता है वह उसका धर्मपिता माना जाता है और सावित्री उसकी माता होती है।

उपनयन संस्कार आज भी भारत में उसी तरह किया जाता है। यह प्रथा अतिप्राचीन परम्परा पर आधारित है। १५ वर्ष का बालक पवित्र सूत्र धारण कर ही जरथोस्त जाति में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है। अवेस्ता की परम्परा भी यह प्रमाणित करती है कि यज्ञोपवीत धारण की प्रथा हिन्द-ईरानी युग से चली आ रही है। विश्व भर की प्रारम्भिक जातियों में कुमारावस्था प्राप्त करने पर उपनयन संकार की विधि तथा द्वितीय जन्म का सिद्धान्त प्रकट करता है कि यह रूढ़ि और भी अधिक प्राचीन होनी चाहिये, जिसके आधार पर ब्राह्मण धर्म में यह संस्कार वेदाध्ययन में प्रवेश कराने वाले संस्कार के रूप में परिणत हो गया।

ब्रह्मचारी के लिये अनेक नियम भी गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित हैं। वेदाध्ययन के लिये नियमित क्रम है; तथा अन्तेवासी के लिये आचार सम्बन्धी नियम भी बताये गये हैं, जिनमें समिधानयन, प्रातः-सायं सन्ध्योपासन, भिक्षाचरण, भूशयन तथा गुरु की आज्ञा का पालन आदि प्रमुख कर्त्तव्य हैं।

अध्ययन परिसमाप्त होने पर ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त होता था। अध्ययन काल १२ वर्ष का होता था अथवा उतना समय जिसमें वह वेदाध्ययन समाप्त कर ले। अध्ययन समाप्त होने के बाद घर लौटने के लिये ब्रह्मचारी का समावर्तन संस्कार किया जाता था। समावर्तन संस्कार का मुख्य अंश है स्नान, जो इस बात का प्रतीक है कि उसे अपनी छात्रवृत्ति से स्नात (= निवृत्त) हो जाना ही है। अब वह स्नातक (अर्थात् जिसने स्नान कर लिया है) कहलाता है, और वह तुरन्त ही, जीवन के महत्त्व के आश्रम में विवाहसंस्कार द्वारा प्रवेश करता है। इस संस्कार के मुख्य अंश निश्चय ही भारोपीय युग की परम्परा से प्राप्त हैं; और यह संस्कार यज्ञ यागादि धर्म की अपेक्षा जादू-टोने की पद्धति से कहीं अधिक सम्बद्ध है। पाणिग्रहण वधू को पति के अधिकार में सदा बनाये रखने का प्रतीक है। वह अश्मा (पत्थर) जिस पर वधू खड़ी

की जाती है उसे स्थिर बनाने का साधन माना जाता है। अपने पति के साथ सप्तपदी तथा यज्ञांश प्राशन की पद्धति, पति का अनुगमन तथा उसके साथ सहभोज आदि प्रीति लक्षण हैं। धन-धान्य समृद्धि तथा पुत्रोत्पत्ति के हित कुछ संस्कार पतिगृह में वधू के पहुँचने पर किये जाते हैं। उदाहरणार्थ – वधू को लाल बैल के चर्मासन पर बैठाते हैं और उसकी गोद में अमृतवत्सा सुवासिनी के पुत्र को रखते हैं। विवाह संस्कार में अग्नि ही मुख्य देव हैं; कारण, अग्नि की त्रिधा परिक्रमा वधू के साथ वर करता है। इसी प्रक्रिया को परिणय कहते हैं। तब से वह गार्हपत्य अग्नि को ग्रहण करता है और यावज्जीव उसका प्रतिपालन करता है। अग्नि को आहुतियाँ दी जाती हैं और वैदिक मन्त्रों का उपचार किया जाता है। सूर्यास्त के पश्चात् वर, वधू को प्राङ्गण में ले जाता है; वह आकाश में उसे ध्रुव और अरुन्धती के तारे दिखाता है, और वे परस्पर एक दूसरे के प्रति स्थिरता और अविभक्तता की शपथ ग्रहण करते हैं। वैवाहिक पद्धति आज भी भारत में अधिकतर उसी तरह प्रचलित है जैसी सूत्रों में विहित है।

उपर्युक्त अन्य सभी संस्कार केवल पुरुषों के लिये ही हैं, विवाह ही एक ऐसा संस्कार है जिसमें बालिका सम्मिलित की जाती है। इन संस्कारों में से लगभग १२ संस्कार आज भी भारतीय समाज में प्रचलित हैं जिनमें विवाह और उपनयन प्रमुख हैं। शेष संस्कार तो अधिकतर प्रतीक के रूप में मनाये जाते हैं, जैसे ब्रह्मचारी का गुरुकुल में जाना और उसका समावर्तन आदि।

गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों में मुख्य धर्म है पञ्चमहायज्ञ। यह नित्यकर्म है। इनमें प्रथम है ब्रह्मयज्ञ अर्थात् स्वाध्याय (= नित्य वेदाध्ययन)। द्वितीय है देवयज्ञ, जिसमें अग्नि में घृत के द्वारा होम किया जाता है। तृतीय है पितृयज्ञ, अर्थात् पितरों का तर्पण; चतुर्थ है भूतयज्ञ, जिसमें भूतप्रेतादि प्राणियों के लिये बलि दिया जाता है तथा पञ्चम है मनुष्ययज्ञ जिसके अन्तर्गत अतिथि-सत्कार एवं यति ब्रह्मचारी आदि को भिक्षा प्रदान करना है। पञ्च महायज्ञों में सर्वप्रथम का अति महत्त्व है। प्रातः सायं सावित्री मन्त्र के जाप की महिमा समग्र वेद के पारायण के तुल्य कही गई है। आज भी आस्तिक ब्राह्मणों में पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान अधिकांश नित्य प्रचलित है।

इनके अतिरिक्त अन्य याग भी हैं जो समय-समय पर किये जाते हैं। उनमें मुख्य है दर्शपूर्णमास, जिसमें गृह्यविधि के अनुसार पाकयज्ञ किया जाता

है, जब कि श्रौतविधि में पुरोडाश के द्वारा इष्टि सम्पन्न होती है। वर्षारम्भ में सर्पेष्टि की जाती है और उस ऋतु में सर्प के भय से शयन के लिये ऊँची खाट का प्रयोग किया जाता है। नवग्रह-निर्माण एवं गृह-प्रवेश के उपलक्ष में कई इष्टियाँ विहित हैं। गृह-निर्माण के प्रकार तथा उपयुक्त स्थान के सम्बन्ध में भी अनेक विधान हैं, उदाहरणार्थ—पश्चिमाभिमुख द्वार निषिद्ध है। दारु-निर्मित गृह-निर्माण के प्रसङ्ग पर पशु बलि दी जाती है। कई इष्टियाँ पशु से सम्बद्ध हैं; उदाहरणार्थ, समाज के कल्याण के हित वृषोत्सर्ग का विधान है। इनके अतिरिक्त कृषि से सम्बन्ध रखने वाली कुछ इष्टियाँ हैं, यथा—नवधान्य के उत्पन्न होने पर सस्येष्टि की जाती है। आचार्यों के स्मारक में निर्मित चैत्यों को भी बलि समर्पण विहित है। इनके अलावा दुःस्वप्न, अपशकुन तथा व्याधियों के प्रशमन के लिये भी अनेक विधान दिये गये हैं।

अन्त में, गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित सबसे महत्त्वपूर्ण एवं रोचक विषय हैं अन्त्येष्टि एवं पितृपूजा। दो वर्ष से कम की आयु के शिशु को छोड़ सबके शव के लिये दाह संस्कार विहित है। मृत शरीर के केश और श्मश्रु का वपन कर कृन्तन कर दिया जाता है और उसके शरीर को अभ्यक्त कर गले में माला पहना दी जाती है। क्षत्रिय शव के हाथ से धनुष, ब्राह्मण के हाथ से दण्ड और वैश्य के हाथ से उसका प्रतोद ले लिया जाता है और उसे तोड़ कर शव की चिता पर रख दिया जाता है। यह भी विधान है कि शव के साथ गो अथवा अज का भी दाह किया जाता है। तत्पश्चात् ७ या १० पीढ़ी तक के समस्त सगोत्र स्नान करते हैं। इसके पश्चात् स्थण्डिल पर बैठ कर वैसी कथा-पुराण का श्रवण करते हैं जिनका मुख्य विषय संसार की असारता तथा जगत् की अनित्यता पर प्रवचन हो। अन्त में, वे लोग इधर-उधर न देखते हुए सब मिलकर एक साथ घर लौटते हैं जहाँ अनेक विधियाँ की जाती हैं। मृत्यु के पश्चात् कुछ दिन अशौच रहता है। यह अशौच प्रायः त्रिरात्र रहता है जिसमें समस्त बान्धवों को भूतल पर शयन करना होता है तथा उन दिनों मांस भक्षण वर्जित है। मृत्यु की दूसरी रात में प्रेतात्मा को पिण्ड दिया जाता है और उस पर जलाञ्जलि दी जाती है; खुले मैदान में दूध और जल के पात्र रखे जाते हैं और प्रेतात्मा को स्नानार्थ निमन्त्रित किया जाता है। सामान्य नियम है कि दशाह के दिन अस्थिसञ्चय कर उसे पात्र में रख दिया जाता है और उसे इस ऋचा को पढ़कर भूमि में गाड़ दिया जाता है।

"उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
उर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात् ॥"[1]
(ऋ० १०।१८।१०)

गृह्यसूत्रों की मान्यता है कि वह दिवङ्गत आत्मा कुछ दिन पितरों में मिल नहीं पाता और उसकी संज्ञा प्रेतात्मा रहती है। पितरों में सम्मिलित होने के लिये एक विशेष श्राद्ध किया जाता है जिसे 'एकोद्दिष्ट श्राद्ध' कहते हैं। इस श्राद्ध का यह फल है कि तत्पश्चात् वह प्रेतात्मा पितरों में सम्मिलित हो जाता है और उसका सम्बन्ध इह लोक से छूट जाता है। इस श्राद्ध के न करने पर यह सम्भावना रह जाती है कि प्रेतात्मा को पितरों में स्थान न मिलने के कारण वह इसी लोक में घूमता रहता है और गोत्रजों को सता सकता है। एक वर्ष समाप्त होने से पूर्व 'सपिण्डीकरण' नामक श्राद्ध किया जाता है जिसका फल यह है कि वह प्रेतात्मा अपने पूर्वज पितरों के साथ एकरूप होकर मिल जाता है। वर्ष के उपरान्त एक बड़ा समारम्भ किया जाता है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर किये जाने वाले अनेक श्राद्धों का विधान है, जैसे 'पार्वण श्राद्ध' आदि। और भी कई विधियाँ हैं जो नैमित्तिक एवं ऐच्छिक हैं। ये विधियाँ आज भी भारतवर्ष में बहुत महत्त्व की मानी जाती हैं तथा प्रथम सांवत्सरिक श्राद्ध के अवसर पर सम्पन्न कुलों में तो आज भी ५-६ हजार रुपये का व्यय हो जाता है।

ध्यान रहे कि पितरों के निमित्त विहित पूर्वोक्त गृह्य विधियों से पिण्ड-पितृयज्ञ नामक श्रौत इष्टियाँ बिल्कुल विभिन्न हैं। एक पिण्डपितृयज्ञ, जो दर्शेष्टि के पूर्व दिन किया जाता है; और दूसरा पितृयज्ञ, जो त्रैमासिक या चातुर्मासिक यागों से सम्बद्ध है।

पितृपूजा का यह प्रकार भारतवर्ष में बहुत अधिक एवं सविस्तर पाया जाता है। वैदिक युग से लगाकर मध्ययुगीन निबन्ध ग्रन्थों तक श्राद्ध

---

१. हे मृत ! मातृरूपिणी, विस्तृत और सुखदायिनी पृथिवी के निकट जाओ। यह युवती स्त्री के समान तुम्हारे लिए मेष के पुञ्जीकृत लोम के सदृश कोमलस्पर्शा है। तुमने दक्षिणा दी है या यज्ञ किया है। यह पृथिवी मृत्यु के पाश से अस्थि-रूप तुम्हारी रक्षा करे। (ऋ. १०।१८।१०)

सम्बन्धी एक विशिष्ट साहित्य उपलब्ध होता है। यह साहित्य श्राद्धकल्प के नाम से वर्गीकृत है। हेमाद्रि द्वारा प्रणीत श्राद्धकल्प नामक ग्रन्थ का आयाम 'बिब्लोथिका इण्डिका' संस्करण में लगभग १७०० पृष्ठ का है।

प्राचीन भारत के गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में विवरण देने वाले गृह्यसूत्रों में उपलब्ध प्रभूत सामग्री का यह अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है।

कदाचित्, पर्याप्त रूप से कहा जा चुका है कि भारतीयों का गृह्यविधान मानवमात्र के लिये बहुत रोचक विषय है, तथा मानव सभ्यता के इतिहास में गृह्यसूत्रों का कहीं उच्च स्थान है।

: ३ :

धर्मसूत्र

सूत्र-साहित्य की एक और शाखा है जो स्मृति पर आधारित धर्मसूत्र हैं। ये दैनन्दिन जीवन के नियमों का प्रतिपादन करते हैं। इन्हें समयाचारिक सूत्र कहते हैं। भारत में क़ानून सम्बन्धी साहित्य के ये आदि ग्रन्थ हैं जिनमें अधिकतर धार्मिक और कुछ, लौकिक व्यवहार सम्बन्धी नियम भी प्रस्तुत हैं। वास्तव में तो धर्मसूत्र वैधानिक सूत्रों का वह समूह है जो वेद की अपनी-अपनी शाखा से सम्बद्ध सूत्र-साहित्य का विशिष्ट अङ्ग है। इसी धारणा को लेकर तीन धर्मसूत्र सुरक्षित रखे गये और वे कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध हैं। इसी उदाहरण से यह माना जा सकता है कि इस वर्ग के अन्य ग्रन्थ भी जो सुरक्षित हैं अथवा जिनका अस्तित्व विदित है, वास्तव में वे किसी न किसी वैदिक शाखा से सम्बद्ध रहे हैं। धर्मसूत्रों की रचना अवश्य ही बहुत पुराने समय में हुई होगी। कारण, सूत्रयुग के प्रारम्भिक काल के निरुक्तकार यास्क ने जिन धर्मसूत्रों का उद्धरण दिया है उनकी शैली सर्वथा सूत्रात्मक पाई जाती है। निश्चय ही, धर्मसूत्रों में से एक दो ग्रन्थ यास्क के समकालिक हो सकते हैं।

धर्मसूत्रों में आपस्तम्ब सूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो मौलिक रूप में सुरक्षित तथा आधुनिक सम्पादकों या सम्प्रदायवादियों के प्रभाव से अस्पृष्ट मिलता है। विशालकाय आपस्तम्ब कल्पसूत्र के ३० काण्डों में से केवल दो

काण्ड (२८, २९वाँ) धर्मसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। आपस्तम्ब कल्पसूत्र वह है जिसमें यागों की प्रयोग विधि तथा विजातियों के लिये विहित कर्मों का उल्लेख है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में मुख्यतः ब्रह्मचारी और गृहस्थ के धर्मों का प्रतिपादन है। साथ ही साथ निषिद्ध भोजन, व्रत, उपवास तथा प्रायश्चित्तों का भी विधान उसमें पाया जाता है। इनके अतिरिक्त लोक-व्यवहार की दृष्टि से विवाहसम्बन्धी नियम, दायभाग का विवेचन और दण्डविधान भी इसका प्रतिपाद्य विषय है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में औत्तरीयों के आचार की कहीं-कहीं निन्दा पाई जाती है। अत एव यह माना जा सकता है कि 'इस ग्रन्थ का रचयिता दाक्षिणात्य था'। आगे चलकर आपस्तम्ब शाखा दक्षिण प्रान्त में बद्धमूल हुई। अपाणिनेय प्रयोगों के प्राचुर्य के कारण तथा भाषा-सम्बन्धी अन्य लक्षणों के आधार पर आचार्य ब्यूहलर ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र का रचना-काल ई० ४थी शताब्दी में कहीं निर्धारित किया है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र से बहुत कुछ निकट सम्बन्ध रखने वाला हिरण्यकेशि सूत्र है। इन दोनों में पाठ-भेद के अतिरिक्त कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्वाह करते हुए आपस्तम्बों की ही एक पृथक् शाखा हिरण्यकेशियों की प्रसूत हुई, और वह नैऋत्य दिशा में गोआ के आस-पास कोंकण प्रान्त में नई शाखा के रूप में बद्धमूल हो गई'। आपस्तम्ब शाखा से हिरण्यकेशि के पृथक्करण का समय ई० की पाँचवीं शताब्दी के लगभग हो सकता है। कारण, उस समय के उत्कीर्ण लेख में किसी हिरण्य-केशि ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है। हिरण्यकेशि सूत्र की महत्ता विशेषकर इसी अंश में है कि इसके आधार पर आपस्तम्ब धर्मसूत्र का मूल रूप यथावत् निर्धारित किया जा सकता है। हिरण्यकेशि कल्पसूत्र के २९ काण्डों के अन्तर्गत दो काण्ड (२६, २७) ही धर्मसूत्र कहलाते हैं।

तीसरा धर्मसूत्र बौधायनों का है। हस्तलिखित ग्रन्थों में प्रायः इसका उल्लेख धर्मशास्त्र के नाम से है। बौधायन शाखा के कल्पसूत्र के अन्तर्गत बौधायन धर्मसूत्र की स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी पूर्वोक्त दो धर्मसूत्रों की अपने अपने कल्पसूत्रों में पाई जाती है। इन दोनों के प्रतिपाद्य विषयों की तुलना करने पर प्रतीत होता है कि बौधायन धर्मसूत्र प्राचीनतर है। कारण, जिस तरह बौधायन गृह्यसूत्रों में आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक आर्ष प्रयोग तथा असुन्दर रचना के प्रतीक पाये जाते हैं ठीक उसी तरह

बोधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों की भाषा-शैली में तारतम्य है। इसी तारतम्य के कारण आपस्तम्ब का रचना-काल बोधायन से अनुवर्ती कहा जा सकता है।

आज के युग में बौधायन शाखा का पता नहीं चलता, परन्तु ऐसा लगता है यह दक्षिण भारत में रही होगी जहाँ वेदभाष्यकार बौधायन-शाखीय सायण ईसा की १४ वीं सदी में हुए थे। बौधायन धर्मसूत्र में विविध विषयों का प्रतिपादन है जिनमें चार आश्रमों और विभिन्न जातियों के धर्म, विभिन्न प्रकार के याग, प्रायश्चित्त, व्रत, उपवास, माङ्गलिक संस्कार, राजधर्म, दण्डनीति साक्ष्य-प्रकरण, विवाह और दायभाग के नियम तथा स्त्रीधर्म मुख्य हैं। बौधायन धर्मसूत्र का चौथा अध्याय लगभग पूरा ही पद्यबद्ध है—सम्भवतः वह बाद में जोड़ दिया गया हो। इसी प्रकार तृतीय भाग का भी रचना-काल कुछ सन्दिग्ध सा ही है।

इन्हीं ग्रन्थों की श्रेणी में गौतम धर्मसूत्र भी रखा जाना चाहिये। यह अत्यन्त सुरक्षित रूप में उपलब्ध धर्मग्रन्थ है। यद्यपि यह किसी कल्पसूत्र का अंश नहीं तथापि यह अवश्य किसी न किसी समय किसी वैदिक शाखा से अवश्य सम्बद्ध रहा होगा। गौतमकुल सामवेद की राणायनीय शाखा का उपाङ्ग माना गया है, और कुमारिल का कथन है कि गौतम की यह रचना सामवेद के राणायनीय शाखा का धर्मसूत्र है। कुमारिल की यह उक्ति इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि गौतम धर्मसूत्र का २६ वाँ अध्याय शब्दशः सामविधान ब्राह्मण से उद्गृहीत है। यद्यपि इसकी संज्ञा धर्मशास्त्र है तथापि स्वरूप एवं शैली की दृष्टि से वस्तुतः यह एक धर्मसूत्र ही है। यह ग्रन्थ आद्योपान्त गद्यबद्ध सूत्रों में रचित है और इसमें इस वर्ग के अन्य ग्रन्थों की भाँति पद्य-रचना का मिश्रण कहीं नहीं है। इसका प्रतिपाद्य विषय बौधायन धर्मसूत्र जैसा ही विविध है और प्रतिपादन शैली भी बहुत कुछ मिलती जुलती है। बौधायन धर्मसूत्र में कई सन्दर्भ ऐसे हैं जिनका आधार या उपजीव्य गौतम धर्मसूत्र है। अत एव यह मानना होगा कि धर्मसूत्रों में गौतम धर्मसूत्र ही सबसे प्राचीन है और इसका रचनाकाल ई० पू० ५०० से परवर्ती नहीं कहा जा सकता।

सूत्रशैली में उपनिबद्ध वैदिक युग की ऐसी एक और रचना है जो वसिष्ठ धर्मशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक हलके से हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप

में उपलब्ध है और मूलग्रन्थ को सुरक्षित रखने वाले भाष्य से विहीन है। इसमें ३० अध्याय हैं जिनके अन्तिम १५ अध्याय अधिकांश बाद की रचनाएँ प्रतीत होती हैं। न केवल इन पिछले ५ अध्यायों में ही, अपितु पूर्व भाग में भी उपलब्ध शब्दों का स्वरूप अत्यन्त अशुद्ध है। इस ग्रन्थ में गद्यबद्ध सूत्रों के बीच अनेक पद्य भी पाये जाते हैं। इन पद्यों का छन्द अधिकतर आर्ष त्रिष्टुप् है, जहाँ मनु प्रभृति अन्य धर्मशास्त्रकारों ने श्लोक नामक छन्द का प्रयोग अपनाया है। इसमें प्रतिपादित विषय निःसन्देह धर्मसूत्र के स्वरूप के हैं और अनेक दृष्टि से ग्रन्थ की प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। उदाहरणार्थ, इस धर्मसूत्र में भी आपस्तम्ब धर्मसूत्र की भाँति ६ प्रकार के विवाह सम्मत हैं, न कि रूढ़िप्राप्त आठ। कुमारिल का कथन है कि उस युग में वसिष्ठ धर्मसूत्र ही सर्वत्र प्रमाण माना जाता था और उसका अध्ययन ऋग्वेदी किया करते थे। कुमारिल का तात्पर्य वर्तमान वसिष्ठ धर्मसूत्र से ही है, क्योंकि कुमारिल की रचनाओं में उद्धृत वसिष्ठ सूत्र के अंश आजकल प्रकाशित ग्रन्थ में ज्यों के त्यों मिलते हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र में उदाहृत वैदिक संहिता एवं सूत्रों के उद्धरणों से पता चलता है कि वसिष्ठ की अभिरुचि उत्तर भारत में प्रचलित ग्रन्थों की ओर अधिक थी। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वह, अथवा उसकी शाखा उत्तर भारतीय थी। वसिष्ठ धर्मसूत्र में गौतम का भी उद्धरण पाया जाता है और वह गौतम धर्मसूत्र के उपलब्ध ग्रन्थ का ही एक अंश है। वसिष्ठ धर्मसूत्र में मनु के नाम से कई उद्धरण मिलते हैं परन्तु वे बाद में रची हुई सुप्रसिद्ध मनुस्मृति से लिये हुए नहीं लगते। स्पष्ट ही ये उद्धरण मानव धर्मसूत्र से लिये हैं। इतना ही नहीं, अपि तु वर्तमान मनुस्मृति में वसिष्ठ का एक उद्धरण है जो वसिष्ठ धर्मसूत्र के मुद्रित संस्करण में ज्यों का त्यों मिलता है। अत एव यह कहा जा सकता है कि वसिष्ठ धर्मसूत्र गौतम धर्मसूत्र के बाद का और मनुस्मृति से पूर्व का ग्रन्थ है। यह भी सम्भावित है कि ऋग्वेद की किसी शाखा से सम्बद्ध किसी सूत्र का मूल भाग, जो इतर भारत में प्रचलित था, अवश्य ही ई० सन् से कई शताब्दी पूर्वकाल की रचना हो सकता है।

कुछ धर्मसूत्र ऐसे हैं जिनका परिचय हमें केवल उद्धरणों द्वारा ही होता है। उनमें सर्वप्राचीन वही है जो इतर धर्मसूत्रों में उद्धृत है। इनमें से सविशेष रोचक तो वह है जो मनु अथवा मानवों का सूत्र कहा जा सकता है। कारण, उसका सम्बन्ध सुप्रसिद्ध मानव धर्मशास्त्र से है। वासिष्ठधर्मसूत्र में मनु के अनेक उद्धरण हैं जिनमें छः उद्धरण ज्यों के त्यों अथवा बहुत स्वल्प पाठ-भेद के साथ

हमें वर्तमान मनुस्मृति में उपलब्ध होते हैं। वासिष्ठ धर्मसूत्र का एक अंश ऐसा है जो अंशतः गद्य में और अंशतः पद्य में रचित है और उसका पद्यभाग मनु की रचना में वैसा ही उद्धृत है। अन्य धर्मसूत्रों की भाँति वासिष्ठ धर्मसूत्र में भी त्रिष्टुप् और श्लोक दोनों प्रकार के छन्द पाये जाते हैं। इस ग्रन्थ में उद्धृत अंश सम्भवतः उस मानव धर्म के प्रतीक हैं जो आज प्रचलित मानव धर्मशास्त्र अथवा मनुस्मृति की आधारभूमि है।

शंख और लिखित दो भाई थे जिन्होंने न्यायपरायणता के लिए बड़ी ख्याति पाई थी। वे न्यायमूर्ति माने जाते थे। उनके द्वारा प्रणीत किसी धर्मसूत्र के अंश भी इसी तरह निबन्ध ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरणों के रूप में आज सुरक्षित हैं। यह ग्रन्थ अवश्य ही बहुत बड़ा एवं व्यापक रहा होगा। इसमें धर्मविधान के सब ही प्रकरणों का सविस्तर वर्णन होगा; कारण, शंख-लिखित स्मृति को प्रमाण रूप में पराशर ने कई स्थानों पर उद्धृत किया है। कुमारिल (७०० ई०) का कथन है कि यह धर्मग्रन्थ शुक्ल-यजुर्वेद शाखियों का है। उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर कुमारिल का यह मत सर्वथा प्रमाणित होता है।

यह कोई आवश्यक नहीं कि समस्त धर्मसूत्रों को भारतीय धर्म-विधान के प्राचीनतम युग की रचना माना जाय; कारण, इन सूत्रों की रचना-शैली कभी भी आद्योपान्त पद्यबद्ध न रही। उदाहरणार्थ, वैखानस धर्मसूत्र एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें ४ प्रश्न हैं और अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह ई० तीसरी शताब्दी से पूर्व की रचना नहीं हो सकती। इसमें नारायण (विष्णु) की उपासना का प्रकरण है और 'बुधवार' शब्द का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः यह धर्मसूत्र जैसा नहीं है। कारण, इसमें वास्तविक धर्म-व्यवहार-सम्बन्धी विषय बिल्कुल नहीं है। यह तो गृह्य धर्म का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है। इसमें चार आश्रमों के धर्म, विशेष कर वानप्रस्थ धर्म का प्रतिपादन है। वानप्रस्थ धर्म से ही विखनस के अनुयायी वैखानसों का सम्बन्ध है। वैखानस तैत्तिरीय शाखा की सबसे कनिष्ठ एक प्रशाखा प्रतीत होती है।

सूत्रों में विहित प्रयोग-विधान तथा लोक-व्यवहार सम्बन्धी नियमों के महान् स्तोम को देखते हुए हमें इस निर्णय पर पहुँचने का प्रलोभन होता है कि यह विशालकाय सूत्र-साहित्य अकर्मण्य पुरोहित जाति द्वारा बुद्धिपूर्वक

प्रणीत ग्रन्थ-राशि है जिसका आविष्कार हिन्दू जनता के मस्तिष्क की आध्यात्मिक दासता बनाये रखने के तथा उसे सर्वथा अपने अधीन कर देने के एकमात्र लक्ष्य से किया है। अनुसन्धान की प्रगति यह भी प्रकट करती है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञिय प्रयोग-विधि का आधार जनता में प्रचलित धार्मिक कृत्य ही रहे हैं। यदि ऐसा न हो तो यह समझना कठिन है कि क्योंकर ब्राह्मण धर्म भारतीय जनता पर प्रभुत्व जमा कर अपनी सत्ता को सुदीर्घ काल तक बनाये रखने में सफल होता। ब्राह्मणों की मौलिकता इसी में है कि उन्होंने उस युग में प्रचलित धर्मकृत्यों को विधिवत् क्रमबद्ध बनाकर विस्तृत रूप दिया है। इस दिशा में निश्चय ही ब्राह्मणों को वह सफलता प्राप्त हुई है जिसका उपमान विश्व में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

तुलनात्मक अध्ययन से यह विदित होता है कि अनेक धार्मिक विधान ऐसे हैं जिनकी प्रवृत्ति उस युग में हुई होगी जब भारतीय और फ़ारसवासी एक ही राष्ट्र की प्रजा थे। उदाहरणार्थ, यज्ञ उस समय भी पूर्ण रूप से विकसित प्रक्रिया का केन्द्र था और वह पुरोहित वर्ग के द्वारा ही सम्पन्न हुआ करता था। वैदिक विधियों में प्रयुक्त कई शब्द तब भी प्रयोग में प्रचलित थे, जैसे सोम। सोम वह वल्ली है जिसे निचोड़ कर उसके रस को छलनी से छानकर दूध के साथ मिलाकर प्रधान आहुति के रूप में अग्नि को दिया जाता था। हम ऊपर कह चुके हैं कि यज्ञोपवीत का धारण उन दिनों भी प्रचलित था, और यह प्रथा स्वयं भी कुमारों के संस्कार के रूप में प्रचलित किसी प्राचीनतर संस्कार पर आधारित थी। देवताओं के निमित्त आहुतियों को अग्नि में स्वाहा करने की पद्धति भारोपीय है; कारण ग्रीक, रोमन और भारतीयों में इसका प्रचार पाया जाता है। इसी तरह विवाह संस्कार का वह अंश भी भारोपीय है जिसमें नव दम्पति वैवाहिक अग्नि का परिक्रमण करते हैं और वर हविष् अन्न को ग्रहण कर वधू को देता है और वधू वर को धान्यकण देती है। रोमवासियों में भी यह प्रथा है कि नव दम्पति बाईं ओर से दाहिनी ओर अग्निवेदी की परिक्रमा कर अग्नि में रोटी (far) की आहुति देते हैं। सूत्रों में विहित वर-वधू पर लाजा का प्रक्षेप, जो उर्वरता का संकेत है, भारोपीय परम्परा का प्रतीक है; कारण, यह परम्परा भी इतनी व्यापक है कि इसे अनुकरणात्मक नहीं कहा जा सकता। इससे भी कहीं अधिक पुरातन अरणि-मन्थन कर यज्ञिय अग्नि के उत्पादन की भारतीयों

की पद्धति है; इसी तरह भारतीय यज्ञशाला का निर्माण करते समय ईंटों की जुड़ाई में सबसे नीचे ५ प्रकार के प्राणियों के मस्तक को चुन देने का प्रकार है। यह पद्धति उस प्राचीन मान्यता पर आधारित है कि कोई भी ईमारत मजबूत खड़ी नहीं की जा सकती जब तक इसके नीचे मनुष्य या पशु गाड़ा न गया हो।

: ४ :

शुल्वसूत्र

धार्मिक प्रक्रिया से सम्बद्ध सूत्रों का एक और वर्ग है जिन्हें शुल्व सूत्र कहते हैं। आपस्तम्ब कल्पसूत्र का तेरहवाँ और अन्तिम प्रश्न इसी वर्ग की रचना है। ये सूत्र वेदी निर्माण के लिये आवश्यक परिमाण को बताने वाले ग्रन्थ हैं। इन सूत्रों में रेखागणित सम्बन्धी ज्ञान बहुत आगे बढ़ा हुआ पाया जाता है। वस्तुतः शुल्व सूत्र ही भारत के गणित शास्त्रीय सर्व प्राचीन ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।

वेदाङ्ग

भारतीय परम्परा के अनुसार सूत्र शैली में रचित वैदिक ग्रन्थराशि का कलेवर ६ अङ्गों में विभक्त है जिन्हें वेदाङ्ग अर्थात् वेद के अवयव कहते हैं। ये हैं—१. शिक्षा अर्थात् वेदोच्चारण के ध्वन्यात्मक नियम, २. छन्दस् अर्थात् पद्य-रचना के प्रकार, ३. व्याकरण अर्थात् रचना सम्बन्धी नियम, ४. निरुक्त अर्थात् शब्द-व्युत्पत्ति, ५. कल्प अर्थात् धार्मिक प्रक्रिया और ६. ज्यौतिष अर्थात् खगोल के सिद्धान्त। इनमें से प्रथम चार, पुनीत संहिताओं के शुद्धपाठ तथा अर्थग्रहण के लिये सहायकरूप हैं; और अन्तिम दो, धार्मिक-प्रयोग विधि, कर्त्तव्य तथा उनके लिये विहित काल का निर्णय करते हैं। वस्तुतः, वेदाङ्ग की उत्पत्ति धार्मिक आवश्यकताओं के कारण ही हुई, और अन्तिम चार वेदाङ्ग तो वेदोत्तर काल में विकसित विज्ञान की पाँच शाखाओं के पूर्ण विकास की अथवा प्रारम्भ की आधारशिला हैं। षडङ्ग में चौथे और छठे की संज्ञा तो एक-एक ग्रन्थ विशेष का ही नाम है।

कल्प

कल्प के सम्बन्ध में हम सविस्तर चर्चा कर चुके हैं।

•

ज्यौतिष

वेदाङ्ग के अन्तर्गत ज्यौतिष् को प्रतिपादन करने वाला वैदिक युग का कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। कारण, ज्यौतिप विषयक सूत्र के दो भिन्न पाठ मिलते हैं जो क्रमशः ऋग्वेद तथा यजुर्वेद से सम्बद्ध कहे जाते हैं, परन्तु वे वेदोत्तर काल में बहुत आगे चलकर रचे हुए प्रतीत होते हैं।

शिक्षा प्रातिशाख्य

तैत्तिरीय आरण्यक (७–१) में शिक्षा अर्थात् ध्वनि नियमों का उल्लेख है। विवरण से यह प्रतीत होता है कि उस समय भी वर्ण, वर्णों पर बलाघात, वर्णों की मात्रा, उच्चारण तथा सन्धिनियम बन चुके थे। 'शिक्षा—' इस नाम के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं; परन्तु वस्तुतः ये वैदिक साहित्य के बहुत बाद के परिशिष्ट से प्रतीत होते हैं। ये छोटे से ग्रन्थ हैं जिनमें वेद-पाठ तथा उच्चारण के सम्बन्ध में अनेक निर्देश पाये जाते हैं। ध्वनिशास्त्रीय अध्ययन के अति प्राचीन परिणाम, जो आज उपलब्ध हैं, विभिन्न वेदों के संहिता-पाठ हैं जिनका सम्पादन सन्धि-नियमों के अनुसार किया गया है। इस दिशा में और अधिक प्रगति पद-पाठ-रचना के रूप में दीख पड़ती है। पद-पाठ में संहिता-पाठ का पदच्छेद है और उसमें सन्धि विच्छेद कर समस्त पदों में विग्रह कर प्रत्येक शब्द को अलग अलग इस प्रकार रखा जाता है कि ध्वनि नियमों से अपरिवर्तित उनका मौलिक स्वरूप प्रतीत होकर और आगे तत्सम्बन्धी अध्ययन के लिये एकत्र सामग्री प्रस्तुत हो जाती है। यास्क, पाणिनि और इतर वैयाकरण उन स्थानों पर पद-पाठ के विहित विश्लेषण को स्वीकार नहीं करते, जहाँ वे मानते हैं कि उन्हें वैदिक प्रयोग कहीं अधिक अच्छा समझा हुआ है। पतञ्जलि तो कण्ठतः पद-पाठ की प्रामाणिकता पर आपत्ति भी उठाते हैं। वैदिक ध्वनि-नियमों को प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ तो वस्तुतः प्रातिशाख्य हैं जिसका सम्बन्ध साक्षात् संहिता तथा पद-पाठ से है; कारण, प्रातिशाख्यों का लक्ष्य संहिता और पद-पाठ में परस्पर सामञ्जस्य स्थापन करने का रहा है। इसी उद्देश्य से वैदिक सन्धि-नियमों का क्रमबद्ध विवरण प्रातिशाख्यों में पाया जाता है। साथ ही साथ ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के सम्बन्ध में विवेचन भी प्रातिशाख्यों में इसी उद्देश्य से किया है कि वैदिक सूक्तों का पाठ शुद्ध रीति से किया जा सके। सामान्यतः प्रातिशाख्यों की रचना पाणिनि से पूर्व मानी जानी जाती है; कारण, पाणिनि के ग्रन्थ में निःसन्देह

प्रातिशाख्यों के साथ सम्बन्ध प्रकट होता है। यह कहना या मानना कहीं अधिक सच होगा कि पाणिनि ने आज उपलब्ध प्रातिशाख्यों के प्राचीन स्वरूप का भलीभाँति उपयोग किया है। कारण, वैदिक सन्धि जैसे प्रकरणों में पाणिनि का विवेचन प्रातिशाख्यों की भाँति समग्र नहीं है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रातिशाख्यों में — विशेष कर अथर्ववेद के प्रातिशाख्य में — वैयाकरणों की पारिभाषिक पदावली का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। प्रातिशाख्य वर्ग के चार ग्रन्थ सुरक्षित मिले हैं और वे प्रकाशित भी हो चुके हैं। उनमें से एक ऋग्वेद से, एक अथर्ववेद से और दो यजुर्वेद की वाजसनेयि और तैत्तिरीय संहिताओं से सम्बद्ध हैं। इन ग्रन्थों की 'प्रातिशाख्य' यह संज्ञा इसी कारण दी गई है कि वे वेद की प्रतिशाखा से सम्बद्ध रचनाएँ हैं।

ऋग्वेद का प्रातिशाख्य सूत्र बहुत बड़ा ग्रन्थ है। यह पद्यबद्ध है और इसमें तीन अध्याय हैं। परम्परा के अनुसार यह आश्वलायन के गुरु शौनक की रचना मानी जाती है। हो सकता है कि जिस रूप में आज यह उपलब्ध है वह शौनकशाखीय रचना हो। आगे चल कर इस ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप तैयार किया गया और उसमें कुछ पारिशेषिक विषय भी जोड़ दिये गये हैं। परिशिष्टात्मक विषय को प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ उपलेख के नाम से प्रसिद्ध हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में महत्त्व का विषय यह है कि उसमें २० आचार्यों की गुरु परम्परा का उल्लेख है। वाजसनेयि प्रातिशाख्य में ८ अध्याय हैं। उसके रचयिता कात्यायन माने जाते हैं। इस प्रातिशाख्य में कात्यायन से पूर्ववर्ती ऋषियों में शौनक का भी उल्लेख है। अथर्ववेद के प्रातिशाख्य में ४ अध्याय हैं और वह शौनक शाखा का ग्रन्थ माना जाता है। अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा इसमें व्याकरणसम्बन्धी विवेचन कहीं अधिक उपलब्ध होते हैं।

छन्द

छन्द के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्रतत्र विवरण मिलता है और छन्दस् सम्बन्धी विवेचन शाङ्खायन श्रौतसूत्र के एक अंश में (७।२७), ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य के अन्तिम तीन पटलों में और सामवेदीय निदानसूत्र में विशेष कर मिलता है। पिङ्गल प्रणीत छन्दस् सूत्र के पूर्व भाग में भी वैदिक छन्दों का विवरण दिया हुआ है। यद्यपि पिङ्गलसूत्र वेदाङ्ग होने का दावा करता है तथापि वास्तव में यह एक परवर्ती रचना है जिसमें विशेष कर

वेदोत्तरकालीन छन्दों का विवेचन मुख्य विषय है और निश्चय ही वह लौकिक छन्दों पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

अन्त में यह कहा जाय कि कात्यायन ने दो अनुक्रमणियाँ बनाई हैं: प्रत्येक में वैदिक छन्दों के ऊपर विवेचन है, यद्यपि उनमें परस्पर कहीं-कहीं कुछ भेद है। अनुक्रमणियों के सम्बन्ध में और अधिक विवरण आगे चलकर दिया जायगा। अनुक्रमणियों के छन्दःसम्बन्धी अध्याय में ऋग्वेद प्रातिशाख्य के १६ वें पटल में दिये हुए छन्दोविधान से कोई अन्तर नहीं है। सम्भवतः अनुक्रमणियों का छन्दःपरक अध्याय प्रातिशाख्य के उक्त अंश से पूर्ववर्ती हो, यद्यपि प्रातिशाख्य निश्चित ही अनुक्रमणी से प्राचीनतर रचना है।

व्याकरण

मन्त्रों की पद-पाठ की पद्धति को देखने से विदित होता है कि उनके रचयिताओं को न केवल वेदोच्चारण एवं सन्धिनियमों का अच्छा ज्ञान था अपितु व्याकरण के नियमानुसार पदच्छेद तथा शब्दव्युत्पत्ति का भी उन्हें अच्छा बोध था, कारण उन्होंने पद-पाठ में समास के प्रत्येक पद, क्रियापद में उपसर्गों, तथा संज्ञापद में लगने वाले प्रत्ययों को पृथक्-पृथक् कर लिखा है। निश्चय ही उन्हें कितने प्रकार के पद होते हैं इसका विवेक था। उन्होंने पदों का विभाजन चार वर्ग (पदजातानि) में किया था। पदजात का उल्लेख सबसे पहले यास्क ने किया। उन्होंने संज्ञापद जिसमें सर्वनाम का भी समावेश है, और आख्यात अर्थात् क्रियापद, उपसर्ग और निपात बताये हैं। सम्भवतः पदों के वर्गीकरण के कारण ही भाषा नियमों को बताने वाले शास्त्र का नाम 'व्याकरण' बनाया, न केवल इस कारण कि व्याकरण में पदों का विश्लेषण किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी भाषा-शास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन मिलता है। उनमें व्याकरण के कई पारिभाषिक शब्दों — वर्ण (अक्षर), वृषण (पुंलिङ्ग), वचन, विभक्ति आदि -- का प्रयोग पाया जाता है। इससे भी कहीं अधिक व्याकरण-सम्बन्धी विवरण आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्रों में मिलता है। पाणिनि से पूर्वकालिक व्याकरण-विमर्श यास्क के निरुक्त में मिलता है।

व्याकरण सम्बन्धी अध्ययन की परम्परा यास्क से बहुत पहले से ही अधिकतर चल पड़ी थी; कारण, यास्क ने दाक्षिणात्य एवं पौरस्त्य शाखाओं में क्या भेद है यह बताते हुए लगभग २० पूर्वाचार्यों का नामतः निर्देश किया

है जिनमें शाकटायन, गार्ग्य और शाकल्य प्रमुख हैं। यास्क के समय तक भारतीय वैयाकरणों ने 'पद के प्रकृति और प्रत्यय ऐसे दो अंशों होते हैं'—यह पहचान लिया था और उन्होंने नामपद के और क्रियापद के अन्त में लगने वाले प्रत्ययों को भी पृथक्-पृथक् पहचान लिया था और क्रमशः उन्हें कृदन्त और तद्धित प्रत्ययों में वर्गीकृत भी कर दिया था। यास्क ने शाकटायन के उस सिद्धान्त पर एक रोचक विवेचन दिया है जिसमें समस्त नामपदों की उत्पत्ति आख्यात से हुई है यह प्रतिपादित किया है। वस्तुतः, शाकटायन के उक्त सिद्धान्त से स्वयं यास्क भी सहमत हैं, और उन्होंने यह भी बताया है कि गार्ग्य तथा अन्य वैयाकरण भी सामान्यतः इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। परन्तु वह यह मानने को तैयार नहीं कि सब ही संज्ञापदों की व्युत्पत्ति आख्यात से हुई है। यास्क ने इस पक्ष की आलोचना करते हुए पूर्णरूप से खण्डन किया है। 'समस्त पदों का मूल आख्यात है'—इसी शाकटायन के सिद्धान्त पर पाणिनि का वैयाकरण आधारित है। पाणिनि सूत्रों में वैदिक पदों पर सैंकड़ों नियम हैं। परन्तु वे अपवादात्मक हैं। कारण, पाणिनि के अष्टाध्यायी में मुख्य सूत्र वे हैं जो लौकिक संस्कृत से सम्बद्ध हैं। पाणिनि की इस रचना ने परवर्ती समग्र साहित्य को प्रभावित किया है। यद्यपि पाणिनि की रचना सूत्रयुग के मध्यकाल की है तत्रापि यही मानना उचित है कि पाणिनि से ही वेदोत्तर युग का आरम्भ हुआ है। पाणिनि निर्भ्रान्त प्रमाण माने जाते हैं और उनका प्रामाण्य अपने से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के ऊपर सर्वसम्मत है। इसी का फल यह हुआ कि पूर्ववर्ती अन्य व्याकरण ग्रन्थ लुप्त हो गये। केवल यास्क ही शेष रह गये हैं। उसका कारण यह है कि वह साक्षात् वैयाकरण न थे, परन्तु उनकी एकमात्र रचना ही निरुक्त नामक वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करती है।

निरुक्त

यास्क का निरुक्त वास्तव में वैदिक टीका ही है और वह संस्कृत साहित्य में उपलब्ध अन्य किसी दूसरे निर्वचनात्मक ग्रन्थ से कई शताब्दियों पूर्व की रचना है। निरुक्त की आधार शिला निघण्टु है जिसमें अप्रसिद्ध और विरल वैदिक शब्दों का संग्रह है जिसका संकलन अध्यापकों के उपयोग के लिये किया गया है। यास्क के सम्मुख ऐसे पाँच और संग्रह-ग्रन्थ उपस्थित थे। उनमें से तीन कोश तो ऐसे थे जिनमें पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है,

चौथे में विशेष कठिन शब्द हैं और पाँचवें में वैदिक देवताओं का वर्गीकरण। इन्हीं के आधार पर यास्क ने अधिकतर अपने निरुक्त की रचना की है। यास्क के निरुक्त में १२ अध्याय हैं और आगे चल कर उनमें दो और अध्याय जोड़ दिये गये हैं। उन्होंने अधिकांशतः ऋग्वेद से उदाहरण रूप में अनेक ऋचाओं को उद्धृत कर उनका अर्थ किया है और साथ ही साथ विषम स्थलों पर शब्दों की व्युत्पत्ति भी समझाई है।

प्रथम अध्याय में विषयप्रवेश है जिसमें निरुक्त तथा व्याकरण के सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। दूसरे और तीसरे अध्याय में पर्यायवाची निघण्टु से सम्बन्ध रखने वाले कतिपय जटिल विषयों का स्पष्टीकरण है। ४ से ६ अध्याय तक चतुर्थ भाग पर, और ७ से १२ अध्याय तक पाँचवें भाग पर विवरण है। निरुक्त न केवल शब्द-व्युत्पत्ति एवं व्याकरण की दृष्टि से ही बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है अपितु पाणिनि से बहुत अधिक प्राचीन युग में प्रचलित संस्कृत गद्यरचना का वह सर्वप्रथम निदर्शन है। इसकी गद्यशैली लौकिक साहित्य जैसी है। यास्क व्याकरणसम्बन्धी उन्हीं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं जो पाणिनि की अष्टाध्यायी में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, 'धातु', 'कृत्' और 'तद्धित' प्रत्ययों का यास्क ने भी प्रयोग किया है। निश्चय ही यास्क पाणिनि से बहुत पहले के हैं। कारण, पाणिनि और यास्क के मध्यवर्ती अनेक वैयाकरणों के नाम देखने में आते हैं। अत एव कहना होगा कि यास्क निश्चय ही ५ वीं शताब्दी के हैं और उनका रचनाकाल सूत्रयुग का प्रारम्भिक काल है।

निरुक्त से एक महत्त्व की बात यह प्रमाणित होती है कि यास्क के समय में ऋग्वेद का पाठ निश्चित हो चुका था और उसका रूप वही था जो आज हमें उपलब्ध है। उदाहरणार्थ, दशम मण्डल के २९ वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में यास्क ने 'वायो' को एक ही पद माना है जब कि शाकल्य के पद-पाठ में 'वा-यो' दो पद माने गये हैं। यास्क के निर्वचन से यह भी प्रकट होता है कि निर्वचन करते समय यास्क कभी-कभी संहिता पाठ से सहमत न थे और ऋग्वेद से उद्गृहीत उद्धरणों को भी वह इस तरह संशोधित कर दिया करते हैं जिससे परम्पराप्राप्त पाठ के वह सर्वथा अनुरूप बन जाय। परन्तु यह पाठगत तारतम्य ऋग्वेद के पाठान्तर के कारण नहीं, अपितु निरुक्त में भ्रान्तियों के कारण ही हुआ होगा। इस प्रकार के कुछ छोटे बड़े पाठभेद सायण में भी पाये जाते हैं जो सदा भाष्यकारों की अनवेक्षा के कारण हैं।

परिशिष्ट

उपर्युक्त सूत्रों के साथ एक और अतिविस्तृत साहित्य लगा हुआ है। यह परिशिष्टों के नाम से ख्यात है और सब ही वैदिक शाखाओं के अपने-अपने परिशिष्ट विद्यमान हैं। इन ग्रन्थों में सूत्रों में प्रतिपादित विषयों पर कुछ विशेष चर्चाएँ हैं या कहीं-कहीं उन विषयों पर अधिक विवरण प्रस्तुत किया गया है जिनका प्रतिपादन सूत्रों में साक्षात् न हो पाया है। उदाहरणार्थ, आश्वलायन गृह्य परिशिष्ट ४ अध्याय का एक ग्रन्थ है जो ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसी तरह गोभिल संग्रह परिशिष्ट सामान्यतः गृह्य आचारों का संक्षिप्त विवरण है जिसमें विशेष कर मन्त्र-तन्त्र की चर्चा अधिक है। यह ग्रन्थ सामवेद से सम्बद्ध माना जाता है। सम्भवतः इससे कुछ बाद का, परन्तु इस जैसा ही, 'कर्मप्रदीप' नामक ग्रन्थ है जिसे सामगृह्य परिशिष्ट, छान्दोग्यगृह्य परिशिष्ट, छान्दोग्य परिशिष्ट अथवा गोभिलस्मृति कहते हैं। इसके रचयिता शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन या गोभिल माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में स्वतन्त्र रूप से गृह्यसंग्रह की भाँति गृह्य आचारों का विषय प्रतिपादित है और इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं तो गृह्यसंग्रह के श्लोक ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं।

प्रयोग—पद्धति

यज्ञिय विधान को भली भाँति समझने के लिये 'प्रयोग' एवं 'पद्धति' के नाम से ख्यात एक और ग्रन्थराशि है। ये ग्रन्थ अभी भी प्रभूत संख्या में हस्तलिखित ही मिलते हैं। ये ग्रन्थ विविध शास्त्रों से सम्बद्ध श्रौत एवं गृह्य विधियों का वर्णन करते हैं। प्रयोग एवं पद्धति ग्रन्थ में यही अन्तर है कि प्रयोगों में प्रत्येक यज्ञ का प्रकार और विविध कोटि के ऋत्विजों के कार्यों का व्यावहारिक दृष्टि से निर्देश है; पद्धतियों में सूत्रों में प्रतिपादित क्रमबद्ध विवरण का अनुसरण करते हुए प्रतिपाद्य विषय का संक्षेप से विवेचन है। इसके अतिरिक्त प्रयोगों का पद्यात्मक विवरण कारिकाओं में मिलता है। ये कारिकाएँ किसी न किसी सूत्र या पद्धति से साक्षात् सम्बद्ध हैं। कारिका ग्रन्थों में सबसे प्राचीन कुमारिलकृत कारिका है जिसका रचना-काल ७ वीं ई० में कहा जा सकता है।

अनुक्रमणी

परिशिष्टात्मक ग्रन्थराशि में एक वर्ग अनुक्रमणियों का भी है जिनमें वैदिक संहिता में कितने सूक्त, कौन-कौन रचयिता, कैसे-कैसे छन्द और विविध देवताओं का क्रमप्राप्त विवरण है। इनमें से ऋग्वेद संहिता से सम्बन्ध रखने वाली ७ अनुक्रमणियाँ है। उन सब के रचयिता शौनक माने जाते हैं और उनमें शौनक प्रणीत ऋग्वेद प्रातिशाख्य की तरह श्लोक और त्रिष्टुप् छन्द के पद्यों का प्रयोग है। एक सामान्य सूची की तरह **सर्वानुक्रमणी** नामक ग्रन्थ है। वह कात्यायन की रचना कही जाती है, और उसमें पद्यबद्ध अन्य अनुक्रमणियों के विषय का सूत्रशैली में संक्षिप्त विवरण है। पद्यबद्ध अनुक्रमणियों में से ५ अनुक्रमणियाँ सुरक्षित रूप से मिलती हैं। उनमें से एक **आर्षानुक्रमणी** है जिसमें लगभग ३०० श्लोक हैं और ऋग्वेद के ऋषियों की नामावली है। इस ग्रन्थ के वर्तमान स्वरूप को देखते हुए प्रतीत होता है कि १२वीं शताब्दी के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य जिस अनुक्रमणी से परिचित थे उसी का यह नवीन रूप है। दूसरी अनुक्रमणी है **छन्दानुक्रमणी**, जिसका आयाम लगभग उतना ही है, और उसमें ऋग्वेद सूक्तों के छन्दों की नामावली है। साथ ही साथ इसमें ऋग्वेद के तृतीय अष्टक में कितने, और कैसे छन्द हैं इनकी पृथक्-पृथक् तथा सम्पूर्ण छन्दों की संकलित संख्या दी हुई है। **अनुवाकानुक्रमणी** एक छोटा सा ग्रन्थ है जिसमें कोई ४० पद्य हैं। इसमें ऋग्वेद संहिता के कुल ८५ अनुवाकों के प्रारम्भिक प्रतीक अनुक्रम से दिये हुए हैं और साथ ही यह भी उल्लिखित किया है कि प्रत्येक अनुवाक में कितने सूक्त हैं। इसके अनुसार ऋग्वेद में १०१७ सूक्त (अथवा वाष्कल पाठ के अनुसार १०२५), १०५८०½ ऋचाएँ, १५३८२६ शब्द और ४३२००० वर्ण हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ गणनात्मक विवरण भी इस अनुक्रमणी में मिलते हैं। इस अनुक्रमणी के अनुसार दी हुई ऋचाओं की गणना आजकल विविध रीति से की हुई गणना से मेल नहीं खाती, तत्रापि कहा जा सकता है कि यह भेद नगण्य सा है। सम्भवतः अनुक्रमणी के द्वारा अपनाये हुए पुनरावृत्त कतिपय ऋचाओं के गणना प्रकार में कुछ अन्तर रहा हो।

इसके अतिरिक्त एक और छोटी सूची है जिसे **पादानुक्रमणी** कहते हैं जिसमें ऋचाओं के प्रत्येक चरण की क्रमिक सूची है। यह ग्रन्थ भी इतर

अनुक्रमणियों को भाँति मिश्रित छन्दों में उपनिबद्ध है। अद्यावधि इस ग्रन्थ की केवल दो ही हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ मिली हैं। **सूक्तानुक्रमणी** नामक एक और ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है, परन्तु वह पुस्तक कहीं उपलब्ध नहीं। सम्भवतः इस ग्रन्थ में सूक्तों के प्रतीक की सूची दी हो। यह ग्रन्थ शायद इस कारण लुप्त हो गया कि सर्वानुक्रमणी के समक्ष इसकी कोई उपयोगिता न रही हो। **देवतानुक्रमणी** की पुस्तक भी कहीं उपलब्ध नहीं हुई, परन्तु षड्गुरुशिष्य के भाष्य में देवतानुक्रमणी के १० उद्धरण उपलब्ध होते हैं। इस ग्रन्थ की निरुपयोगिता भी **बृहद्देवता** नामक ग्रन्थ के कारण सिद्ध हुई होगी, कारण किसी भी अनुक्रमणी की अपेक्षा बृहद्देवता एक अधिक विस्तृत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में १२०० श्लोक हैं जिसके बीच कहीं कहीं त्रिष्टुप् वृत्त भी हैं। इसमें ८ अध्याय हैं जो ऋग्वेद के अष्टकों के समानान्तर हैं। इसका भी प्रतिपादन क्रम ऋग्वेद के अनुरूप है और प्रत्येक ऋचा में सम्बोधित देवता का उल्लेख ही इसका मुख्य लक्ष्य है। बृहद्देवता में उदाहरण के रूप में दी हुई अनेक कथाएँ एवं आख्यायिकाएँ भी हैं, और इसी कारण साहित्य के अतिप्राचीन संग्रह की दृष्टि से इस ग्रन्थ की बड़ी महत्ता है। बहुत सीमा तक यह ग्रन्थ यास्क के निरुक्त पर आधारित है। बृहद्देवता के रचयिता ने यास्क एवं अन्य आचार्यों के नामोल्लेख के साथ साथ भागुरि और आश्वलायन, तथा **निदानसूत्र** का भी उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसमें खिल नामक अनेक परिशिष्ट सूक्तों की ओर संकेत किया है जो वास्तव में ऋग्वेद संहिता में कहीं उपलब्ध नहीं हैं।

पद्यबद्ध इन अनुक्रमणियों के मौलिक रूप से कहीं परवर्ती कात्यायनकृत **सर्वानुक्रमणी** है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें सकल अनुक्रमणियों में प्रतिपादित विषय एक ही स्थान पर संक्षेप में संकलित कर रख दिया गया है। सूत्र शैली में रचित यह ग्रन्थ काफ़ी बड़ा है। मुद्रित रूप में इसकी पृष्ठ संख्या लगभग ४६ है। इस ग्रन्थ में ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का प्रतीक दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त ऋचाओं की संख्या, उनके निर्माता, उनमें सम्बोधित देवता और उनके छन्द भी उल्लिखित हैं। इसके पहिले १२ अध्यायों में प्रास्ताविक चर्चा है जिसमें से ९ अध्यायों में वैदिक छन्दों पर संक्षिप्त निबन्ध हैं जो ऋग्वेद के प्रातिशाख्य के अन्तिम तीन अध्यायों के समरूप हैं। सर्वानुक्रमणी के रचयिता ने प्रारम्भ में 'यथोपदेश ऋग्वेद के

प्रतीक आदि की अनुक्रमणी प्रस्तुत करता हूँ' — यह प्रतिज्ञा की है। 'यथोपदेश' पद का तात्पर्य है कि उपर्युक्त छन्दोबद्ध अनुक्रमणियों के आधार पर प्रस्तुत अनुक्रमणी बनाई जा रही है, कारण संक्षिप्त सूत्रशैली में निर्मित सर्वानुक्रमणी में न केवल कुछ पद्यात्मक पद ही हैं अपितु आर्षानुक्रमणी और बृहद्देवता से ज्यों के त्यों अथवा कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ उद्धरण मिलते हैं। इसी प्रकार का एक और छन्दोबद्ध ग्रन्थ है जिसका नाम **ऋग्विधान** है। इसका भी प्रणेता शौनक माना जाता है। ऋग्विधान में विशेष कर ऋग्वेद की ऋचाओं या सूक्तों के पाठ में निगूढ तान्त्रिक प्रयोगों की चर्चा है।

सामवेद के परिशिष्टों में दो अनुक्रमणियाँ हैं उनके नाम आर्ष और दैवत हैं। आर्ष में सामवेद के नैगेय शाखा के ऋषियों की, और दैवत में देवताओं की सूची दी हुई है। इन दोनों परिशिष्टों में यास्क, शौनक, आश्वलायन प्रभृति का नामोल्लेख है। इसी तरह कृष्ण यजुर्वेद की भी दो अनुक्रमणियाँ उपलब्ध हैं। ऐतरेय शाखा की अनुक्रमणी में दो भाग हैं; पहिला भाग गद्य में और दूसरा भाग पद्य में रचित है। संहिता में प्रतिपादित विषयों से सम्बद्ध नामावली के अतिरिक्त भी कुछ विषय इसमें मिलता है। काठकों के चारायणीय शाखा की अनुक्रमणी विभिन्न प्रपाठकों एवं ऋचाओं के निर्माताओं की सूची है। इस ग्रन्थ में ऋग्वेद के अंगों पर कथित अभिप्राय ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में दी हुई बातों से विभिन्न है। इस अनुक्रमणी में सर्वानुक्रमणी की अपेक्षा कुछ बिलकुल नये नाम भी दिये हैं। यह माना जाता है कि इस अनुक्रमणी का रचयिता अत्रि था जिसने उसे लौगाक्षि को बताया। शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन शाखा की अनुक्रमणी कात्यायन की रचना मानी जाती है और इसमें ५ अध्याय हैं। पहिले ४ अध्यायों में निर्माताओं, देवताओं एवं छन्दों की गणना है। ऋग्वेद से उद्‌गृहीत रचनाओं के वे ही निर्माता कात्यायनकृत अनुक्रमणी में भी मिलते हैं जो सर्वानुक्रमणी में बताये गये हैं; तथापि कात्यायन की अनुक्रमणी में परवर्ती युग में अनेक नये आचार्यों के नाम भी संकलित हैं और उनमें कुछ तो शतपथ ब्राह्मण के भी हैं। कात्यायन की इस अनुक्रमणी के पञ्चम अध्याय में संहिता में प्रयुक्त मन्त्रों का संक्षिप्त विवरण है। यह विवरण सर्वानुक्रमणी के प्रारम्भिक अंश में दिये हुए विवरण से मिलता-जुलता है। शुक्लयजुर्वेद के कुछ और भी परिशिष्ट हैं और उन सबके रचयिता कात्यायन ही माने जाते

हैं। उनमें से केवल तीन का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। **निगम परिशिष्ट** नामक एक ग्रन्थ है जिसमें शुक्लयजुर्वेद में प्रयुक्त पर्यायवाची शब्दों का कोश है। यह रचना शब्दार्थ को प्रतिपादन करती हुई कोश के रूप में है। दूसरा ग्रन्थ है **प्रवराध्याय** जिसमें ब्राह्मण कुलों की सूची है। इसका ध्येय गोत्र तथा प्रवर बताने का है ताकि विवाहादि सम्बन्ध के अवसर पर सगोत्रता निश्चित की जा सके। साथ ही साथ कौन सा ऋत्विज यज्ञों में कौन से काम के लिये उपयोगी हो सकता है — यह सूचना भी गोत्र और प्रवर के ज्ञान से मिल जाती है। तीसरा ग्रन्थ है **चरणव्यूह**। यह एक छोटा सा ग्रन्थ है जिसका महत्त्व भी स्वल्प है। इसमें सब वेदों की सब शाखाओं का संक्षिप्त विवरण है; परन्तु वह विष्णुपुराण तथा वायुपुराण में दिये हुए वैदिक शाखाओं के विवरण की तुलना में बहुत कुछ अपूर्ण कहा जा सकता है। चरणव्यूह नाम का एक और ग्रन्थ मिलता है जो अथर्ववेद का परिशिष्ट है। इसमें यह कहा है कि अथर्वण संहिता में २००० सूक्त तथा १२,३८० मन्त्र हैं। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के परिशिष्टों की संख्या लगभग ७० है।

वैदिक साहित्य के प्रस्तुत विवरण को समाप्त करने से पूर्व मैं सायण के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहे बिना रह नहीं सकता। सायण मध्ययुग के महान् वैदिक विद्वान् हुए हैं। इन्हीं की प्रेरणा से, अथवा इन्हीं के अध्यवसाय से ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक, तैत्तिरीय संहिता तथा अन्य ब्राह्मणों एवं आरण्यकों पर अनेक उपयोगी महत्त्व के भाष्यों की रचना हुई है। इनके अतिरिक्त सायण ने अनेक अन्य ग्रन्थरत्नों की रचना भी की है। ऐसा लगता है कि दो संहिताओं पर उन्होंने अपने भाष्य के कुछ ही अंश लिखे थे, शेष की पूर्ति तो उनके शिष्यों द्वारा सम्पन्न हुई है। उनका देहावसान ई० सन् १३८७ में हुआ। इन्होंने अपना सकल कार्य महाराज बुक (१३५०–८० ई०) के दरबार में किया। वह महाराज बुक (प्रथम) के गुरु तथा उनके और उनके उत्तराधिकारी हरिहर (१३७९–९९ ई०) के मन्त्री थे। यह वह राजकुल था जिसने १४वीं सदी के पूर्व भाग में मुसलमानी बादशाहों की अधीनता के बन्धन को तोड़कर विजयानगरम् राज्य की स्थापना की थी। यह संस्थान बिलारी जिले में तुङ्गभद्रा के तट पर वर्तमान हम्पी के नाम से प्रसिद्ध है। सायण के ज्येष्ठ बन्धु माधव महाराज बुक्क के अमात्य थे। यही आचार्य माधव

संन्यासी हो गये थे। संन्यस्त अवस्था का इनका नाम विद्यारण्य स्वामी था। ये श्रृङ्गेरी मठ में रहते थे जहाँ इनकी मृत्यु हुई। माधव ने स्वयं भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है। परन्तु सायण के समस्त भाष्य माधव की संरक्षकता में रचे जाने के कारण उन्हीं को समर्पित हैं। अत एव ये भाष्य सायण-माधवीय कहलाते हैं। बड़े सौभाग्य की बात है कि सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का मैक्समूलर द्वारा सम्पादित द्वितीय संस्करण विजयानगरम् महाराज के तत्त्वावधान में प्रकाशित हुआ। स्मरण रहे कि वर्तमान विजया-नगरम् का उस विजयनगर से सम्बन्ध नहीं, जिसकी स्थापना महाराज बुक्क ने की थी।

॥ श्रीः ॥

संस्कृत साहित्य का इतिहास

वैदिक-युग

परिशिष्ट

परिशिष्ट [क]

सन्दर्भ-ग्रन्थ

अध्याय १

संस्कृत साहित्य के इतिहास पर विशेषकर देखें—बेनफ़ी—'**गेशिक्टे देर स्प्रॉक्विज़ेनशाफ़्ट**' [म्यूनिक, १८६९]। संस्कृत-ग्रन्थ-सूची के लिये अनुपम सङ्कलन है वार्षिक '**ओरियण्टालिशे बिब्लियोग्राफ़ी**' [बर्लिन, ई० सन् १८८८ से प्रारम्भ]।

पृष्ठ. १ ब्राह्मणवर्ण की धार्मिक मान्यताओं के सम्बन्ध में कतिपय अयथार्थ विचार मिलते हैं—देखें—पुर्चस—'**हिज़ पिल्ग्रिमेज, ऑर रिलेशन्स ऑह्व द वर्ल्ड एण्ड दि रिलिजन्स आब्ज़र्व्ड इन ऑल एजेस**' [२ रा संस्करण—लन्दन—१६१४]; और लॉर्ड—'**ए डिस्कवरी ऑव द सेक्ट ऑव द बनियाज़** (हिन्दूज़), [लन्दन, १६३०]। अब्राहम रोगर कृत, '**ओपन देउरे**' (१६३१) में भर्तृहरि के २ शतकों का अनुवाद है।

पृष्ठ. २ डूगल्ड स्टीवर्ट—'**फ़िलॉसफ़ी ऑव द ह्यूमन माइण्ड**'—भाग २ अध्याय १, अनुच्छेद ६ में संस्कृत भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में कतिपय ऊह दिये हैं। सी० डब्ल्यू वॉल, डी० डी०—'**एन् एसे ऑन दि नेचर, एज, एण्ड ओरिजिन ऑव दि संस्कृत राइटिंग एण्ड लैंग्वेज**' [डब्लिन, १८३८]। हेलहेड्—'**ए कोड ऑव जेण्टू (हिन्दू) लॉ,**' और ऑर्डिनेशन ऑन द पण्डित्स्—एक फ़ारसी अनुवाद के आधार पर संस्कृत भाषा में रचित मूल ग्रन्थ से प्रणीत, १७७६।

पृष्ठ. ३ एफ़. श्लेगल, '**इबेर दि स्प्राकि उण्ट विज़हाइट देर इण्डेर**' [हेडलबर्ग, १८०८]। बॉप्प—'**कॉञ्जुगेशन्स सिस्टम्**' [फ्रेंकफ़र्ट, १८१६]।

पृष्ठ. ४ कोलब्रुक, '**ऑन द वेद्ज़**' [एशियाटिक रिसर्चेज़, कलकत्ता, १८०५]। रोट—'**झुर लिटेरेटुर उण्ट गेशिख्टे देज़ वेद**'—[स्टुटगार्ट, १८४६]; बोहलिंग तथा रोट कृत **संस्कृत-जर्मन-डिक्शनरी**—भाग, १–७ [सेण्ट पीटर्सबर्ग, १८५२–७५]।

पृष्ठ. ५ ब्यूहलरकृत '**एन्सायक्लोपिडिया ऑव इण्डो-आर्यन रिसर्च**' [स्ट्रासबुर्ग—इसके भाग कुछ जर्मन और कुछ अंग्रेजी में ई० सन् १८९६ से प्रकाशित होने लगे]।

पृष्ठ. ६ देखें—विशेषतः ऑफ्रेक्ट रचित **'केटेलोगस केटेलोगोरम्'** (लायपझिग, १८९१; उपबृंहण, १८९६) जिसमें संस्कृत पाण्डुलिपियों की सूची, ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों के नाम अकारादिक्रम से सङ्कलित हैं। एडलबर्ट कुहन—**'हिरेबकुँस्ट देस फियेर्स'**, १८४९ (२रा संस्करण—ग्युटेर-स्लोह, १८८६)।

पृष्ठ. ९ (पुरातत्त्व एवं प्राचीन मुद्राओं के आधार पर निर्णीत) भारतीय पुरावृत्त पर एक उपादेय ग्रन्थ है—डफ्‌कृत—**'दि क्रॉनॉलजी ऑव इण्डिया'** [लन्दन, १८९९]। बुद्ध के महानिर्वाण की तिथि के सम्बन्ध में—देखें ओल्डेनबर्ग—**'बुद्ध'** [बर्लिन, तृतीय संस्करण, १८९७]

पृष्ठ. ११ फा हियान [लेग्गि द्वारा अनूदित—ऑक्सफ़र्ड, १८८६]; ह्वेन त्सांग (बील द्वारा अनूदित), सि-यु-कि, लन्दन, १८८४; इत्सिंग (टकाकुसु द्वारा अनूदित) ऑक्सफ़र्ड, १९९६। फ्यूहरेर—**'मोनोग्राफ् ऑन बुद्ध शाक्यमुनिज् बर्थ-प्लेस'** [आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, भाग २६, इलाहाबाद, १८९७]; अल्बेरुनि—**'इण्डिया'** (सचाउ द्वारा अंग्रेजी में अनूदित — लन्दन १८८५)।

पृष्ठ. १२ **'कॉर्पस इन्स्क्रिप्शियोनम् इण्डिकारम्'**—भाग, १, १८७७, भाग-३, १८८८ कलकत्ता। **'एपिग्राफिया इण्डिका'** [कलकत्ता—१८८८ से] महत्त्व के कतिपय पौरस्त्य सामयिक पत्रिकायें हैं :—

१. इण्डियन एण्टिक्वरी—बम्बई ;

२. झेटश्रिफ़्ट देर डॉयशेन मौर्गेनलेण्डिशेन गेसेलसशाफ़्ट—लायपजिग ;

३. जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन, (जिसकी बंगीय शाखा कलकत्ता में और एक दूसरी शाखा बम्बई में है) ;

४. जर्नल एशियाटीक — पेरिस ;

५. व्हियेना ओरियण्टल जर्नल, व्हियेना;

६. जर्नल ऑव दि अमेरिकेन ओरियण्टल सोसायटी,—न्यू हेवेन (कॉन.);

पृष्ठ. १२–१७ 'भारतीय लिपि के उद्गम' पर देखें—ब्यूहलर—**'इण्डिशे पेलियोग्राफी'**—स्ट्रासबुर्ग १८९६; तथा **'ऑन दि ओरिजिन ऑव इण्डियन ब्राह्म अल्फावेट'** — स्ट्रासबुर्ग, १८९८।

पृष्ठ. १५ आजतक उपलब्ध सर्वप्राचीन संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थ, अधुना बोडलियन लायब्रेरी में सङ्गृहीत, डॉक्टर आर० होयर्नले द्वारा

प्रतिचित्र में रूपान्तरित—'**दि बॉअर मेन्युस्क्रिप्ट**' — कलकत्ता, १८९७। पालि 'खरोष्ठी' पाण्डुलिपि—खोतान के निकट उपलब्ध 'धम्मपद' का प्राकृत रूपान्तर है; देखो—सेनार्ट जर्नल एशियाटीक, १८९८, पृष्ठ १९३–२०४।

पृष्ठ. २३ प्राकृत बोलियों के सम्बन्ध में यहाँ दिये हुए विवरण का मुख्य आधार है डॉ० जी० ए० ग्रियर्सन (जो आजकल भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण में संलग्न हैं) का लेख, 'दि जियोग्राफ़िकल डिस्ट्रीब्यूशन एण्ड म्युचुअल एफ़िनिटीज़ ऑव दि इण्डो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स। पाली साहित्य पर—देखें — राइस डेविड्स—'बुद्धिज़म, इट्स हिस्टरी एण्ड लिटरेचर', लन्दन, १८९६। प्राकृत साहित्य पर देखें ग्रियर्सन—'**दि मेडिइवल वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान**' [सप्तम ओरियण्टल कांग्रेस, व्हियेना, १८८८ का विवरण] और 'दि मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान', कलकत्ता, १८८९।

अध्याय ३

ऋग्वेद संहिता के पाठ एवं छन्दों के लिये विशेष रूप से देखें—ओल्डेनबर्ग, '**दिए हीम्नेन देस रिग्वेद**'—भाग १; '**प्रोलिगोमिना**' बर्लिन, १८८८; स्वरों पर देखें—वेकरनेगल, '**ऑल्टिण्डिशे ग्रामेटिक**', भाग—१, पृष्ठ २८१–३०० (पूर्ण जीवनी), गेटिन्गन, १८९६। सामान्यतः ऋग्वेद पर देखें, केगी—'**दि ऋग्वेद**' (एरोस्मिथ द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, बोस्टन, १८८६).

ऋग्वेद के संस्करण —

संहिता-पाठ — मेक्स म्यूलर द्वारा सम्पादित [लन्दन, १८७३];

पद-पाठ — १८७७;

संहिता-पाठ (रोमन लिपि) — ऑफ्रेक्ट द्वारा सम्पादित [बॉन, १८७७, २रा संस्करण]

संहिता और पद-पाठ (सायण भाष्य सहित) — २रा संस्करण, भाग १–४, मेक्सम्यूलर द्वारा सम्पादित, [लन्दन, १८९०–९२]

संस्कृत रीडर—लेनमन् द्वारा संगृहीत (उद्धृत अंश)—सम्पूर्ण टिप्पण तथा शब्दकोश सहित;

हीम्स फ़्रॉम दि ऋग्वेद—पीटर्सन द्वारा सङ्कलित [बॉम्बे संस्कृत सीरीज़];

म्यानुअल पोर ईंटुडिअर ले संस्कृत वेदीक — ए० बर्गेन तथा व्ही० हेनरी द्वारा सङ्कलित [पेरिस, १८९०];

इविल्फ् हीम्नेन देस ऋग्वेद—विण्डिश् द्वारा सम्पादित, [लायपज़िग, १८८३];

वेद-क्रिस्टोमाटी — हिलीब्राण्ट रचित — [बर्लिन, १८८५];

संस्कृत क्रिस्टोमाटी—बोहलिंग प्रणीत [३रा संस्करण, लायपज़िग, १८९७];

°-अनुवाद —

आर्० एच्० टी० ग्रिफिथ—ऋग्वेद का अंग्रेजी पद्यानुवाद भाग १–२ [बनारस, १८९६–९७];

मैक्स म्यूलर—वेदिक हीम्स (मरुत्-रुद्र-वायु-वात-सूक्त) गद्यानुवाद [सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट - भाग ३२-ऑक्सफ़र्ड, १८९१]

ओल्डनबर्ग— वेदिक हीम्स (अग्नि को सम्बोधित) — भाग १–५, गद्यानुवाद [वही, भाग ४६, १८९७];

ए० लुड्विग — जर्मन गद्यानुवाद, भाग १–६ [प्राग, १८७६–८८]— भूमिका, भाष्य तथा अनुक्रमणी सहित ।

°-पदसूची—

ग्रासमन् — वोर्टेरबुक्स झुम ऋग्वेद [लायपज़िग, १८७९–८०];

मोनीर-विलियम्स - संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी [२रा संस्करण—ऑक्सफ़र्ड, १८९९];

मेक्डोनल—संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (कतिपय सूक्तों के लिये) [लन्दन, १८९३]।

°-व्याकरण—

ह्विट्नी—संस्कृत ग्रामर (३रा संस्करण—लायपज़िग, १८९६)

वेकरनेगल— पूर्वोक्त- भाग—१ (शिक्षा);

डेलब्रिक—ऑल्टिण्डिशे सिन्टेक्स (भाग ५–सिन्टेक्टिशे वोरशुंगेन) [हालि, १८८८];

स्पेइज़ेर—वेदिशे उण्ट संस्कृत सिन्टेक्स —ब्यूहलर-प्रणीत 'एन्सायक्लोपीडिया' के अन्तर्गत—[स्ट्रास्बुर्ग, १८९६];

अध्याय ४ और ५

देखें—विशेषतः मेक्डोनल कृत 'वैदिक मैथॉलजी'; ब्यूहलर रचित 'एन्सायक्लोपीडिया'—भाग ३, अंश १ (सम्पूर्ण ग्रन्थसूची) १८९७; तथा केगी — पूर्वोक्त ग्रन्थ ;

म्यूर—'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स' भाग ५ [३रा संस्करण, लन्दन, १८८४];

बार्थ—'दि रिलिजन्स ऑव इण्डिया' —अंग्रेजी अनुवाद (लन्दन, १८८२);

हॉपकिन्स—'दि रिलिजन्स ऑव इण्डिया'—[बोस्टन, १८९५];

ओल्डेनबर्ग—'दिए रिलिजन देस वेद' [बर्लिन, १८९४];

बर्गेन—'ला रिलिजन वैदीके' भाग १–३ [पेरिस, १८७८–८३];

पिशेल तथा गेल्डनर—'वेदिशे स्टूडियन'–भाग १–२ [स्टुटगार्ट, १८८९–९२];

डायसन—'**एल्गेमियनि देर गेशिख्टे फ़िलॉसफ़ी**'–भाग १, अंश १ : '**फ़िलॉसफ़ी देस वेद**' (लायपझिग, १८९४)

°–**व्याख्या-पद्धति** [पृ. ५९–६४]

तु. म्यूर—'दि इन्टरप्रिटेशन ऑव वेद'—जर्नल, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८६९।

पृ. ५६ ग्रीक जनता में प्रचलित, 'विश्व के त्रितय विभाग का पुनः समीक्षण' — तु. केगी—पूर्वोक्त ग्रन्थ टि. ११८।

पृ. १२० भारत में द्यूत-क्रीडा के पासे और विभीतक वृक्ष — तु. रोट–गुरुपूजाकौमुदी—पृ. १–४ [लायपझिग–१८९६];

अध्याय ६

विशेषतः देखें—झिमर—'**आल्टिण्डिशेस् लिबेन**' [बर्लिन, १८७९]

'ऋग्वेदकालीन आर्यों की निवास-भूमि'—इस विषय पर देखें, हॉपकिन्स–'दि पञ्जाब एण्ड दि ऋग्वेद'—जर्नल, अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, १८९८ पृ. १९⋯⋯।

पृ. १४३ हंस के सम्बन्ध में देखें—लैन्मन्–'दि मिल्क-ड्रिंकिंग हंस-ज़ ऑव संस्कृत पोयट्री'—वही पृ. १५१⋯⋯।

पृ. १४६–१४८ वैदिक जातियाँ — देखें–'एक्सकर्सस–१', ओल्डनबर्ग रचित 'बुद्ध' के अन्तर्गत [बर्लिन, १८९७]

पृ. १५१—जातियों का उद्गम—देखें ओल्डनबर्ग—जर्नल, जर्मन ओरियण्टल सोसायटी, १८९७ — पृ. २६७–२९०;

आर्. फ़िक्—'दिए सोशियले ग्लीडेरुङ्ग इम नॉरडिस्टलिशेन इण्डियेन झु बुद्धज़् झेट' [कील—१८९७]

अध्याय ७

सामवेद—१. मूल तथा जर्मन अनुवाद एवं शब्दकोश — बेनफ़ी द्वारा सम्पादित (लायपझिग, १८४८);

२. सत्यव्रत सामाश्रमी [कलकत्ता, १८७३ बिब्लोथिका इण्डिका]

३. °अनुवाद (अंग्रेज़ी)—ग्रिफ़िथ-कृत [बनारस, १८९३]

यजुर्वेद—१. वाजसनेयि संहिता– महीधरभाष्य सहित | वेबर द्वारा सम्पादित [लन्दन, बर्लिन, १८५२];

२. अनुवाद (अंग्रेज़ी)—ग्रिफ़िथ-कृत [बनारस १८९३]

३. तैत्तिरीय संहिता — रोमन लिपि — वेबर द्वारा सम्पादित [बर्लिन १८७१–७२ — इण्डिशे स्टुडियन — भाग ११–१२]

४. ,, माधवभाष्य सहित [बिब्लोथिका इण्डिका]

५. मैत्रायणी संहिता—भूमिका सहित— एल्० फ़न्० श्रेडर द्वारा सम्पादित [लायपझिग—१८८१–८६]

६. काठक संहिता—उक्त विद्वान् द्वारा सम्पाद्यमान।

अथर्ववेद—१. मूल — रोट तथा ह्विट्नी द्वारा सम्पादित [बर्लिन १८५६]; प्रतिपदसूची — जर्नल, अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, भाग– १२।

२. अनुवाद—(अंग्रेज़ी) ग्रिफ़िथ द्वारा रचित पद्यबद्ध—भाग १–२ [बनारस १८९६];

३. अनुवाद (अंग्रेज़ी गद्य)—ब्लूमफ़ील्ड कृत (कतिपय स्वल्प महत्त्व के सूक्तों को छोड़कर) — प्रचुर टिप्पणी सहित — सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट — भाग ४२];

४. विषय-सूची — ब्लूमफ़ील्ड द्वारा संकलित—'दि अथर्ववेद'— ब्यूह्लर की एनसायक्लोपिडिया—स्ट्रासबुर्ग (१८९९)।

अध्याय ८

: १ :

१. ऐतरेय ब्राह्मण—ऑफ्रेक्ट द्वारा सम्पादित [बॉन, १८७९—सर्वोत्तम संस्करण]; तथा हॉग द्वारा सानुवाद सम्पादित—भाग १–२ [बम्बई, १८६३];

२. कौषीतकी बनाम शाङ्खायन ब्राह्मण—लिण्डनर द्वारा सम्पादित [जेना, १८८७];

३. ऐतरेय आरण्यक—आर० मित्र द्वारा सम्पादित [बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८७६];

४. कौषीतकी आरण्यक — असम्पादित;

५. ताण्ड्य महाब्राह्मण बनाम पञ्चविंश ब्राह्मण—ए० वेदान्तवागीश द्वारा सम्पादित [बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८६९–७४];

६. षड्विंश ब्राह्मण—जे० विद्यासागर द्वारा सम्पादित—१८८१; तथा–अनुवाद सहित, क्लेम द्वारा सम्पादित [ग्यूटरस्लोह, १८९५];

७. समविधान ब्राह्मण—बुर्नेल द्वारा सम्पादित [लन्दन, १८७३];—अनुवाद—कोनो कृत—[हाली, १८९३];

८. वंश ब्राह्मण—वेबर द्वारा सम्पादित—[इण्डिशे स्ट्यूडियेन—भाग–४, पृष्ठ ३७१······], तथा बुर्नेल द्वारा सम्पादित (मँगलोर, १८७३);

९. देवताध्याय ब्राह्मण (१८७३), आर्षेय ब्राह्मण (१८७६), संहितोपनिषद् ब्राह्मण (१८७७); } बुर्नेल द्वारा सम्पादित

१०. मन्त्रब्राह्मण—एस्० सामाश्रमी द्वारा सम्पादित [कलकत्ता, १८९०];

११. जैमिनीय बनाम तलवकार ब्राह्मण—अंशतः बुर्नेल द्वारा सम्पादित (१८७८) तथा अंशतः ओअरटेल द्वारा सम्पादित-अनुवाद तथा टिप्पणी सहित [जर्नल ऑव अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी—भाग १६, पृष्ठ ७९–२६०];

१२. तैत्तिरीय ब्राह्मण—आर्० मित्र द्वारा सम्पादित [१८५५–७०—बिब्लोथिका इण्डिका]; तथा, एन्० गोडबोले — [आनन्दाश्रम, सीरीज़, पूना १८९८];

१३. तैत्तिरीय आरण्यक—एच्० एन्० आप्टे द्वारा सम्पादित [आनन्दाश्रम सीरीज़, पूना, १८९८];

१४. **शतपथ ब्राह्मण**—वेबर द्वारा सम्पादित [बर्लिन–लन्दन, १८५९]; तथा अनुवाद—एगेलिंग कृत [सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट–५ भाग]।

१५. **गोपथ ब्राह्मण**—आर. मित्र तथा एच. विद्याभूषण द्वारा सम्पादित (बिब्लोथिका इण्डिका–१८७२);

पूर्ण विवरण—ब्लूमफील्ड सम्पादित 'अथर्ववेद' — पृ. १०१–१२४ तथा ब्यूहलर द्वारा सङ्कलित 'एन्सायक्लोपीडिया' — १८९९ ।

: २ :

सामान्यतः उपनिषदों पर परम उपादेय ग्रन्थ हैं —

१. डायसन कृत — दिए फ़िलॉसोफी देर उपनिषद्ज़ [लायपझ्गि, १८९९]।

२. अनेक उपनिषदों का अंग्रेज़ी अनुवाद — मेक्सम्यूलर सम्पादित [सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट—भाग १ और १५];

३. डॉयसन कृत 'सेक्ज़िग उपनिषद्'स्—उपादेय 'विषयप्रवेश' पूर्वक (जर्मन) अनुवाद [लायपझ्गि–१८९७];

४. अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ है—जेकब प्रणीत—'ए कॉङ्कॉर्डन्स टु द प्रिन्सिपल उपनिषद्स् एण्ड भगवद्गीता [बम्बई संस्कृत सीरीज़—१८९१]

पृ. २११ : "**३२ उपनिषद्स्**"—सटीक संस्करण—आनन्दाश्रम सीरीज़, पूना के अन्तर्गत प्रकाशित–१८९५;

ऐतरेय उपनिषद्—सम्पादक रोअर [बिब्लोथिका इण्डिका—१८५०]; तथा आनन्दाश्रम सीरीज़ संस्करण–१८८९;

कौषीतकी-ब्राह्मणोपनिषद्—सम्पादक कॉवेल [बिब्लोथिका इण्डिका—कलकत्ता, १८६१];

छान्दोग्योपनिषद्—बोहलिंग द्वारा सानुवाद सम्पादित [लायपझ्गि, १८८९]; तथा आनन्दाश्रम संस्करण–१८९० ।

पृ. २१४ : **केन (तलवकार) उपनिषद्**— रोअर द्वारा सम्पादित–[कलकत्ता–१८५०]; तथा आनन्दाश्रम संस्करण, पूना–१८८९;

मैत्र्युपनिषद्—कॉवेल द्वारा सम्पादित [बिब्लोथिका इण्डिका–१८७०];

श्वेताश्वतरोपनिषद्—सम्पादक रोअर [१८५०]; तथा आनन्दाश्रम, पूना संस्करण, १८९०;

काठकोपनिषद्—सम्पादक-रोअर, [१८५०]; तथा आनन्दाश्रम संस्करण—आप्टे रचित टीकासहित-१८८९; तथा जेकब द्वारा सम्पादित-१८९१;

तैत्तिरीयोपनिषद्—सम्पादक—रोअर [१८५०]; तथा आनन्दाश्रम सीरीज़ [१८८९];

बृहदारण्यकोपनिषद्—बोहलिंग द्वारा अनुवादसहित सम्पादित [लायपज़िग-१८८९] तथा आनन्दाश्रम सीरीज़, पूना [१८८१];

ईशोपनिषद्—आनन्दाश्रम संस्करण-[१८८८];

मुण्डकोपनिषद्—सम्पादक-रोअर [१८५०]; तथा आप्टे द्वारा सम्पादित [आनन्दाश्रम सीरीज़ १८८९];

प्रश्नोपनिषद्—आनन्दाश्रम संस्करण [१८८९]; तथा जेकब द्वारा सम्पादित—[१८९१];

माण्डूक्योपनिषद्—आनन्दाश्रम संस्करण [१८९०] तथा अंग्रेज़ी अनुवाद—टिप्पण सहित बम्बई [१८९५]; जेकब द्वारा सम्पादित [१८९१];

महानारायणोपनिषद्—सटीक—जेकब द्वारा सम्पादित [बम्बई संस्कृत सीरीज़, १८८८];

नृसिंहतापनीयोपनिषद्—आनन्दाश्रम संस्करण [१८९५]।

पृ. २२५ : शङ्कर तथा प्लेटो के विचारों का समानान्तरभाव वस्तुतः अत्युक्त है; कारण एक तो यह, कि प्लेटो द्वैतभान से अतीत न हो पाया था और दूसरा यह, कि वह केवल इतना ही सिद्धान्तित कर पाया कि 'भावात्मक सत्ता वस्तुतः पारमार्थिक सत्ता नहीं है।'

अध्याय ९

सामान्य सूत्र-साहित्य के अध्ययन के लिये देखें—हिलीब्राण्ट—'रिचुअल लिटरेचर'— [ब्यूहलर प्रणीत एन्सायक्लोपीडिया के अन्तर्गत—१८९७]।

: १ :

श्रौतसूत्र

१. **आश्वलायन श्रौतसूत्र**—आर्. विद्यारत्न द्वारा सम्पादित [बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता-१८६४-७४];

२. **शाङ्खायन श्रौतसूत्र**—हिलीब्राण्ट द्वारा सम्पादित [बिब्लोथिका इण्डिका-१८८५-९९];

३. **लाट्यायन श्रौतसूत्र**—ए. वागीश द्वारा सम्पादित [बिब्लोथिका इण्डिका—कलकत्ता—१८७०-७२];
४. **मशक**°—और **द्राह्यायण श्रौतसूत्र**—असम्पादित,
५. **कात्यायन श्रौतसूत्र**—वेबर द्वारा सम्पादित—[बर्लिन, लन्दन—१८५५];
६. **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र**—अंशतः हिलीब्राण्ट द्वारा सम्पादित [बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता–१८८२–९७]
७. **वैतानसूत्र**—गार्बे द्वारा सम्पादित [लन्दन, १८७८]; तथा गार्बे कृत अनुवाद [स्ट्रॉसबुर्ग–१८७८]।

: २ :

गृह्यसूत्र

१. **आश्वलायन गृह्यसूत्र**—स्टेन्ज़्लर द्वारा अनुवाद सहित सम्पादित [लायपज़िग --१८६४–६५]; तथा टीका एवं टिप्पणी सहित सम्पादित संस्करण [बम्बई—१८९५]; तथा–केवल अंग्रेज़ी अनुवाद [सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट' में प्रकाशित—भाग २९];
२. **शाङ्खायन गृह्यसूत्र**—ओल्डनबेर्ग द्वारा जर्मन अनुवाद सहित सम्पादित [इण्डिशे स्टूडियन, भाग १५]; तथा अंग्रेज़ी अनुवाद [सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, भाग २९];
३. **गोभिल गृह्यसूत्र**—सटीक—तर्कालङ्कार द्वारा सम्पादित [बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता १८८०]; तथा वेबर द्वारा सम्पादित संस्करण [दोरपत १८८९]; तथा अंग्रेज़ी अनुवाद [सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट—भाग ३०];
४. **पारस्कर गृह्यसूत्र**—स्टेन्ज़्लर द्वारा अनुवादसहित सम्पादित [लायपज़िग—१८७६]; तथा अंग्रेज़ी अनुवाद [सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, भाग २९];
५. **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र**—विण्टरनीज़ द्वारा सम्पादित [ह्वीयेना, १८८९]; तथा, अंग्रेज़ी अनुवाद [सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, भाग ३०];
६. **हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र**—किर्स्ते द्वारा सम्पादित [ह्वीयेना, १८८९]; तथा अङ्ग्रेज़ी अनुवाद [सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, भाग ३०];

७. **मन्त्रपाठ**—विन्टरनीज़ द्वारा सङ्कलित [ऑक्सफ़र्ड, १८९७];
८. **मानव गृह्यसूत्र**—नेवर द्वारा सम्पादित [लायपङ्ग‍िग, १८९७];
९. **कौशिक गृह्यसूत्र**—ब्लूमफ़ील्ड द्वारा सम्पादित [न्यू हेवन, १८९०];
१०. **पितृमेधसूत्र**—बोधायन रचित, हिरण्यकेशी—गोतमप्रणीत—केलण्ड द्वारा सम्पादित [लायपङ्ग‍िग—१८९६]।

: ३ :

धर्मसूत्र

१. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र**—ब्यूहलर द्वारा सम्पादित [बम्बई संस्कृत-सीरीज़-भाग १–२, १८९२ एवं १८९४];
२. **बोधायन धर्मसूत्र**—हुल्ट्स द्वारा सम्पादित [लायपङ्ग‍िग, १८८४];
३. **गौतम धर्मशास्त्र**—सम्पादक—स्टेन्झलर [लन्दन, १८७६];
४. **वाशिष्ठ धर्मशास्त्र**—सम्पादक—फ़िहरर्–[बम्बई, १८८३];
५. **हिरण्यकेशी धर्मसूत्र**—असम्पादित;
६. **वैखानस धर्मसूत्र**—ब्लॉक द्वारा विवृत [ह्वीयेना, १८९६];
७. **आपस्तम्ब°—गौतम°—वसिष्ठ°—बोधायन-धर्मसूत्र**—ब्यूहलर द्वारा अनूदित—[सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट, ऑक्सफ़र्ड, द्वितीय संस्करण-१८९७]।

: ४ :

प्रातिशाख्य

१. **ऋग्वेद प्रातिशाख्य**—मेक्स म्यूलर द्वारा जर्मन अनुवाद सहित सम्पादित [लायपङ्ग‍िग १८५६–१८६९] तथा उवट-कृत भाष्य सहित—[बनारस संस्करण, १८९४]
२. **ऋक्तन्त्र व्याकरण** (लाम. प्र.)—बुर्नेल द्वारा अनूदित [मङ्गलोर—१८७९];
३. **तैत्तिरीय प्रातिशाख्य**—ह्विटनी द्वारा सम्पादित [जर्नल ऑव दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, भाग, ९, १८७१];
४. **वाजसनेयि-प्रातिशाख्य**—उवटभाष्य सहित [बनारस संस्कृत सीरीज़, १८८८];

५. **अथर्ववेद प्रातिशाख्य**—ह्विटनी द्वारा सम्पादित [जर्नल ऑव दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, भाग ७ और १०]।

: ५ :

विविध

१. **शुल्वसूत्र**—बोधायन प्रणीत—थिबो द्वारा अनुवाद सहित सम्पादित [दी पण्डित—भाग ९]; तुलना—थिबो का शुल्वसूत्र पर लेख [जर्नल ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बङ्गाल, भाग ४४—कलकत्ता १८७५]।

२. **षड्वेदाङ्ग**—संस्कृत मूलमात्र [बम्बई—१८९२]।

३. **निरुक्त**—यास्क प्रणीत — आर. रोट द्वारा सम्पादित [गेटिंगन—१८५२]; सटीक संस्करण—एस. सामाश्रमी द्वारा सम्पादित [बिब्लोथिका इण्डिका]।

४. **सर्वानुक्रमणी**—मैक्डोनल द्वारा सम्पादित [ऑक्सफ़र्ड १८८६]—अनुवाकानुक्रमणी तथा षड्गुरुशिष्य-कृत भाष्य सहित।

५. **आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, बृहद्देवता**—सम्पादक—आर्. मित्र, १८९२ [बिब्लोथिका इण्डिका]।

६. **पिङ्गल छन्दःसूत्र**—[बिब्लोथिका इण्डिका संस्करण, १८७८]; तथा वेवर सम्पादित 'इण्डिशे स्टूडियन'—भाग ८ (जो सामान्यतः संस्कृत छन्दों के प्रतिपादन के कारण एक महत्त्व का ग्रन्थ है)।

७. **निदानसूत्र**—अंशतः सम्पादित [वही पूर्वोक्त)।

८. **सर्वानुक्रमसूत्र** (शुक्ल यजुर्वेदीय)—वेबर द्वारा स्वसम्पादित यजुर्वेद के संस्करण में संगृहीत; तथा सटीक बनारस संस्कृत सीरीज़ १८९३–९४।

९. **चरणव्यूह**—वेबर द्वारा सम्पादित—इण्डीशे स्ट्यूडियन, भाग २।

१०. 'माधव' के सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिये देखें —
क्लेम्म्–'**गुरुपूजाकौमुदी**'—[लायपज़िग—१८९६]

—०○○—

परिशिष्ट [ख]

उद्धरण-सूची

परिशिष्ट [ग]

मुख्य-तिथि-क्रम

४००० वर्ष ईसा-पूर्व — आचार्य याकोबी के अनुसार वैदिक संहिता का रचना काल।

ईसा-पूर्व ३००० वेद का रचना काल — भारतीय मत।

ईसा-पूर्व १५०० — सम्भवतः भारतीय शाखा का इरानी शाखा से पृथक्-भाव (अनुमानित काल)।

ईसा-पूर्व १५००–२०० ईसा-पूर्व — संस्कृत साहित्य का वैदिक युग।

१२०० ईसा-पूर्व — लगभग—तब से भारतीय रूढ़ियों का अव्याहत गति से विकास।

१२०० ईसा-पूर्व — मैक्स म्यूलर के अनुसार वैदिक संहिता का रचनाकाल।

११०० ईसा-पूर्व — से गीतिकाव्य की परम्परा उपलब्ध।

ईसा-पूर्व १००० वर्ष से वैदिक परम्परा का सार भाग ऋग्वेद में निश्चित एवं मौलिक पाठ के रूप में ज्यों का त्यों मिल रहा है।

८००–५०० ईसा-पूर्व — ब्राह्मण ग्रन्थ का काल।

८९० ईसा-पूर्व — ब्राह्मी लिपि का प्रादुर्भाव काल [ब्यूह्लर]।

८०० ईसा-पूर्व–लगभग — मेसापोटामिया मार्ग से भारत आये हुए यात्रियों द्वारा ब्राह्मी लिपि का प्रवर्तन [ब्यूह्लर]।

ईसा-पूर्व ८००–२००तक — सूत्र साहित्य के विकास का काल।

ईसा-पूर्व ६०० — संहिता-पाठ की रचना।

ईसा-पूर्व ६०० से अर्वाचीन — सर्व प्राचीन उपनिषद् नहीं बताया जा सकता है।

६ वीं शताब्दी ईसापूर्व से उत्कीर्ण लेखों की भाषा संस्कृत जिसमें प्राकृत रूपों का प्रवेश।

ईसा-पूर्व ५००–२०० — सूत्र का काल।

ईसा-पूर्व ५०० से परवर्ती — गौतम-धर्मसूत्र का रचनाकाल नहीं कहा जा सकता।

५०० ईसा-पूर्व — सिमेटिक लिपि के आरमाइक स्वरूप का प्रचलन, जिसके आदर्श पर खरोष्ठी लिपि का प्रादुर्भाव।

ईसा-पूर्व ५०० — द्वितीय वैदिक स्तर के निर्माण की निम्न सीमा।

४८० ईसा-पूर्व — बुद्ध के महानिर्वाण की तिथि।

४००–२०० ईसा-पूर्व — खरोष्ठी लिपि का प्रचलन।

४ थी शताब्दी ईसा-पूर्व — भारत में स्याही के प्रयोग का प्रचलन (नेयरकॉस और क्विन्टस् कर्टियस के अनुसार)।

४ थी शताब्दी ईसा-पूर्व — ग्रीक लोगों द्वारा वायव्य दिशा की ओर से भारतीयों पर आक्रमण।

३९९ ईसा-पूर्व — फ़ायहान की भारत यात्रा।

३२६ ईसा-पूर्व — भारत पर सिकन्दर का आक्रमण।

३०० ईसा-पूर्व — मेगस्थनीज़ की भारत में आकर पाटलिपुत्र के दरबार में स्थिति।

३०० ईसा-पूर्व — के शिलालेखों में ब्राह्मी-लिपि के दो भेद — दाक्षिणात्य और औत्तरीय।

३ री शताब्दी ईसा-पूर्व — पाली भाषा का प्रादुर्भाव काल और उसका लंका में प्रचलन।

३ री शताब्दी ईसा-पूर्व तक — संकर संस्कृत भाषा का प्रयोग : नासिक के शिलालेख के आधार पर अनुमानित।

३ री शताब्दी ईसा-पूर्व के पश्चात् लौकिक संस्कृत साहित्य के युग का प्रारम्भ।

२५१–२२२ ईसा-पूर्व — महाराज अशोक का शासनकाल; इसी समय तीसरी बौद्ध महासभा।

२ री शताब्दी ईसा-पूर्व — समस्त आर्यावर्त में संस्कृत बोलचाल की भाषा।

२ री शताब्दी ईसा-पूर्व — से भारत में स्याही का प्रयोग।

२ री शताब्दी ईसा-पूर्व — लौकिक संस्कृत के व्यवहार का प्रारम्भ।

१ ली शताब्दी ईसा-पूर्व — का प्राचीनतम उत्कीर्ण-ताम्रपत्र उपलब्ध।

१ ली शताब्दी के प्रारम्भ में सम्भवतः कापिष्ठल एवं मैत्रायणीय शाखा के अनुयायी भारतवर्ष में चारों ओर फैले हुए होंगे।

१ ली शताब्दी ईसा-पूर्व से ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ — इस बीच मध्ययुगीन प्राकृत का चार मुख्य भाषाओं में रूपान्तरण; अपभ्रंश का उद्गम।

ई० सन् २००–४०० — सम्पूर्ण रोम राज्य में मित्र अथवा उसके पारसी पर्याय-'मिथ्र' का प्रसार।

५ वीं शताब्दी ई० का भूर्जपत्र पर लिखित सर्व प्राचीन ग्रन्थ।

५ वीं शताब्दी ई० तक संस्कृत युग में भी साहित्यिक रचनाओं का तिथि-निर्णय बाह्य साक्ष्य पर आधारित।

६०० ई० तक का ताड़पत्र पर लिखित संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध ।

सन् ६२० ई० — बाणभट्ट का समय, जिनके पास पाण्डुलिपि-वाचक रहता था ।

सन् ६३०-६४५ ई० — ह्वेन सांग की भारत यात्रा ।

सन् ६७१-६९५ ई० — इत्सिंग की भारत यात्रा ।

७ वीं शताब्दी ई० — बौद्धों के मौखिक शास्त्रार्थों में भी संस्कृत का प्रयोग । (ह्वेन सांग)

७ वीं शताब्दी ई० तक — सारे भारत में ताड़पत्र का प्रयोग । (ह्वेन सांग)

सन् ७०० ई० — कुमारिल का काल, तथा कुमारिलकृत कारिका का रचनाकाल ।

८ वीं शताब्दी ई० — सबसे प्राचीन नागरी लिपि में उत्कीर्ण लेख ।

सन् १००० ई० से — भारतीय आधुनिक जन-भाषाओं का विकास ।

ई० सन् १००० के पश्चात् — मुसलमानों का भारत पर आक्रमण, साथ ही साथ वैदिक साहित्य के अन्तिम अंकुर, संस्कृत साहित्य के द्वितीय युग का आरम्भ ।

सन् १०३० ई० — अलबेरुनी द्वारा **'हिन्दुस्तान'** नामक ग्रन्थ की रचना ।

११ वीं शताब्दी ई० — धारेश्वर भोजराज का सुविख्यात ग्रन्थागार ।

११ वीं शताब्दी ई० की — नागरी अक्षरों में उपलब्ध सर्व प्राचीन पाण्डुलिपि ।

११ वीं शताब्दी ई० से — ब्राह्मण-धर्म का दक्षिण तक प्रसार ।

१३ वीं शताब्दी ई० का — कागज़ पर लिखित ग्रन्थ, गुजरात में उपलब्ध ।

सन् १३५०-७० ई० — सायण का सकल कार्य महाराज बुक्क के दरबार में हुआ ।

सन् १३७९-९९ ई० — महाराज बुक्क के उत्तराधिकारी हरिहर का काल । सायण इनके मन्त्री थे ।

सन् १३८७ ई० — सायण का देहावसान ।

१४ वीं शताब्दी ई० (पूर्व-भाग) — मुसलमानी बादशाहों की अधीनता के बन्धन तोड़कर विजयानगरम् राज्य की स्थापना ।

१४ वीं शताब्दी ई० (उत्तरार्द्ध) — वैदिक साहित्य के विद्वान् श्री सायणाचार्य दक्षिण भारत के अन्तर्गत विजयनगर में रहते थे ।

१६ वीं शताब्दी ई० — यूरोप में संस्कृत भाषा से पादरियों का परिचय एवं अध्ययन ।

सन् १६५१ ई० — अब्राहम रोगर द्वारा भर्तृहरि का डच भाषा में अनुवाद ।

१७ वीं शताब्दी ई० में **इज़ूरवेदम्** की रचना ।

१७ वीं शताब्दी ई० का अन्त — ड्यूगल्ड स्टीवर्ट का निबन्ध, जिसमें संस्कृत भाषा की अवास्तविकता प्रदर्शित की है ।

सन् १७४६–९४ ई० — सर विलियम जोन्स का कार्यकाल।

सन् १७६३–१८३७ ई० — हेनरी टॉमस कोलब्रुक का कार्यकाल।

सन् १७६५–१८२४ ई० — अलेक्झेण्डर हेमिल्टन का काल।

सन् १७७६ ई० — वारन हेस्टिंग्ज़ की प्रेरणा से धर्मशास्त्रीय एक संस्कृत निबन्ध की रचना, और उसका फ़ारसी माध्यम से अंग्रेज़ी रूपान्तर का प्रकाशन।

सन् १७८४ ई० — रॉयल एशियाटिक सोसाईटी की बंगाल शाखा स्थापित।

सन् १७८५ ई० — चार्ल्स विल्किन्स द्वारा **भगवद्गीता** का अंग्रेज़ी अनुवाद।

सन् १७८७ ई० — में विल्किन्स द्वारा **हितोपदेश** का अंग्रेज़ी अनुवाद।

सन् १७९२ ई० — **ऋतुसंहार** का जोन्स द्वारा अनुवाद प्रकाशित।

सन् १७९८ ई० — विलियम जोन्स द्वारा **शकुन्तला** नाटक का अनुवाद प्रकाशित।

१८ वीं शताब्दी ई० (उत्तरार्ध) — संस्कृत साहित्य की खोज।

१८ वीं शताब्दी ई० तक यूरप में संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में प्रामाणिक ज्ञान का अभाव।

सन् १८०२ ई० — में अलेक्ज़ेण्डर हेमिल्टन भारत से लौटते हुए फ़्रांस पहुँचे, जहाँ वह नेपोलियन के आदेश से बन्दी किये गये, और कारागार में उन्होंने फ़्रांसिसी विद्वानों को संस्कृत भाषा सिखायी।

सन् १८०५ ई० — कोलब्रुक द्वारा **'वेदों पर'** नामक निबन्ध की रचना।

सन् १८०८ ई० — फ़्रेडरिक श्लेगल द्वारा **'भारतियों का भाषा विज्ञान'** ग्रन्थ का प्रकाशन।

सन् १८१६ ई० — फ़्रॉन्ज़ बॉप द्वारा संस्कृत **शब्दरूप-पद्धति** पर तुलनात्मक ग्रन्थ की रचना।

सन् १८३० ई० — एफ़्-रोज़न द्वारा ईस्ट इण्डिया हाउस में संगृहीत पाण्डुलिपियों द्वारा यूरप-वासियों को भारतीय साहित्य से अभिज्ञ कराने की योजना।

सन् १८३८–९५ ई० — रुडॉफ़ रॉथ (रोट) का कार्यकाल।

सन् १८३८ ई० — ऋग्वेद के प्रथमाष्टक का संस्करण प्रकाशित।

सन् १८३८ ई० — डब्लिन् के एक आचार्य द्वारा ड्यूगल्ड स्टीवर्ट के अभिप्राय का समर्थन।

सन् १८४२ ई० — स्टीवन्सन पादरी द्वारा **राणायणीय संहिता** का सर्वप्रथम संस्करण प्रकाशित।

सन् १८४६ ई० — रुडॉफ़ रॉथ (रोट) द्वारा निर्मित **'वैदिक साहित्य एवं इतिहास'** नामक ग्रन्थ की रचना।

सन् १८४८ ई० के लगभग — भारतीय लिपि स्वरूप के अध्ययन का उपक्रम।

सन् १८४८ ई० — बेनफ़ी द्वारा **राणायणीय संहिता** का प्रकाशन, जिसमें जर्मन अनुवाद तथा शब्दार्थकोश भी है।

सन् १८४९-५२ ई० — आचार्य वेबर द्वारा **शुक्ल यजुर्वेद** की दोनों शाखाओं की संहिता का सम्पादन।

सन् १८५० ई० में — हेनरी विल्सन ने ऋग्वेद का अनुवाद प्रारम्भ किया।

सन् १८५२-१८७५ ई० — रॉथ (रोट) और बोह्‌लिंक कृत **'संस्कृत शब्दकोश'** का प्रकाशन।

सन् १८५६ ई० — रोअर एवं ह्विटर्नी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ, **अथर्ववेद की शौनक शाखा** की संहिता है।

सन् १८६८ ई० — **कौथुमी शाखा** का सातवाँ प्रपाठक छपा था।

सन् १८७१-७२ ई० — आचार्य वेबर द्वारा **तैत्तिरीय संहिता** का सम्पादन।

सन् १८७५ ई० — **पिप्पलाद शाखा** की संहिता का परिचयात्मक विवरण आचार्य रॉथ (रोट) ने **'देर अथर्ववेद इन कारमीर'** नामक पुस्तिका में प्रकाशित किया।

सन् १८८१-८६ ई० — आचार्य श्रेडर द्वारा **मैत्रायणीय संहिता** का सम्पादन।

सन् १८९६ ई० — अशोक द्वारा स्थापित स्तम्भ की उपलब्धि, जिस पर बुद्ध की जन्मभूमि के स्मारक उत्कीर्ण लेख की विद्यमानता।

सन् १८९६ ई० (दिसम्बर) — बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु की खोज।

सन् १८९८ ई० (एप्रिल) — वियेना-वासी आचार्य ब्यूह्‌लर का निधन।

१९ वीं शताब्दी ई० का प्रारम्भ — संस्कृत के एक महान् शब्दकोश का रॉथ (रोट) द्वारा संकलन।

२० वीं शताब्दी ई० का प्रारम्भ — आचार्य किलहॉर्न द्वारा **आर्य-पुरातत्त्व-महाकोश** का सङ्कलन सम्पूर्ण किया गया, जिसका प्रारम्भ आचार्य ब्यूह्‌लर ने किया था।

२० वीं शताब्दी ई० — एडलबर्ट कुह्‌न एवं मैक्स म्यूलर के द्वारा **तुलनात्मक प्राचीन कथा-विज्ञान** का प्रसार।

परिशिष्ट [घ]

विषयनिर्देशिनी